☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्रीदेवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्रीरतनमुनि
पण्डित श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्रीविनयकुमार 'भीम'
श्रीमहेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ अर्थसहयोगी
श्रीमान् कँवरलालजी बैताला, नागौर

☐ प्रकाशनतिथि
वीर निर्वाण संवत् २५०८
वैशाख, वि. सं. २०३९, ई. सन् १९८२ अप्रैल

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन ३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय, केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

संशोधित परिवर्धित मूल्य

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled
Second Anga

SŪTRAKṚTĀṄGA

[Part II]

[Original, Text, with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
Up-pravartaka Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor
Sri Vardhamana Sthanakvasi Jain Sramana Sanghiya Yuvacharya
Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor, Translator & Annotator
Srichand Surana 'Saras'

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

☐ **Chief Editors**
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Munisri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**
Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Financial Assistance**
Sri Kanwarlalji Betala, Nagaur

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [INDIA]
Pin 305901

☐ **Printer**
Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer—305001

☐ **Price** Rs. 25/-

[illegible]

समर्पण

'अप्पमत्ते सदा जये' की आगम वाणी
जिनके जीवन में प्रतिपद चरितार्थ हुई,
जो दृढसंकल्प के धनी थे,
जो उच्चकोटि के साधक थे,
विरक्ति की प्रतिमूर्ति थे,
कवि-मनीषी आप्तवाणी के
अनन्यतमश्रद्धालु तथा उपदेशक थे,
उन
स्व० आचार्यप्रवर श्री जयमल जी महाराज की
पावन-स्मृति में,
सादर, सविनय समर्पित,

—युवाचार्य मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

सूत्रकृतांग सूत्र का द्वितीय भाग पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हमें परम सन्तोष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। उनमें से प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रकाशित हो चुका है! अब यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रबुद्ध पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है।

इसके पूर्व स्थानांग सूत्र मुद्रित हो चुका है और समवायांग का मुद्रण समाप्ति के निकट है। हमारा संकल्प है, अनुचित शीघ्रता से बचते हुए भी यथासंभव शीघ्र से शीघ्र सम्पूर्ण बत्तीसी पाठकों को सुलभ करा दी जाए।

समग्र देश में और विशेषतः राजस्थान में जो विद्युत-संकट चल रहा है, उसके कारण मुद्रणकार्य में भी व्याघात उत्पन्न हो रहा है, इस संकट के आंशिक प्रतीकार के लिए अजमेर और आगरा—दो स्थानों पर मुद्रण की व्यवस्था करनी पड़ी है। यह सब होते हुए भी जिस वेग के साथ काम हो रहा है, उससे आशा है, हमारे शास्त्र-प्रेमी पाठक और ग्राहक अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे।

श्रमणसंघ के युवाचार्य पण्डितप्रवर श्रीमधुकर मुनिजी महाराज के श्री चरणों में कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए किन शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनकी श्रुतप्रीति एवं शासन-प्रभावना की प्रखर भावना की बदौलत ही हमें श्रुत-सेवा का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

साहित्यवाचस्पति विश्रुत विबुध श्री देवेन्द्र मुनिजी म० शास्त्री ने समिति द्वारा पूर्व प्रकाशित आगमों की भाँति प्रस्तुत आगम की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखने का दायित्व लिया था, किन्तु स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण यह सम्भव नहीं हो सका, तथा हमारे अनुरोध पर पंडितरत्न श्रीविजय मुनिजी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है, तदर्थ हम विनम्र भाव से मुनिश्री के प्रति आभारी हैं। प्रस्तावना प्रथम भाग में प्रकाशित की जा चुकी है। पाठक वहीं उसे देखें।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीमान् श्रीचन्दजी सुराणा ने इस आगम का सम्पादन एवं अनुवाद किया है। पूज्य युवाचार्यश्री जी ने तथा पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अनुवाद आदि का अवलोकन किया है। तत्पश्चात् मुद्रणार्थ प्रेस में दिया गया है। तथापि कहीं कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो विद्वान् पाठक कृपा कर सूचित करें जिससे अगले संस्करण में संशोधन किया जा सके।

हमारी हार्दिक कामना है कि जिस श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर आगम प्रकाशन समिति आगमों का प्रकाशन कर रही है उसी भावना से समाज के आगमप्रेमी बन्धु इनके अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार में उत्साह दिखलाएँगे जिससे समिति का लक्ष्य सिद्ध हो सके।

अन्त में हम उन सब अर्थसहायकों एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिनके मूल्यवान् सहयोग से ही हम अपने कर्त्तव्य पालन में सफल हो सके हैं।

रतनचंद मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

चांदमल विनायकिया
मन्त्री

जतनराज मूथा
महामन्त्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

श्रीमान् सेठ कँवरलालजी बेताला : एक परिचय

श्री आगम प्रकाशन समिति के विशिष्ट सहयोगी एवं आगम प्रकाशन के कार्य की नींव रखने वालों में प्रमुख, धर्मप्रेमी, उदारहृदय एवं सरल स्वभावी श्रीमान् कँवरलालजी सा. बेताला मूलतः डेह एवं नागौर निवासी हैं। आप श्रीमान् पूनमचन्दजी बेताला के सुपुत्र हैं। आपकी मातुश्री का नाम राजीबाई है। आप पाँच भाई हैं जिनमें आपका चौथा स्थान है। सभी भाई अच्छे व्यवसायी हैं।

आपका जन्म वि. सं. १९८० में डेह में हुआ। वहीं प्रारम्भिक अध्ययन हुआ। आप बारह वर्ष की अल्पायु में ही अपने पिताजी के साथ आसाम चले गये थे। वहाँ व्यवसाय में लग गये और अपनी सहज प्रतिभा से निरन्तर प्रगति कर आगे से आगे बढ़ते गये। आज गोहाटी में आपका विस्तृत फाइनेन्स का व्यवसाय है। आप साहसी व्यवसायी है। हमेशा दूरन्देशी से कार्य करते हैं। फलस्वरूप आपको हमेशा सफलता मिली है। आप अपने श्रम से उपार्जित धन का खुले दिल से सामाजिक संस्थाओं के लिये एवं धार्मिक कार्यों में उपयोग करते हैं। मुक्त हस्त से दान देते हैं।

आप सन्तों की अत्यन्त भक्तिभाव से सेवा करते हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती विदामबाई भी उदारमना महिला हैं। वे भी सन्त सतियों के प्रति श्रद्धावान हैं व उनकी विश्वासभाजन हैं। दोनों श्रद्धालु एवं धर्मपरायण हैं।

स्व. स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज सा. के श्रद्धालु श्रावकों में आप प्रमुख रहे हैं। उसी तरह शासन-सेवी श्री ब्रजलालजी महाराज एवं युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. सा. के भी आप परम भक्त हैं।

आप अपनी जन्मभूमि की अनेक संस्थाओं के लिये व अन्य सेवा-कार्यों में अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं।

श्री स्थानकवासी जैन संघ गौहाटी के आप अध्यक्ष हैं। भारत जैन महामंडल के संरक्षक एवं आसाम प्रान्त के संयोजक हैं। मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के अध्यक्ष रह चुके हैं। श्री आगम-प्रकाशन-समिति के आप उपाध्यक्ष है।

आपके सुपुत्र श्री धर्मचन्दजी भी बड़े उत्साही व धार्मिक रुचि के युवक हैं। आपके दो पुत्रियाँ श्रीमती कान्ता एवं मान्ता तथा पौत्र महेश व मुकेश भी अच्छे संस्कारशील हैं।

आपका वर्तमान पता:—

ज्ञानचन्द धर्मचन्द बेताला

ए. टी. रोड़, गौहाटी (आसाम) है।

आपने इस सूत्र के प्रकाशन में विशिष्ट अर्थ सहयोग प्रदान कर हमें उत्साहित किया है। आशा है भविष्य में भी समिति को आपकी ओर से इसी प्रकार सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

☐ मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति

ब्यावर (राज०)

सम्पादकीय

आचारांग सूत्र का सम्पादन करते समय यह अनुभव होता था कि यह आगम आचार-प्रधान होते हुए भी इसकी वचनावली में दर्शन की अतल गहराइयाँ व चिन्तन की असीमता छिपी हुई है। छोटे-छोटे आर्ष-वचनों में द्रष्टा की असीम अनुभूति का स्पन्दन तथा ध्यान-योग की आत्म-संवेदना का गहरा 'नाद' उनमें गुंजायमान है, जिसे सुनने-समझने के लिए 'साधक' की भूमिका अत्यन्त अपेक्षित है। वह अपेक्षा कब पूरी होगी, नहीं कह सकता, पर लगे हाथ आचारांग के बाद द्वितीय अंग—सूत्रकृतांग के पारायण में, मैं लग गया।

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्य-शैली में सूत्र-प्रधान है, द्वितीय गद्य-शैली में वर्णन प्रधान है।

सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारांग की शैली का पूर्ण नहीं तो बहुलांश में अनुसरण करता है। उसके आचार में दर्शन था तो इसके दर्शन में 'आचार' है। विचार की भूमिका का परिष्कार करते हुए आचार की भूमिका पर आसीन करना सूत्रकृतांग का मूल स्वर है—ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।

'सूत्रकृत' नाम ही अपने आप में गंभीर अर्थसूचना लिये है। आर्य सुधर्मा के अनुसार यह स्व-समय (स्व-सिद्धान्त) और पर-समय (पर-सिद्धान्त) की सूचना (सत्यासत्य-दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[१] नन्दीसूत्र (मूल-हरिभद्रीयवृत्ति एवं चूर्णि) का आशय है कि यह आगम स-सूत्र (धागे वाली सूई) की भांति लोक एवं आत्मा आदि तत्वों का अनुसंधान कराने वाला (अनुसंधान में सहायक) शास्त्र है।[२]

श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसके विविध अर्थों पर चिन्तन करके शब्द शास्त्र की दृष्टि से इसे—**श्रुत्वा कृतं = 'सूतकडं'** कहा है—अर्थात् तीर्थंकर प्रभु की वाणी से सुनकर फिर इस चिन्तन को गणधरों ने ग्रन्थ का, शास्त्र का रूप प्रदान किया है। भाव की दृष्टि से यह **सूचनाकृत—'सूतकडं'**—अर्थात्—निर्वाण या मोक्षमार्ग की सूचना-अनुसन्धान कराने वाला है।[३]

'सूतकडं' शब्द से जो गंभीर भाव-बोध होता है वह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि सम्पूर्ण आगम का सार सिर्फ चार शब्दों में सन्निहित माना जा सकता है। सूत्रकृतांग की पहली गाथा भी इसी भाव का बोध करती है।

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टेज्जा—समझो, और तोड़ो (क्या)
बन्धणं परिजाणिया—बंधन को जानकर।
किमाह बन्धणं वीरो—भगवान् ने बन्धन किसे बताया है?
किं वा जाणं तिउट्टइ—और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है?[४]

---

१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति—समवायांग सूत्र
२. नन्दीसूत्र मूल वृत्ति पृ० ७७, चूर्णि पृ० ६३.
३. देखिए निर्युक्ति-गाथा १८, १९, २० तथा उनकी शीलांकवृत्ति
४. सूत्रकृतांग गाथा १

इस एक ही गाथा में सूत्रकृत का संपूर्ण तत्वचिन्तन समाविष्ट हो गया है। दर्शन और धर्म, विचार और आचार यहाँ अपनी सम्पूर्ण सचेतनता और सम्पूर्ण क्रियाशीलता के साथ एकासनासीन हो गये हैं।

दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है—जीव और जगत् के विषय में विचार एवं विवेचना करना। भारतीय दर्शनों का; चाहे वे वैदिक दर्शन (सांख्य-योग, वैशेषिक-न्याय, मीमांसा और वेदान्त) हैं या अवैदिक दर्शन (जैन, बौद्ध, चार्वाक्) है, मुख्य आधार तीन तत्व हैं—

१. आत्म-स्वरूप की विचारणा
२. ईश्वर सत्ता विषयक धारणा
३. लोक-सत्ता (जगत् स्वरूप) की विचारणा

जब आत्म-स्वरूप की विचारणा होती है तो आत्मा के दुःख-सुख, वन्धन-मुक्ति की विचारणा अवश्य होती है। आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? परतन्त्र है तो क्यों ? किसके अधीन ? कर्म या ईश्वर ? आत्मा जहाँ, जिस लोक में है उस लोक-सत्ता का संचालन/नियमन/व्यवस्था कैसे चलती है ? इस प्रकार आत्मा (जीव) और लोक (जगत्) के साथ ईश्वरसत्ता पर भी स्वयं विचार-चर्चा केन्द्रित हो जाती है और इन तत्वों की चिन्तना/चर्चा करना ही दर्शनशास्त्र का प्रयोजन है।

धर्म का क्षेत्र—दर्शन शास्त्र द्वारा विवेचित तत्त्वों पर आचरण करना है। आत्मा दुःख-सुख, वन्धन-मुक्ति के कारणों की खोज दर्शन करता है, पर उन कारणों पर विचार कर दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना धर्मक्षेत्र का कार्य है। आत्मा के वन्धन कारक तत्वों पर विवेचन करना दर्शनशास्त्र की सीमा में है और फिर उन बन्धनों से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना धर्म की सीमा में आ जाता है।

अब मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत् की सबसे पहली गाथा, आदि वचन, जिसमें आगमकार अपने समग्र प्रतिपाद्य का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं—दर्शन और धर्म का संगम-स्थल है। वन्धन के कारणों की समग्र परिचर्चा के बाद या इसी के साथ-साथ वन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया, पद्धति और साधना पर विशद चिन्तन प्रस्तुत करने का संकल्प पहले ही पद में व्यक्त हो गया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकृत् का सम्पूर्ण कलेवर अर्थात् लगभग ३६ हजार पद परिमाण विस्तार, पहली गाथा का ही महाभाष्य है। इस दृष्टि से मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत् न केवल-जैन तत्वदर्शन का सूचक शास्त्र है, वल्कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला मोक्ष-शास्त्र है। आस्तिक या आत्मवादी दर्शनों के चरम विन्दु-मोक्ष/निर्वाण/परम पद का स्वरूप एवं सिद्धि का उपाय वताने वाला आगम है—सूत्रकृत्।

सूत्रकृत् के सम्वन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक पं० श्रीविजय मुनिजी म० ने प्रस्तावना में लिखा है, अतः यहाँ अधिक नहीं कहना चाहता, किन्तु सूचना मात्र के लिए यह कहना चाहता हूँ कि इसके प्रथम 'समय' अध्ययन, वारहवें 'समवसरण'; द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन 'पुण्डरीक' में अन्य मतों, दर्शन एवं उनकी मान्यताओं की स्फुट चर्चा है, उनकी युक्तिरहित अयथार्थ मान्यताओं की सूचना तथा निरसन भी इसी हेतु से किया गया है कि वे मिथ्या व अयथार्थ धारणाएँ भी मन व मस्तिष्क का वन्धन हैं। अज्ञान वहुत बड़ा वन्धन है। मिथ्यात्व की वेड़ी सबसे भयानक है, अतः उसे समझना और फिर तोड़ना तभी संभव है जब उसका यथार्थ परिज्ञान हो। साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध देने हेतु ही शास्त्रकार ने विना किसी धर्म-गुरु या मतप्रवर्तक का नाम लिए सिर्फ उनके सिद्धान्तों की युक्ति-रहितता वताने का प्रयास किया है।

सूत्रकृत में वर्णित पर-सिद्धान्त आज भी दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्त, सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय, संयुक्त निकाय, महाभारत तथा अनेक उपनिषदों में विकीर्ण रूप से विद्यमान हैं, जिससे २५०० वर्ष पूर्व की उस दार्शनिक चर्चा का पता चलता है। यद्यपि २५०० वर्ष के दीर्घ अन्तराल में भारतीय दर्शनों की विचारधाराओं में, सिद्धान्तों में भी कालक्रमानुसारी परिवर्तन व कई मोड़ आये हैं, आजीवक जैसे व्यापक सम्प्रदाय तो लुप्त भी हो गये हैं, फिर भी आत्म-अकर्तृत्ववादी सांख्य, कर्मचयवादी बौद्ध, पंच महाभूतवादी-चार्वाक् (नास्तिक) आदि दर्शनों की सत्ता आज भी है। सुखवाद एवं अज्ञानवाद के बीज पाश्चात्य दर्शन में महासुखवाद, अज्ञेयवाद एवं संशयवाद के रूप में आज परिलक्षित होते हैं। इन दर्शनों की आज प्रासंगिकता कितनी है यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है, पर मिथ्याधारणाओं के बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य तो सर्वत्र सर्वदा प्रासंगिक रहा है, आज के युग में भी चिन्तन की सर्वांगता और सत्यानुगामिता, साथ ही पूर्वग्रहमुक्तता नितान्त आपेक्षिक है। सूत्रकृत का लक्ष्य भी मुक्ति तथा साधना की सम्यक्-पद्धति है। इसलिए इसका अनुशीलन-परिशीलन आज भी उतना ही उपयोगी तथा प्रासंगिक है।

सूत्रकृत का प्रथम श्रुतस्कंध पद्यमय है, (१५वाँ अध्ययन भी गद्य-गीति समुद्र छन्द में है) इसकी गाथाएं बहुत सारपूर्ण सुभाषित जैसी हैं। कहीं-कहीं तो एक गाथा के चार पद, चारों ही चार सुभाषित जैसे लगते हैं। गाथाओं की शब्दावली बड़ी सशक्त, अर्थपूर्ण तथा श्रुति-मधुर है। कुछ सुभाषित तो ऐसे लगते हैं मानों गागर में सागर ही भर दिया है।

जैसे :

मा पच्छा असाहुया भवे —	**सूत्रांक १४९**
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं	**३७४**
आहंसु विज्जा-चरणं पमोक्खो	**५४५**
जे छेए विप्पमायं न कुज्जा	**५८०**
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा	**५४९**

अगर स्वाध्यायी साधक इन श्रुत वाक्यों को कण्ठस्थ कर इन पर चिन्तन-मनन-आचरण करता रहे तो जीवन में एक नया प्रकाश, नया विकास और नया विश्वास स्वतः आने लगेगा।

प्रस्तुत आगम में पर-दर्शनों के लिए कहीं-कहीं **'मंदा, मूढा "तमाओ ते तमं जंति"** जैसी कठोर प्रतीत होने वाली शब्दावली का प्रयोग कुछ जिज्ञासुओं को खटकता है। आर्ष-वाणी में रूक्ष या आक्षेपात्मक प्रयोग नहीं होने चाहिए ऐसा उनका मन्तव्य है, पर वास्तविकता में जाने पर यह आक्षेप उचित नहीं लगता। क्योंकि ये शब्द-प्रयोग किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति नहीं हैं, किन्तु उन मूढ़ या अहितकर धारणाओं के प्रति हैं, जिनके चक्कर में फंसकर प्राणी सत्य-श्रद्धा व सत्य-आचार से पतित हो सकता है। असत्य की भर्त्सना और असत्य के कटु-परिणान को जताने के लिए शास्त्रकार बड़ी दृढता के साथ साधक को चेताते हैं। ज्वरार्त के लिए कटु औषधि के समान कटु प्रतीत होने वाले शब्द कहीं-कहीं अनिवार्य भी होते हैं। फिर आज के सभ्य युग में जिन शब्दों को कटु माना जाता है, वे शब्द उस युग में आम भाषा में सहजतया प्रयुक्त होते थे ऐसा भी लगता है, अतः उन शब्दों की संयोजना के प्रति शास्त्रकार की सहज-सत्य-निष्ठा के अतिरिक्त अन्यथा कुछ नहीं है।

सूत्रकृत में दर्शन के साथ जीवन-व्यवहार का उच्च आदर्श भी प्रस्तुत हुआ है। कपट, अहंकार, जातिमद, ज्ञानमद आदि पर भी कठोर प्रहार किये गये हैं। और सरल-सात्विक जीवन-दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणाएँ दी हैं। कुल मिलाकर इसे गृहस्थ और श्रमण के लिए मुक्ति का मार्गदर्शक शास्त्र कहा जा सकता है।

द्वितीय श्रुतस्कंध के विषय में सामान्यतः यही कहा जाता है कि प्रथम श्रुतस्कंध में परवादि-दर्शनों की सूत्र रूप में की गई चर्चा का विस्तार, तथा विविध उपनय एवं दृष्टान्तों द्वारा पर-वाद का खण्डन एवं स्व-सिद्धान्त का मण्डन-द्वितीय श्रुतस्कंध का विषय है। द्वितीय श्रुतस्कंध की शैली में विविधता के भी दर्शन होते हैं। सत्रहवाँ पौंडरीक अध्ययन एक ललित काव्य-कल्पना का रसास्वादन भी कराता है, दर्शनिक विचारधाराओं को पुष्करिणी एवं कमल के उपनय द्वारा बड़ी सरसता के साथ समझाया गया है। १८, १९, २०, २१—ये अध्ययन जहाँ शुद्ध दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं वहाँ २२ एवं २३ वां अध्ययन सरस कथा शैली में संवादों के रूप में भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण करके स्व-मान्यता की प्रस्थापना बड़ी सहजता के साथ करते हैं। उदाहरण के रूप में—गोशालक भ० महावीर के प्रति आक्षेप करता है कि महावीर पहले एकान्तसेवी थे, किंतु अब हजारों लोगों के झुंड के बीच रहते हैं, अतः अब उनकी साधना दूषित हो गई है।

मुनि आर्द्रक कुमार इस आक्षेप का ऐसा सटीक अध्यात्मचिन्तनपूर्ण उत्तर देता है कि वह हजारों वर्ष बाद आज भी अध्यात्मजगत् का प्रकाशस्तंभ बना हुआ है। देखिए मुनि आर्द्रक का उत्तर—

आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगंतयं सारयति तहच्चे।

—सूत्रांक-७९०

भले ही भगवान महावीर हजारों मनुष्यों के बीच बैठकर धर्म-प्रवचन करते हैं, किंतु वे आत्मद्रष्टा हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, अतः वे सदा अपने आप में स्थित हैं।

हजारों क्या, लाखों के बीच रहकर भी वे वास्तव में एकाकी ही हैं, अपनी आत्मा के साथ रहने वाले साधक पर बाहरी प्रभाव कभी नहीं पड़ता।

अध्यात्म-योग की यह महान् अनुभूति आर्द्रक कुमार ने सिर्फ दो शब्दों में ही व्यक्त करके गोशालक की बाह्य-दृष्टि-परकता को ललकार दिया है। संवादों में इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों से आर्द्रकीय अध्ययन बड़ा ही रोचक व शिक्षाप्रद बन गया है।

२३ वें (छठे) नालन्दीय अध्ययन में तो गणधर गौतम एक मनोवैज्ञानिक शिक्षक के रूप में प्रस्तुत होते हैं जो उदक पेढालपुत्र को सहजता और वत्सलता के साथ विनय व्यवहार की शिक्षाएं देते हुए उसकी धारणाओं का परिष्कार करते हैं।

वास्तव में प्रथम श्रुतस्कंध जहाँ तर्क-वितर्क प्रधान चर्चाओं का केन्द्र है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कंध में तर्क के साथ श्रद्धा का सुन्दर सामञ्जस्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम का पूरक ही नहीं, कुछ विशेष भी है, नवीन भी है। और अनुद्घाटित अर्थों का उद्घाटक भी है।

प्रस्तुत संपादन :

सूत्रकृत के प्रस्तुत संपादन में अब तक प्रकाशित अनेक संस्करणों को लक्ष्य में रखकर संपादन/विवेचन किया गया है। मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा संपादित मूल पाठ हमारा आदर्श रहा है, किन्तु उसमें भी यत्र-तत्र चूर्णिसम्मत कुछ संशोधन हमने किये हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, प्राचीनतम संस्कृतमिश्रित-प्राकृतव्याख्या चूर्णि, तथा आचार्य शीलांक कृत वृत्ति—इन तीनों के आधार पर हमने मूल का हिन्दी भावार्थ व विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के पाठों में पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद भी हैं। यथाप्रसंग उसका भी उल्लेख करने का प्रयास मैंने किया है, क्योंकि पाठक उन दोनों के अनुशीलन से स्वयं की बुद्धि-कसौटी

पर उसे कसकर निर्णय करे। चूर्णि एवं वृत्ति के विशिष्ट अर्थों को मूल संस्कृत के साथ हिन्दी में भी दिया गया है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, अब तक के विवेचनकर्ता संस्कृत को ही महत्व देकर चले हैं, चूर्णिगत तथा वृत्तिगत पाठों की मूल रूप में अंकित करके ही इति करते रहे हैं, किन्तु इससे हिन्दी-पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, जबकि आज का पाठक अधिकांशत: हिन्दी के माध्यम से ही जान पाता है। मैंने उन पाठों का हिन्दी अनुवाद भी प्रायश: देने का प्रयत्न किया है। यह संभवत: नया प्रयास ही माना जायेगा।

आगम पाठों से मिलते-जुलते अनेक पाठ व शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलते हैं जिनकी तुलना अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, पाद-टिप्पण में स्थान-स्थान पर बौद्ध ग्रन्थों के वे स्थल देकर पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए इंगित किया गया है, आशा है इससे प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होंगे। अन्त में चार परिशिष्ट हैं, जिनमें गाथाओं की अकारादि सूची; तथा विशिष्ट शब्द सूची भी है। इसके सहारे आगमगाथा व पाठों का अनुसंधान करना बहुत सरल हो जाता है। अनुसंधाताओं के लिए इस प्रकार की सूची बहुत उपयोगी होती है। पं० श्री विजयमुनि जी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि पर सुन्दर प्रकाश डालकर पाठकों को अनुगृहीत किया है। वह प्रथम भाग में दी गई है।

इस सम्पादन में युवाचार्य श्री मधुकरजी महाराज का विद्वत्तापूर्ण मार्ग-दर्शन बहुत बड़ा सम्बल बना है। साथ ही विश्रुत विद्वान् परम सौहार्दशील पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गंभीर-निरीक्षण-परीक्षण, पं० मुनि श्री नेमीचन्द्रजी महाराज का आत्मीय भावपूर्ण सहयोग—मुझे कृतकार्य बनाने में बहुत उपकारक रहा है। मैं विनय एवं कृतज्ञता के साथ उन सबका आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ। श्रुत-सेवा के इस महान कार्य में मुझे भविष्य में इसी प्रकार का सौभाग्य मिलता रहेगा।

३० मार्च, १९८२

—श्रीचन्द सुराना

□□

विषयानुक्रमणिका

[द्वितीय श्रुतस्कंध : अध्ययन १ से ७ तक]

पोंडरीक : प्रथम अध्ययन : पृष्ठ १ से ५१

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन : पृष्ठ ५२ से १०५

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन : पृष्ठ १०६ से १३१

प्रत्याख्यान क्रिया : चतुर्थ अध्ययन : पृष्ठ १३२ से १४५

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन : पृष्ठ १४६ से १६३

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन : पृष्ठ १६४ से १८३

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन : पृष्ठ १८४ से २१७

परिशिष्ट

□□

पंचमगणहर भयवं सिरिसुहम्मसामिपणीयं बिइयमंगं

सूयगडंगसुत्तं

[बीओ सुयक्खंधो]

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामिप्रणीत द्वितीय अंग

सूत्रकृतांगसूत्र

(द्वितीय श्रुतस्कंध)

सूत्रकृतांगसूत्र : द्वितीय श्रुतस्कन्ध

□

परिचय

□ सूत्रकृतांग सूत्र के इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध को निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने 'महाध्ययन' भी कहा है, जिसके दो कारण बताए हैं—(१) इस श्रुतस्कन्ध के अध्ययन बहुत बड़े-बड़े हैं (२) प्रथम श्रुतस्कन्ध में उक्त संक्षिप्त विषय इन अध्ययनों में दृष्टांत देकर विस्तारपूर्वक वर्णित है।[1]

□ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। इन के नाम इस प्रकार हैं—(१) पुण्डरीक, (२) क्रियास्थान, (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) आचारश्रुत या आगारश्रुत (६) आर्द्रकीय, और (७) नालन्दीय।

□ इन सात अध्ययनों में से 'आचारश्रुत' और 'आर्द्रकीय' ये दो अध्ययन पद्यरूप हैं, शेष पांच अध्ययन गद्यरूप हैं। आहारपरिज्ञा में केवल चार पद्य हैं, शेष समग्र अध्ययन गद्यमय है। निर्युक्तिकार इन सात अध्ययनों को क्रमशः १७ वें अध्ययन से २३ वें अध्ययन तक मानते हैं।[2]

□□

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १४२-१४३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २६७

२. सूत्रकृतांग निर्युक्तिगाथा २२

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र (द्वि. श्रु.) के प्रथम अध्ययन का नाम 'पौण्डरीक' है।

☐ पुण्डरीक शब्द श्वेत शतपत्र (सौ पंखुड़ियों वाले उत्तम श्वेत कमल), तथा पुण्डरीक नामक एक राजा (जो उत्तम संयमनिष्ठ साधु बना) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार ने पुण्डरीक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणन, संस्थान और भाव, ये आठ निक्षेप किये हैं, नामपुण्डरीक तथा स्थापनापुण्डरीक सुगम हैं। द्रव्यपुण्डरीक सचित्त-अचित्त, मिश्र तीन प्रकार के होते हैं।

☐ द्रव्यपुण्डरीक का अर्थ है—सचित्तादि द्रव्यों में जो श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान, प्रवर, एवं ऋद्धिमान् हो। इस दृष्टि से नरकगति को छोड़ कर शेष तीनों गतियों में जो-जो सुन्दर या श्रेष्ठ पदार्थ हो, उसे पुण्डरीक और निकृष्ट को कण्डरीक समझना चाहिए। जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प में स्वभाव से या लोकानुश्रुति से जो प्रवर व प्रधान हैं, वे द्रव्यपुण्डरीक हैं। मनुष्यों में अरिहन्त, चक्रवर्ती, चारणश्रमण, विद्याधर, हरिवंशादि उच्चकुलोत्पन्न तथा ऋद्धिसम्पन्न आदि द्रव्य पौण्डरीक हैं। चारों निकायों के देवों में इन्द्र, सामानिक आदि प्रधान होने से पौण्डरीक है। इसी प्रकार अचित्त एवं मिश्र द्रव्य पौण्डरीक समझ लेने चाहिए।

☐ देवकुरु आदि शुभ प्रभाव, एवं भाव वाले क्षेत्र क्षेत्रपौण्डरीक हैं।

☐ भवस्थिति की दृष्टि से अनुत्तरौपपातिक देव तथा कायस्थिति की दृष्टि से एक, दो, तीन या सात-आठ भवों के अनन्तर मोक्ष पाने वाले शुभ एवं शुद्धाचार से युक्त मनुष्य कालपौण्डरीक हैं।

☐ परिकर्म, रज्जु आदि से लेकर वर्ग तक दस प्रकार के गणित में रज्जुगणित प्रधान होने से वह गणनपौण्डरीक है।

☐ छह संस्थानों में से समचतुरस्र संस्थान श्रेष्ठ होने से संस्थानपौण्डरीक है।

☐ औदयिक से लेकर सान्निपातिक तक छह भावों में से जिस-जिस भाव में जो प्रधान या प्रवर हों, वे भावपौण्डरीक हैं, शेष भावकण्डरीक हैं। जैसे कि औदयिक भाव में तीर्थंकर, अनुत्तरौपपातिक देव, तथा श्वेत शतपत्रवाला कमल हैं, इसी तरह अन्य भावों में भी जो श्रेष्ठ हैं, वे भावपौण्डरीक हैं। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, ज्ञानादिविनय में तथा धर्मध्यानादि अध्यात्म में जो श्रेष्ठ मुनि हैं, वे भावतः पौण्डरीक हैं, शेष कण्डरीक हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सचित्त तिर्यञ्चयोनिक एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक श्वेतकमलरूप द्रव्य-पौण्डरीक का अथवा औदयिक भाववर्ती वनस्पतिकायिक श्वेतशतपत्र रूप भावपौण्डरीक का, तथा सम्यग्दर्शन, चारित्र, विनय-अध्यात्मवर्ती सुसाधु-श्रमण रूप भावपौण्डरीक का वर्णन है।[1]

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १४४। १५७ तक

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २६८-२६९ का सारांश

☐ पुण्डरीक नामक श्वेतकमल से उपमा देकर वर्णन किया गया है, अथवा आदि में पौण्डरीक नाम ग्रहण किया गया है, इस कारण इस अध्ययन का 'पौण्डरीक' नाम रखा गया है।[1]

☐ एक विशाल पुष्करिणी में मध्य में एक पुण्डरीक कमल खिला है, उसे प्राप्त करने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से क्रमशः चार व्यक्ति आए। चारों ही पुष्करिणी के गाढ़ कीचड़ में फंस गए, पुण्डरीक को पाने में असफल रहे। अन्त में एक निःस्पृह संयमी श्रमण आया। उसने पुष्करिणी के तट पर ही खड़े रह कर पुण्डरीक को पुकारा और वह उसके हाथ में आ गया।

प्रस्तुत रूपक का सार यह है—संसार पुष्करिणी के समान है, उसमें कर्मरूपी पानी और विषयभोगरूपी कीचड़ भरा है। अनेक जनपद चारों ओर खिले कमलों के सदृश हैं। मध्य में विकसित श्वेत पुण्डरीक कमल राजा के सदृश है। पुष्करिणी में प्रवेश करने वाले चारों पुरुष क्रमशः तज्जीव-तच्छरीरवादी, पंचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी हैं। ये चारों ही विषयभोगरूप पंक में निमग्न हो कर पुण्डरीक को पाने में असफल रहे। अन्त में जिनप्रणीत-धर्मकुशल श्रमण आया। तट धर्मतीर्थ रूप है। श्रमण द्वारा कथित शब्द धर्मकथा सदृश हैं और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है। जो अनासक्त, निःस्पृह और सत्य-अहिंसादि महाव्रतों के निष्ठापूर्वक पालक हैं, वे ही निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं, जो विपरीत सावद्य आचार-विचारवाले हैं, वे निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते। यही प्रथम अध्ययन के उपमायुक्त वर्णन का सार है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में पुष्करिणी में पुण्डरीक कमल-प्राप्ति की उपमा देकर यह भी संकेत किया गया है कि जो लोग प्रव्रज्याधारी हो कर भी विषयपंक में निमग्न हैं, वे स्वयं संसारसागर को पार नहीं कर सकते, तब दूसरों को कैसे पार पहुंचा सकेंगे?

☐ गद्यमय इस अध्ययन का मूल उद्देश्य विषयभोग से या विपरीत आचार-विचार से निवृत्त करके मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करना है।

☐ इस अध्ययन के कुछ शब्द और वाक्य आचारांग के शब्दों एवं वाक्यों से मिलते-जुलते हैं।

☐ यह महाध्ययन सूत्र ६३८ से प्रारम्भ होकर सूत्र ६९३ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २७१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. १२१

२. (क) जैनागमसाहित्य : मनन और मीमांसा पृ. ८६, ८७
(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १५७-१५८

पोंडरीयं : पढमं अज्झयणं

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन—

६३८—सुयं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खायं—इह खलु पोंडरीए णामं अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—से जहाणामए पोक्खरणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीगिणी पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे णं पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरिया बुइया अणुपुव्वट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे णं पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वट्ठिए ऊसिते रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए दरिसणिए अभिरूवे पडिरूवे।

सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपुंडरीया बुइया अणुपुव्वट्ठिता जाव पडिरूवा। सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभागे एगे महं पउमवर-पोंडरीए बुइते अणुपुव्वट्ठिते जाव पडिरूवे।

६३८—(श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते हैं) 'हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—'उन भग-वान् ने ऐसा कहा था'—'इस आर्हत प्रवचन में पौण्डरीक नामक एक अध्ययन है, उसका यह अर्थ—भाव उन्होंने बताया—कल्पना करो कि जैसे कोई पुष्करिणी (कमलों वाली बावड़ी) है, जो अगाध जल से परिपूर्ण है, बहुत कीचड़वाली है, (अथवा बहुत से श्वेत पद्म होने तथा स्वच्छ जल होने से अत्यन्त श्वेत है), बहुत पानी होने से अत्यन्त गहरी है अथवा बहुत-से कमलों से युक्त है। वह पुष्करिणी (कमलों वाली इस) नाम को सार्थक करनेवाली या यथार्थ नाम वाली, अथवा जगत् में लब्धप्रतिष्ठ है। वह प्रचुर पुण्डरीकों—श्वेतकमलों से सम्पन्न है। वह पुष्करिणी देखने मात्र से चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय, प्रशस्तरूपसम्पन्न, अद्वितीयरूपवाली (अत्यन्त मनोहर) है।

उस पुष्करिणी के देश-देश (प्रत्येक देश) में, तथा उन-उन प्रदेशों में—यत्र-तत्र बहुत-से उत्तमोत्तम पौण्डरीक (श्वेतकमल) कहे गए हैं; जो क्रमशः ऊँचे उठे (उभरे) हुए हैं। वे पानी और कीचड़ से ऊपर उठे हुए हैं। अत्यन्त दीप्तिमान् हैं, रंग-रूप में अतीव सुन्दर हैं, सुगन्धित हैं, रसों से युक्त हैं, कोमल स्पर्शवाले हैं, चित्त को प्रसन्न करनेवाले, दर्शनीय, अद्वितीय रूपसम्पन्न एवं सुन्दर हैं।

उस पुष्करिणी के ठीक बीचोंबीच (मध्य भाग में) एक बहुत बड़ा तथा कमलों में श्रेष्ठ

पौण्डरीक (श्वेत) कमल स्थित वताया गया है। वह भी उत्तमोत्तम क्रम से विलक्षण रचना से युक्त है, तथा कीचड़ और जल से ऊपर उठा हुआ है, अथवा बहुत ऊँचा है। वह अत्यन्त रुचिकर या दीप्तिमान् है, मनोज्ञ है, उत्तम सुगन्ध से युक्त है, विलक्षण रसों से सम्पन्न है, कोमलस्पर्श युक्त है, अत्यन्त आह्लादक दर्शनीय, मनोहर और अतिसुन्दर है।

(निष्कर्ष यह है) उस सारी पुष्करिणी में जहाँ-तहाँ, इधर-उधर सभी देश-प्रदेशों में बहुत से उत्तमोत्तम पुण्डरीक (श्वेत कमल) भरे पड़े (वताए गए) हैं। वे क्रमशः उतार-चढ़ाव से सुन्दर रचना से युक्त हैं, जल और पंक से ऊपर उठे हुए, काफी ऊँचे, विलक्षण दीप्तिमान् उत्तम वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त तथा पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न अत्यन्त रूपवान् एवं अद्वितीय सुन्दर हैं।

उस समग्र पुष्करिणी के ठीक बीच में एक महान् उत्तमपुण्डरीक (श्वेतकमल) वताया गया है, जो क्रमशः उभरा हुआ यावत् (पूर्वोक्त) सभी गुणों से सुशोभित बहुत मनोरम है।

विवेचन—पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने संसार का मोहक स्वरूप सरलता से समझाने और उसके आकर्षण से ऊपर उठकर साधक को मोक्ष के अभिमुख करने के लिए पुष्करिणी और पुण्डरीक के रूपक का अवलम्बन लिया है।

पुष्करिणी के विस्तृत वर्णन के पीछे दो मुख्य रहस्य प्रतीत होते हैं—

(१) पुष्करिणी की विशालता एवं व्यापकता से संसार की भी व्यापकता (चतुर्गतिपर्यन्त तथा अनन्तकालपर्यन्त) और विशालता (चतुर्दशरज्जुपरिमित) को साधक समझले।

(२) जैसे इसमें विविध कमल, उनकी स्वाभाविक सजावट, उनकी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की उत्तमता आदि चित्ताकर्षक एवं मनोहारी होने से व्यक्ति उन्हें पाने के लिए ललचाता है, वैसे ही जगत् के विविध विषयों और चित्ताकर्षक भोगोपभोगयोग्य पदार्थों की वाह्य सुन्दरता, मोहकता आदि देख कर अपरिपक्व साधक सहसा ललचा जाता है। इसी प्रकार पुण्डरीक कमल के छटादार वर्णन के पीछे दो प्रेरणाएँ प्रतीत होती हैं—(१) पुण्डरीक के समान संसार के विषयभोगरूपी पंक एवं कर्म-जल से ऊपर उठकर संयमरूप श्वेतकमल को ग्रहण करे; और (२) मोक्ष-प्राप्ति के लिए संसार की मोहमाया से ऊपर उठकर साधक श्रेष्ठ पुण्डरीकसम सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म को अपनाए।[1]

'सव्वावंति' पद से पुष्करिणी और पौण्डरीक कमल के वर्णन को संक्षेप में दोहराने के पीछे शास्त्रकार का आशय पुष्करिणी और पौण्डरीक दोनों के चित्ताकर्षक वर्णन का निष्कर्ष बताना प्रतीत होता है। वृत्तिकार का आशय तो मूलार्थ में दिया जा चुका है। चूर्णिकार का आशय यह है—"सभी मृणाल, नाल, पत्र, केसर, किंजल्क (कली) से युक्त अनुक्रम से प्राप्त, अथवा जहाँ-तहाँ उतार-चढ़ाव से उभरे हुए पुण्डरीक कमल।"[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २७१ पर से

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २७२ पर से
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. १२२

श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार पुरुष—

६३९—अह पुरिसे पुरत्थिमातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं ऊसियं जाव पडिरूवं ।

तए णं से पुरिसे एवं वदासी—अहमंसि पुरिसे खेत्तण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे पढमे पुरिसज्जाए ।

६३९—अब कोई पुरुष पूर्वदिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उस पुष्करिणी के तीर (किनारे) पर खड़ा होकर उस महान् उत्तम एक पुण्डरीक को देखता है, जो क्रमशः (उतार-चढ़ाव के कारण) सुन्दर रचना से युक्त तथा जल और कीचड़ से ऊपर उठा हुआ एवं यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) बड़ा ही मनोहर है ।

इसके पश्चात् उस श्वेतकमल को देखकर उस पुरुष ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—"मैं पुरुष हूँ, खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ या निपुण) हूँ, कुशल (हित में प्रवृत्ति एवं अहित से निवृत्ति करने में निपुण) हूँ, पण्डित (पाप से दूर, धर्मज्ञ या देशकालज्ञ), व्यक्त (बाल-भाव से निष्क्रान्त-वयस्क अथवा परिपक्व-बुद्धि), मेधावी (बुद्धिमान्) तथा अबाल (बालभाव से निवृत्त—युवक) हूँ । मैं मार्गस्थ (सज्जनों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित) हूँ, मार्ग का ज्ञाता हूँ, मार्ग की गति एवं पराक्रम का (जिस मार्ग से चल कर जीव अपने अभीष्टदेश में पहुंचता है, उसका) विशेषज्ञ हूँ । मैं कमलों में श्रेष्ठ इस पुण्डरीक कमल को (उखाड़ कर) बाहर निकाल लूंगा । इस इच्छा से यहाँ आया हूँ—यह कह कर वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है । वह ज्यों-ज्यों उस पुष्करिणी में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक गहरा पानी और कीचड़ का उसे सामना करना पड़ता है । अतः वह व्यक्ति तीर से भी हट चुका और श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के पास भी नहीं पहुंच पाया । वह न इस पार का रहा, न उस पार का । अपितु उस पुष्करिणी के बीच में ही गहरे कीचड़ में फंस कर अत्यन्त क्लेश पाता है । यह प्रथम पुरुष की कथा है ।

६४०—अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाए ।

अह पुरिसे दक्खिणातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूवं, तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणं तीरं, अपत्तं पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णं ।

तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसे अखेयण्णे अकुसले अपंडिते अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एस पुरिसे 'खेयन्ने कुसले

जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेस्सामि,' णो य खलु एतं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए, पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा सेयंसि विसण्णे दोच्चे पुरिसजाते।

६४०—अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त बताया जाता है।

(पहले पुरुष के कीचड़ में फंस जाने के बाद) दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस (पुष्करिणी) के दक्षिण किनारे पर ठहर कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक को देखता है, जो विशिष्ट क्रमबद्ध रचना से युक्त है, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) अत्यन्त सुन्दर है। वहाँ (खड़ा-खड़ा) वह उस (एक) पुरुष को देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चुका है, और उस प्रधान श्वेत-कमल तक पहुंच नहीं पाया है; जो न इधर का रहा है, न उधर का, बल्कि उस पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस गया है।

तदनन्तर दक्षिण दिशा से आये हुए इस दूसरे पुरुष ने उस पहले पुरुष के विषय में कहा कि- "अहो! यह पुरुष खेदज्ञ (मार्गजनित खेद-परिश्रम को जानता) नहीं है, (अथवा इस क्षेत्र का अनुभवी नहीं है), यह अकुशल है, पण्डित नहीं है, परिपक्व बुद्धिवाला तथा चतुर नहीं है, यह अभी बाल—अज्ञानी है। यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है, न ही यह व्यक्ति मार्गवेत्ता है। जिस मार्ग से चल कर मनुष्य अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करता है, उस मार्ग की गतिविधि तथा पराक्रम को यह नहीं जानता। जैसा कि इस व्यक्ति ने यह समझा था कि मैं बड़ा खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ हूँ, कुशल हूँ, यावत् पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त हूँ, मैं इस पुण्डरीक को उखाड़ कर ले आऊंगा, किन्तु यह पुण्डरीक इस तरह उखाड़ कर नहीं लाया जा सकता जैसा कि यह व्यक्ति समझ रहा है।"

"मैं खेदज्ञ (या क्षेत्रज्ञ)पुरुष हूँ, मैं इस कार्य में कुशल हूँ, हिताहित विज्ञ हूँ, परिपक्वबुद्धिसम्पन्न-प्रौढ़ हूँ, तथा मेधावी हूँ, मैं नादान बच्चा नहीं हूँ, पूर्वज सज्जनों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, उस पथ का ज्ञाता हूँ, उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम को जानता हूँ। मैं अवश्य ही इस उत्तम श्वेतकमल को उखाड़ कर बाहर निकाल लाऊंगा, (मैं ऐसी प्रतिज्ञा करके ही यहाँ आया हूँ) यों कह कर वह द्वितीय पुरुष उस पुष्करिणी में उतर गया। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक जल और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया। इस तरह वह भी किनारे से दूर हट गया और उस प्रधान पुण्डरीक कमल को भी प्राप्त न कर सका। यों वह न इस पार का रहा और न उस पार का रहा। वह पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस कर रह गया और दुःखी हो गया। यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है।

६४१—अहावरे तच्चे पुरिसजाते।

अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति

तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोण्णि पुरिसज्जाते पासति पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेत्तन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मण्णे 'अम्हेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामो,' णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गथे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव अंतरा सेयंसि निसण्णे तच्चे पुरिसजाए।

६४१—इसके पश्चात् तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

दूसरे पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस के किनारे खड़ा हो कर उस एक महान् श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो विशेष रचना से युक्त यावत् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अत्यन्त मनोहर है। वह वहां (उस पुष्करिणी में) उन दोनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से भ्रष्ट हो चुके और उस उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके, तथा जो न इस पार के रहे और न उस पार के रहे, अपितु पुष्करिणी के अधबीच में अगाध कीचड़ में ही फंस कर दुःखी हो गए थे।

इसके पश्चात् उस तीसरे पुरुष ने उन दोनों पुरुषों के लिए इस प्रकार कहा—"अहो! ये दोनों व्यक्ति खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ नहीं हैं, कुशल भी नहीं है, न पण्डित हैं, न ही प्रौढ़—परिपक्वबुद्धिवाले हैं, न ये बुद्धिमान् हैं, ये अभी नादान बालक-से हैं, ये साधु पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित नहीं हैं, तथा जिस मार्ग पर चल कर जीव अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसे ये नहीं जानते। इसी कारण ये दोनों पुरुष ऐसा मानते थे कि हम इस उत्तम श्वेतकमल को उखाड़ कर बाहर निकाल लाएंगे, परन्तु इस उत्तम श्वेतकमल को इस प्रकार उखाड़ लाना सरल नहीं, जितना कि ये दोनों पुरुष मानते हैं।"

"अलबत्ता मैं खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ), कुशल, पण्डित, परिपक्वबुद्धिसम्पन्न, मेधावी, युवक, मार्गवेत्ता, मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल कर ही रहूँगा, मैं यह संकल्प करके ही यहाँ आया हूँ।" यों कह कर उस तीसरे पुरुष ने पुष्करिणी में प्रवेश किया और ज्यों-ज्यों उसने आगे कदम बढ़ाए, त्यों-त्यों उसे बहुत अधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ का सामना करना पड़ा। अतः वह तीसरा व्यक्ति भी वहीं कीचड़ में फंसकर रह गया और अत्यन्त दुःखी हो गया। वह न इस पार का रहा और न उस पार का। यह तीसरे पुरुष की कथा है।

६४२—अहावरे चउत्थे पुरिसजाए।

अह पुरिसे उत्तरातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरणिं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति एगं

पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूवं। ते तत्थ तिण्णि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेत्तण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे—अम्हेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो। णो खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेते जाव विसण्णे चउत्थे पुरिसजाए।

६४२—एक-एक करके तीन पुरुषों के वर्णन के वाद अव चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

तीसरे पुरुष के पश्चात् चौथा पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर, किनारे खड़ा हो कर उस एक महान् उत्तम श्वेतकमल को देखता है, जो विशिष्ट रचना से युक्त यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट) मनोहर है। तथा वह वहाँ (उस पुष्करिणी में) उन तीनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से बहुत दूर हट चुके हैं और श्वेतकमल तक भी नहीं पहुंच सके हैं अपितु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस गए हैं।

तदनन्तर उन तीनों पुरुषों (को देख कर उन) के लिए उस चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा—'अहो ! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ) नहीं हैं, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) मार्ग की गतिविधि एवं पराक्रम के विशेषज्ञ नहीं है। इसी कारण ये लोग समझते हैं कि 'हम उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को उखाड़ कर ले आएंगे; किन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग मान रहे हैं।

"मैं खेदज्ञ पुरुष हूँ यावत् उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ। मैं इस प्रधान श्वेतकमल को उखाड़ कर ले आऊंगा इसी अभिप्राय से मैं कृतसंकल्प हो कर यहाँ आया हूँ।" यों कह कर वह चौथा पुरुष भी पुष्करिणी में उतरा और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया। वह पुरुष उस पुष्करिणी के बीच में ही भारी कीचड़ में फंस कर दुःखी हो गया। अब न तो वह इस पार का रहा, न उस पार का। इस प्रकार चौथे पुरुष का भी वही हाल हुआ।

विवेचन—श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार व्यक्ति—प्रस्तुत चार सूत्रों में पूर्वसूत्रवर्णित पुष्करिणी के मध्य में विकसित एक श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करके असफल हुए चार व्यक्तियों की रूपक कथा है।

यद्यपि चारों व्यक्तियों की पुष्करिणी के तट पर आने, पुष्करिणी को एवं उसके ठीक बीच में स्थित श्रेष्ठ श्वेतकमल को देखने की चेष्टाओं तथा तदनन्तर उस श्वेतकमल को पाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न तथा उसमें मिलने वाली विफलता का वर्णन लगभग समान है। परन्तु चारों

व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो चारों के मनोभावों और तदनुसार उनकी चेष्टाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर जान पड़ता है। वह अन्तर इस प्रकार है—

(१) चारों व्यक्ति चार अलग-अलग दिशाओं से आए थे।

(२) प्रथम व्यक्ति ने उस पुष्करिणी को सर्वप्रथम देखा और उस उत्तम श्वेतकमल को पाने में उसकी दृष्टि सर्वप्रथम केन्द्रित हुई। उसके पश्चात् क्रमशः दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति आया।

(३) अपने से पूर्व असफल व्यक्ति को क्रमशः दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति कोसता है और अपने पौरुष, कौशल और पाण्डित्य की डींग हांकता है

(४) चारों ही व्यक्तियों ने गर्वोद्धत होकर अपना मूल्यांकन गलत किया, अपने से पूर्व असफल होने वाले व्यक्तियों की असफलता से कोई प्रेरणा नहीं ली। फलतः चारों ही अपने प्रयास में विफल हुए।

उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल : निःस्पृह भिक्षु—

६४३—अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अन्नतरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते य चत्तारि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते जाव अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे।

तते णं से भिक्खू एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेतण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने 'अम्हेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो', णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्नक्खेतव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसी भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे जाव मग्गस्स गति-परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—"उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया! उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया!" अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए।

६४३—इसके पश्चात् राग-द्वेषरहित (रूक्ष-अस्निग्ध घड़े के समान कर्ममल-लेपरहित), संसार- सागर के तीर (उस पार जाने का इच्छुक खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, यावत् (पूर्वोक्त सभी विशेषणों से युक्त) मार्ग की गति और पराक्रम का विशेषज्ञ तथा निर्दोष भिक्षामात्र से निर्वाह करने वाला साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस (पुष्करिणी) के तट पर खड़ा हो कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो अत्यन्त विशाल यावत् (पूर्वोक्त गुणों से युक्त) मनोहर है। और वहाँ वह भिक्षु उन चारों पुरुषों को भी देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चुके हैं, और उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके हैं। जो न तो इस पार के रहे हैं, न उस पार के, जो पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस गए हैं।

इसके पश्चात् उस भिक्षु ने उन चारों पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—अहो! ये चारों व्यक्ति खेदज्ञ नहीं हैं, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से सम्पन्न) मार्ग की गति एवं पराक्रम से अनभिज्ञ हैं।

इसी कारण ये लोग यों समझने लगे कि 'हम लोग इस श्रेष्ठ श्वेतकमल को निकाल कर ले जाएँगे, परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग समझते हैं।"

"मैं निर्दोष भिक्षाजीवी साधु हूँ, राग-द्वेष से रहित (रूक्ष=निःस्पृह) हूँ। मैं संसार सागर के पार (तीर पर) जाने का इच्छुक हूँ, क्षेत्रज्ञ (खेदज्ञ) हूँ यावत् जिस मार्ग से चल कर साधक अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के लिए पराक्रम करता है, उसका विशेषज्ञ हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को (पुष्करिणी से बाहर) निकालूंगा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया हूँ।" यों कह कर वह साधु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नहीं करता, वह उस (पुष्करिणी) के तट पर खड़ा-खड़ा ही आवाज देता है—"हे उत्तम श्वेतकमल! वहाँ से उठकर (मेरे पास) आ जाओ, आ जाओ! यों कहने के पश्चात् वह उत्तम पुण्डरीक उस पुष्करिणी से उठकर (या बाहर निकल कर) आ जाता है।

विवेचन—उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल : निःस्पृह भिक्षु—प्रस्तुत सूत्र में पूर्वोक्त चारों विफल व्यक्तियों की चेष्टाओं और मनोभावों का वर्णन करने के पश्चात् पांचवें सफल व्यक्ति का वर्णन किया गया है।

पूर्वोक्त चारों पुरुषों के द्वारा पुष्करिणी एवं उसके मध्य में स्थित उत्तम पुण्डरीक को देखने और पांचवें इस राग-द्वेषरहित निःस्पृह भिक्षु को देखने में दृष्टिकोण का अन्तर है। पूर्वोक्त चारों व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और स्वार्थ से आक्रान्त थे, अहंकारग्रस्त थे, जब कि निःस्पृह भिक्षु राग-द्वेष मोह से दूर है। न इसके मन में स्वार्थ, पक्षपात, लगाव या अहंकार है, न किसी से घृणा और ईर्ष्या है।

प्रश्न होता है—शास्त्रकार ने उन चारों पुरुषों की परस्पर निन्दा एवं स्वप्रशंसा की तुच्छ प्रकृति का जिन शब्दों में वर्णन किया है, उन्हीं शब्दों में इस पांचवें साधु-पुरुष का वर्णन किया है, फिर उनमें और इस भिक्षु में क्या अन्तर रहा? पांचों के लिए एक-असरीखी वाक्यावली प्रयुक्त करने से तो ये समान प्रकृति के मानव प्रतीत होते हैं, केवल उनके और इस भिक्षु के प्रयासों और उसके परिणाम में अन्तर है।

इसका युक्तियुक्त समाधान भिक्षु के लिए प्रयुक्त **'लूहे** (राग-द्वेष-रहित) **'तीरट्ठी'** आदि विशेषणों से ध्वनित हो जाता है। जो साधु राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ आदि विकारों से दूर है और संसार किनारा पाने का इच्छुक है, उसकी दृष्टि और चेष्टा में एवं रागादिविकारग्रस्त लोगों की दृष्टि और चेष्टा में रातदिन का अन्तर होगा, यह स्वाभाविक है। इसलिए भले ही इस भिक्षु के लिए पूर्वोक्त चारों असफल पुरुषों के समान वाक्यावली का प्रयोग किया गया है परन्तु इसकी दृष्टि और भावना में पर्याप्त अन्तर है। रागी-द्वेषी के जिन शब्दों में दूसरे के प्रति तिरस्कार और अवहेलना छिपी होती है, वीतराग के उन्हीं शब्दों से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होता है। वीतराग साधु श्वेतकमल के बाह्य सौन्दर्य के नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन करता है, साथ ही अपनी शुद्ध निर्विकार अनन्त ज्ञानादि गुण युक्त आत्मा से तुलना करता है। तदनन्तर वह उन चारों असफल व्यक्तियों पर दृष्टिपात करता है, उन पर वह तटस्थ दृष्टि से समभावपूर्वक चिन्तन करता है, मन ही मन उनके प्रति दयाभाव से प्रेरित होकर कहता है-"बेचारे ये अज्ञान पुरुष इस उत्तम श्वेतकमल को तो पा नहीं सके और इस पुष्करिणी के तट से बहुत दूर हट कर बीच में ही गाढ़ कीचड़ में फंस कर रह

गए। इसके पीछे रहस्य यह मालूम होता है,—ये बेचारे इसे प्राप्त करने के उपाय, श्रम या मार्ग को नहीं जानते, न इस कार्य को करने में कुशल विचारक एवं विद्वान् हैं।"

तत्पश्चात् वह भिक्षु चारों की हुई इस दुर्दशा के कारणों पर विचार करके उससे बहुत बड़ी प्रेरणा लेता है। वह अपने अन्तर्मन में पहले तटस्थदृष्टि से सोचता है कि कहीं मैं तो इनके जैसा ही नहीं हूँ। अन्तर्निरीक्षण के बाद वह इस निर्णय पर आता है कि जिन कारणों से ये लोग पुण्डरीक को पाने में असफल रहे, उन कारणों से मैं दूर ही रहूँगा।" फिर उसने अपनी अन्तरात्मा में डुबकी लगा कर यह भी जानने का प्रयत्न किया कि मुझमें इस श्रेष्ठ कमल को पाने की योग्यता, आत्मशक्ति एवं दृढ़विश्वास है या नहीं, जिसके बल पर मैं इस श्वेतकमल को अपने पास बुला सकूँ। और वह इस निश्चय पर पहुँचा कि मैं एक निःस्पृह भिक्षाजीवी साधु हूँ, मेरे मन में स्वार्थ, द्वेष, घृणा, द्रोह, मोह आदि नहीं है, मैं मोक्षतट पर पहुँचने को इच्छुक हूँ। इसलिए मेरा आत्मविश्वास है कि मैं मोक्ष-सम, दुष्प्राप्य इस श्वेतकमल को अवश्य ही प्राप्त कर सकूंगा।" और इसी आत्मविश्वास एवं आत्मशक्ति से प्रेरित होकर वह भिक्षु पुष्करिणी में प्रविष्ट न हो कर उसके तट पर खड़ा होकर ही उक्त श्वेतकमल को अपने निकट बुलाने में समर्थ हो सका।

शास्त्रकार ने इस रहस्य को यहाँ नहीं खोला है कि वह उत्तम श्वेतकमल पुष्करिणी से बाहर कैसे निकल कर आ गया? यहाँ तो रूपक के द्वारा इतना ही बताया गया है कि पुष्करिणी के मध्य में स्थित श्वेतकमल को पाने में कौन असफल रहे, कौन सफल? अगले सूत्रों में इन दृष्टान्तों को घटित किया गया है।

दृष्टान्तों के दार्ष्टान्तिक की योजना—

६४४—किट्टिते णाते समणाउसो! अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति।

भंते! त्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—किट्टिते नाए समणाउसो! अट्ठं पुण से ण जाणामो।

समणाउसो! त्ति समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी—हंता समणाउसो! आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि।

६४४—(श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—) "आयुष्मान् श्रमणो! तुम्हें मैंने यह दृष्टान्त (ज्ञात) कहा है; इसका अर्थ (भाव) तुम लोगों को जानना चाहिए।"

'हाँ, भदन्त!" कह कर साधु और साध्वी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार करते हैं। वन्दना-नमस्कार करके भगवान् महावीर से इस प्रकार कहते हैं—"आयुष्मन् श्रमण भगवान्! आपने जो दृष्टान्त बताया उसका अर्थ (रहस्य) हम नहीं जानते।"

(इस पर) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन बहुत-से निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—'आयुष्मान् श्रमण-श्रमणियो! मैं इसका अर्थ (रहस्य) बताता हूँ, अर्थ स्पष्ट (प्रकट) करता हूँ। पर्यायवाची शब्दों द्वारा उसे कहता हूँ, हेतु और दृष्टान्तों द्वारा हृदयंगम कराता हूँ; अर्थ, हेतु और निमित्त सहित उस अर्थ को बार-बार बताता हूँ।"

६४५—से बेमि—लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! सा पुक्खरणी बुइता, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए बुइते, कामभोगा य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइते, जण-जाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपुंडरीया बुइता, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइते, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाता बुइता, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू बुइते, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइते, नेव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाते बुइते, एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइतं ।

६४५—(सुनो,) उस अर्थ को मैं कहता हूँ—"आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मान कर (मात्र रूपक के रूप में कल्पना कर) इस लोक को पुष्करिणी कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से विचार करके कर्म को इस पुष्करिणी का जल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से स्थिर करके काम भोगों को पुष्करिणी का कीचड़ कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी दृष्टि से चिन्तन करके आर्य देशों के मनुष्यों और जनपदों (देशों) को पुष्करिणी के बहुत से श्वेतकमल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से अपने मन में निश्चित करके राजा को उस पुष्करिणी का एक महान् श्रेष्ठ श्वेतकमल (पुण्डरीक) कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मान कर अन्यतीर्थिकों को उस पुष्करिणी के कीचड़ में फंसे हुए चार पुरुष बताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी बुद्धि से चिन्तन करके धर्म को वह भिक्षु बताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से अपने आप सोचकर धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट बताया है । और आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी आत्मा में निश्चित करके धर्मकथा को उस भिक्षु का वह शब्द (आवाज) कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपने मन में स्थिर करके निर्वाण (समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष या सिद्धशिला स्थान) को श्रेष्ठ पुण्डरीक का पुष्करिणी से उठ कर बाहर आना कहा है । (संक्षेप में) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने इस (पूर्वोक्त) प्रकार से अपनी आत्मा में निश्चय करके (यत्किञ्चित् साधर्म्य के कारण) इन पुष्करिणी आदि को इन लोक आदि के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है ।

विवेचन—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की योजना—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियों की जिज्ञासा देखकर उनको दृष्टान्तों का अर्थघटन करके बताने का आश्वासन दिया है, द्वितीय सूत्र में महावीर प्रभु ने अपनी केवलज्ञानरूपी प्रज्ञा द्वारा निश्चित करके पुष्करिणी आदि दृष्टान्तों का विविध पदार्थों से उपमा देकर इस प्रकार अर्थघटन किया है—

(१) पुष्करिणी चौदह रज्जू-परिमित विशाल लोक है । जैसे पुष्करिणी में अगणित कमल उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, वैसे ही लोक में अगणित प्रकार के जीव स्व-स्वकर्मानुसार उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं । पुष्करिणी अनेक कमलों का आधार होती है, वैसे ही मनुष्यलोक भी अनेक मानवों का आधार है ।

(२) पुष्करिणी का जल कर्म है । जैसे पुष्करिणी में जल के कारण कमलों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आठ प्रकार के स्वकृत कर्मों के कारण मनुष्यों की उत्पत्ति होती है ।

(३) काम-भोग पुष्करिणी का कीचड़ है। जैसे-कीचड़ में फंसा हुआ मानव अपना उद्धार करने में असमर्थ हो जाता है, वैसे ही काम-भोगों में फंसा मानव भी अपना उद्धार नहीं कर सकता। ये दोनों ही समानरूप से बन्धन के कारण हैं। एक बाह्य बन्धन है, दूसरा आन्तरिक बन्धन।

(४) आर्यजन और जानपद बहुसंख्यक श्वेतकमल हैं। पुष्करिणी में नानाप्रकार के कमल होते हैं, वैसे ही मनुष्यलोक में नानाप्रकार के मानव रहते हैं। अथवा पुष्करिणी कमलों से सुशोभित होती है, वैसे ही मनुष्यों और उनके देशों से मानवलोक सुशोभित होता है।

(५) जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलों में प्रधान एक उत्तम और विशाल श्वेतकमल है, वैसे ही मनुष्यलोक के सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ और सब पर शासनकर्ता नरेन्द्र होता है, वह शीर्षस्थ एवं स्व-पर-अनुशास्ता होता है, जैसे कि पुष्करिणी में कमलों का शीर्षस्थ, श्रेष्ठ पुण्डरीक है।

(६) अविवेक के कारण पुष्करिणी के कीचड़ में फंस जाने वाले जैसे वे चार पुरुष थे, वैसे ही संसाररूपी पुष्करिणी के काम-भोगरूपी कीचड़ या मिथ्यामान्यताओं के दलदल में फंस जाने वाले चार अन्यतीर्थिक हैं, जो पुष्करिणी-पंकमग्न पुरुषों की तरह न तो अपना उद्धार कर पाते हैं, न ही प्रधान श्वेतकमलरूप शासक का उद्धार कर सकते हैं।

(७) अन्यतीर्थिक गृहत्याग करके भी सत्संयम का पालन नहीं करते, अतएव वे न तो गृहस्थ ही रहते हैं, न साधुपद—मोक्षपद प्राप्त कर पाते हैं। वे बीच में फंसे पुरुषों के समान न इधर के न उधर के रहते हैं—उभयभ्रष्ट ही रह जाते हैं।

(८) जैसे बुद्धिमान् पुरुष पुष्करिणी के भीतर न घुस कर उसके तट पर से ही आवाज देकर उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल लेता है, वैसे ही राग-द्वेषरहित साधु काम-भोग रूपी दल-दल से युक्त संसारपुष्करिणी में न घुसकर संसार के धर्मतीर्थरूप तट पर खड़ा (तटस्थ-निर्लिप्त) होकर धर्मकथारूपी आवाज देकर श्वेतकमलरूपी राजा-महाराजा आदि को संसाररूपी पुष्करिणी से बाहर निकाल लेते हैं।

(९) जैसे जल और कीचड़ का त्याग करके कमल बाहर (उनसे ऊपर उठ) आता है, इसी प्रकार उत्तम पुरुष अपने अष्टविध कर्मरूपी जल और काम-भोगरूपी कीचड़ का त्याग करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेते हैं। श्वेतकमल का ऊपर उठकर बाहर आना ही निर्वाण पाना है।

धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्म प्रवेश का तरीका—

६४६—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संति एगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेण लोगं तं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे ह्रस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं महं एगे राया भवति महाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविरातियंगमंगे बहुजणबहुमाणपूतिते सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउं पिउं सुजाए दयप्पत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवदपिया जणवदपुरोहिते सेउकरे केउकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए

पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविउलभवण-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूव-रयए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्त-पाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्प-भूते पडिपुण्णकोस-कोट्ठागाराउहधरे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटकं निहयकंटकं मलियकंटकं उद्धियकंटकं अकंटयं ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगय-दुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति।

६४६—(श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—) इस मनुष्य लोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में उत्पन्न कई प्रकार के मनुष्य होते हैं, जैसे कि—उन मनुष्यों में कई आर्य (क्षेत्रार्य आदि) होते हैं अथवा कई अनार्य (धर्म से दूर, पापी, निर्दय, निरनुकम्प, क्रोधमूर्ति, असंस्कारी) होते हैं, कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय। उनमें से कोई भीमकाय (लम्बे और सुदृढ़ शरीर वाले) होते हैं, कई ठिगने कद के होते हैं। कोई (सोने की तरह) सुन्दर वर्ण वाले होते हैं, तो कोई बुरे (काले कलूट) वर्ण वाले। कोई सुरूप (सुन्दर अंगोपांगों से युक्त) होते हैं तो कोई कुरूप (बेडौल, अपंग) होते हैं।

उन मनुष्यों में (विलक्षण कर्मोदय से) कोई एक राजा होता है। वह (राजा) महान् हिमवान् मलयाचल, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान सामर्थ्यवान् अथवा वैभववान् होता है। वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वंश में जन्मा हुआ होता है। उसके अंग राजलक्षणों से सुशोभित होते हैं। उसकी पूजा-प्रतिष्ठा अनेक जनों द्वारा बहुमानपूर्वक की जाती है, वह गुणों से समृद्ध होता है, वह क्षत्रिय (पीड़ित प्राणियों का त्राता—रक्षक) होता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। वह राजा राज्याभिषेक किया हुआ होता है। वह अपने माता-पिता का सुपुत्र (अंगजात) होता है। उसे दया प्रिय होती है। वह सीमंकर (जनता की सुव्यवस्था के लिए सीमा—नैतिक धार्मिक मर्यादा स्थापित-निर्धारित करने वाला) तथा सीमंधर (स्वयं उस मर्यादा का पालन करने वाला) होता है। वह क्षेमंकर (जनता का क्षेम-कुशल करने वाला) तथा क्षेमन्धर (प्राप्त योगक्षेम का वहन—रक्षण करने वाला) होता है। वह मनुष्यों में इन्द्र, जनपद (देश या प्रान्त) का पिता, और जनपद का पुरोहित (शान्तिरक्षक) होता है। वह अपने राज्य या राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिए सेतुकर (नदी, नहर, पुल बांध आदि का निर्माण कराने वाला) और केतुकर (भूमि, खेत, बगीचे आदि की व्यवस्था करने वाला) होता है। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुषों में वरिष्ठ, पुरुषों में सिंहसम, पुरुषों में आसीविष सर्प समान, पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीकतुल्य, पुरुषों में श्रेष्ठ मत्तगन्धहस्ती के समान होता है। वह अत्यन्त धनाढ्य, दीप्तिमान् (तेजस्वी) एवं प्रसिद्ध पुरुष होता है। उसके पास विशाल विपुल भवन, शय्या, आसन, यान (विविध पालकी आदि) तथा वाहन (घोड़ा-गाड़ी, रथ आदि सवारियाँ एवं हाथी, घोड़े आदि) की प्रचुरता रहती है। उसके कोष (खजाने) प्रचुर धन, सोना, चाँदी आदि से भरे रहते हैं। उसके यहां प्रचुर द्रव्य की आय होती है, और व्यय भी बहुत होता है। उसके यहाँ से बहुत-से लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन-पानी दिया जाता है। उसके यहां बहुत-से दासी-दास, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशु रहते हैं। उसके धान्य का कोठार अन्न से, धन के कोश (खजाने) प्रचुर द्रव्य से और आयुधागार विविध शस्त्रास्त्रों से भरा रहता है। वह शक्तिशाली होता है। वह अपने शत्रुओं को दुर्बल बनाए रखता है। उसके राज्य में कंटक—चोरों, व्यभिचारियों, लुटेरों तथा उपद्रवियों एवं

दुष्टों का नाश कर दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, उन्हें कुचल दिया जाता है, उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, जिससे उसका राज्य निष्कण्टक (चोर आदि दुष्टों से रहित) हो जाता है। उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं को नष्ट कर दिया जाता है, उन्हें खदेड़ दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, अथवा उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, उन शत्रुओं को जीत लिया जाता है, उन्हें हरा दिया जाता है। उसका राज्य दुर्भिक्ष और महामारी आदि के भय से विमुक्त होता है। यहां से ले कर "जिसमें स्वचक्र-परचक्र का भय शान्त हो गया है, ऐसे राज्य का प्रशासन—पालन करता हुआ वह राजा विचरण करता है," यहाँ तक का पाठ औपपातिकसूत्र में वर्णित पाठ की तरह समझ लेना चाहिए।

६४७—तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागा इक्खागपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भडा भडपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छई लेच्छइपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावती सेणावतिपुत्ता।

तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारेंसु गमणाए, तत्थऽन्नतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो वयमेतेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो, से ए वमायाणह भयंतारो जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति।

६४७—उस राजा की परिषद् (सभा) होती है। उसके सभासद ये होते हैं—उग्रकुल में उत्पन्न उग्रपुत्र, भोगकुल में उत्पन्न भोग तथा भोगपुत्र इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न तथा इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञातृकुल में उत्पन्न तथा ज्ञातपुत्र, कुरुकुल में उत्पन्न—कौरव, तथा कौरवपुत्र, सुभटकुल में उत्पन्न तथा सुभट-पुत्र, ब्राह्मणकुल में उत्पन्न तथा ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी नामक क्षत्रियकुल में उत्पन्न तथा लिच्छवीपुत्र, प्रशास्तागण (मंत्री आदि बुद्धिजीवी वर्ग) तथा प्रशास्तृपुत्र (मंत्री आदि के पुत्र) सेनापति और सेनापतिपुत्र।

इनमें से कोई एक धर्म में श्रद्धालु होता है। उस धर्म-श्रद्धालु पुरुष के पास श्रमण या ब्राह्मण (माहन) धर्म प्राप्ति की इच्छा से जाने का निश्चय (निर्धारण) करते हैं। किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते हैं कि हम इस धर्मश्रद्धालु पुरुष के समक्ष अपने इस (अभीष्ट) धर्म की प्ररूपणा करेंगे। वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास जाकर कहते हैं—हे संसारभीरु धर्मप्रेमी! अथवा भय से जनता के रक्षक महाराज! मैं जो भी उत्तम धर्म की शिक्षा आप को दे रहा हूँ उसे ही आप पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) समझें।"

विवेचन—धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्म-प्रवेश का तरीका—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू. सं. ६४६-६४७) में शास्त्रकार अनेक विशेषणों से युक्त राजा और उसकी राज्यसभा के क्षत्रिय, मंत्री, ब्राह्मण आदि विविध सभासदों का विस्तार से निरूपण करते हैं, तत्पश्चात् इनमें से किसी-किसी धर्म श्रद्धालु के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिक श्रमण-ब्राह्मण अपने धर्म की मान्यता ठसाने का किस प्रकार से उपक्रम करते हैं, वह संक्षेप में बताते हैं। शास्त्रकार इस विस्तृत पाठ में चार तथ्यों का वर्णन करते हैं—

(१) पूर्वादि दिशाओं से समागत आर्य-अनार्य आदि नाना प्रकार के पुरुषों का वर्णन।
(२) उन सबके शास्ता—राजा का वर्णन।
(३) उक्त राजा की परिषद् के विभिन्न सभासदों का वर्णन।

(४) इनमें से किसी धर्मश्रद्धालु को अन्य तीर्थिकों द्वारा स्वधर्मानुसार बनाने के उपक्रम का वर्णन ।

प्रथमपुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन—

६४८—तं जहा—उड्ढं पादतला[1] अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे चरमाणे चरती, विणट्ठम्मि य णो चरति, एतंतं जीवितं भवति, आदहणाए परेहिं णिज्जति, अगणिझामिते सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति । एवं असतो असंविज्जमाणे ।

६४८—वह धर्म इस प्रकार है—पादतल (पैरों के तलवे) से ऊपर और मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा तिरछा—चमड़ी तक जो शरीर है, वही जीव है । यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय (अवस्था विशेष अथवा पर्यायवाची शब्द) है । (क्योंकि) इस शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता रहता है, शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता, शरीर के स्थित (टिके) रहने तक ही यह जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है । इसलिए जब तक शरीर है, तभी तक यह जीवन (जीव) है । शरीर जब मर जाता है तब दूसरे लोग उसे जलाने के लिए ले जाते हैं, आग से शरीर के जल जाने पर हड्डियां कपोत वर्ण (कबूतरी रंग) की हो जाती हैं । इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि में पहुंचाने वाले जघन्य (कम से कम) चार पुरुष मृत शरीर को ढोने वाली मंचिका (अर्थी) को ले कर अपने गांव में लौट आते हैं । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता । (अतः जो लोग शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं मानते, उनका यह-पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्ति युक्त समझना चाहिए ।)

६४९—जेसि तं सुयक्खायं भवति—'अन्नो भवति जीवो अन्नं सरीरं' तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति—अयमाउसो ! आता दीहे ति वा ह्रस्से ति वा परिमंडले ति वा वट्टे ति वा तंसे ति वा चउरंसे ति वा छलंसे ति वा अट्ठंसे ति वा आयते ति वा किण्हे ति वा णीले ति वा लोहिते ति वा हालिद्दे ति वा सुक्किले ति वा सुब्भिगंधे ति वा दुब्भिगंधे ति वा तित्ते ति वा कडुए ति वा कसाए ति वा अंबिले ति वा महुरे ति वा कक्खडे ति वा मउए ति वा गरुए ति वा लहुए ति वा सिते ति वा उसिणे ति वा णिद्धे ति वा लुक्खे ति वा । एवमसतो असंविज्जमाणे ।

६४९—जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव पृथक् है और शरीर पृथक् है, वे इस प्रकार (जीव और शरीर को) पृथक् पृथक् करके नहीं बता सकते कि—यह आत्मा दीर्घ (लम्बा) है, यह ह्रस्व (छोटा या ठिगना) है, यह चन्द्रमा के समान परिमण्डलाकार है, अथवा गेंद की तरह गोल है, यह त्रिकोण है, या चतुष्कोण है, या यह षट्कोण या अष्टकोण है, यह आयत

१. तुलना—"उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आता पज्जवे……अफले कल्लापाणवए । तम्हा एतं सम्मं तिबेमि—उड्ढं पायतला………एस मडे णो (जीवति) एतं तं (जीवितं भवति) ।"

—इसिभासियाइं १९, उक्कलज्झयण पृ. ३९

(चौड़ा) है, यह काला है अथवा नीला है, यह लाल है या पीला है या यह श्वेत है; यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित है, यह तिक्त (तीखा) है या कड़वा है अथवा कसैला, खट्टा या मीठा है; अथवा यह कर्कश है या कोमल है अथवा भारी (गुरु) है या हलका (लघु) अथवा शीतल है या उष्ण है, स्निग्ध है अथवा रूक्ष है।

इसलिए जो लोग जीव को शरीर से भिन्न नहीं मानते, उनका मत ही युक्तिसंगत है।

६५०—जेसिं तं सुयक्खायं भवति 'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं', तम्हा ते णो एवं उवलभंति—

[१] से जहानामए केइ पुरिसे कोसीतो[1] असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! असी, अयं कोसीए, एवमेव णत्थि केइ अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेति—अयमाउसो ! आता, अयं सरीरे।

[२] से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मुंजो, अयं इसीया, एवामेव नत्थि केति उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आता इदं सरीरे।

[३] से जहाणामए केति पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मंसे, अयं अट्ठी, एवामेव नत्थि केति उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, इदं सरीरं।

[४] से जहानामए केति पुरिसे करतलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! करतले, अयं आमलए, एवामेव णत्थि केति उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, इदं सरीरं।

[५] से जहानामए केइ पुरिसे दहीओ णवणीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! नवनीतं, अयं दही, एवामेव नत्थि केति उवदंसेत्तारो जाव सरीरं।

[६] से जहानामए केति पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिव्वट्टेत्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! तेल्ले, अयं पिण्णाए, एवामेव जाव सरीरं।

[७] से जहानामए केइ पुरिसे उक्खूतो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! खोतरसे, अयं चोए, एवमेव जाव सरीरं।

[८] से जहानामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टेत्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! अरणी, अयं अग्गी, एवामेव जाव सरीरं। एवं असतो असंविज्जमाणे।

जेसिं तं सुयक्खातं भवति तं जहा—'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं' तम्हा तं मिच्छा।

६५०—जिन लोगों का यह कथन है कि जीव अन्य है, और शरीर अन्य है, वे इस प्रकार से जीव को उपलब्ध (प्राप्त) नहीं करा पाते—(१) जैसे—कि कोई व्यक्ति म्यान से तलवार को बाहर

---

१. तुलना—"सेय्यथापि, महाराज ! पुरिसो मुञ्जम्हा ईसिका पवाहेय्य। तस्स एवमस्स अयं मुंजो, अयं ईसिका ………तस्स एवमस्स—अयं असि अयं कोसि ………मनोमयं काय अभिनिम्मनाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति।" —सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि) भा. १सामञ्ञफलसुत्तं पृ. ६८

निकाल कर दिखलाता हुआ कहता है—आयुष्मन् ! यह तलवार है, और यह म्यान है। इसी प्रकार कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर से जीव को पृथक् करके दिखला सके कि आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह (उससे भिन्न) शरीर है।

(२) जैसे कि कोई पुरुष मुंज नामक घास से इषिका (कोमलस्पर्श वाली शलाका) को बाहर निकाल कर अलग-अलग बतला देता है कि आयुष्मन् ! यह तो मुंज है, और यह इषिका है। इसी प्रकार ऐसा कोई उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो यह बता सके कि "आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह (उससे पृथक्) शरीर है।"

(३) जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग-अलग करके बतला देता है कि "आयुष्मन् ! यह मांस है और यह हड्डी है।" इसी तरह कोई ऐसा उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके दिखला दे कि "आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।"

(४) जैसे कोई पुरुष हथेली से आँवले को बाहर निकाल कर दिखला देता है कि "आयुष्मन् ! यह हथेली (करतल) है, और यह आँवला है।' इसी प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखा दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है, और यह (उससे पृथक्) शरीर है।'

(५) जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत (मक्खन) को अलग निकाल कर दिखला देता है कि "आयुष्मन् ! यह नवनीत है और यह दही है।" इस प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।'

(६) जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि "आयुष्मन् ! यह तो तेल है और यह उन तिलों की खली है," वैसे कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर को आत्मा से पृथक् करके दिखा सके कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है, और यह उससे भिन्न शरीर है।'

(७) जैसे कि कोई पुरुष ईख से उसका रस निकाल कर दिखा देता है कि "आयुष्मन् ! यह ईख का रस है और यह उसका छिलका है;" इसी प्रकार ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर और आत्मा को अलग-अलग करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह शरीर है।'

(८) जैसे कि कोई पुरुष अरणि की लकड़ी से आग निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि—"आयुष्मन् ! यह अरणि है और यह आग है," इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो शरीर और आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह उससे भिन्न शरीर है।'

इसलिए आत्मा शरीर से पृथक् उपलब्ध नहीं होती, यही बात युक्तियुक्त है। इस प्रकार (विविध युक्तियों से आत्मा का अभाव सिद्ध होने पर भी) जो पृथगात्मवादी (स्वदर्शनानुरागवश) बारबार प्रतिपादन करते हैं, कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है, पूर्वोक्त कारणों से उनका कथन मिथ्या है।

६५१—से हंता हणह खणह छणह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विपरामुसह, एत्ताव ताव जीवे, णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुक्कडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धि ति वा असिद्धि ति

वा निरए ति वा अनिरए ति वा।

एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए।

६५१—इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने वाले तज्जीवतच्छरीरवादी लोकायतिक आदि स्वयं जीवों का (निःसंकोच) हनन करते हैं, तथा (दूसरों को भी उपदेश देते हैं)—इन जीवों को मारो, यह पृथिवी खोद डालो, यह वनस्पति काटो, इसे जला दो, इसे पकाओ, इन्हें लूट लो या इनका हरण कर लो, इन्हें काट दो या नष्ट कर दो, विना सोचे विचारे सहसा कर डालो, इन्हें पीडित (हैरान) करो इत्यादि। इतना (शरीरमात्र) ही जीव है, (परलोकगामी कोई जीव नहीं होने से) परलोक नहीं है।" (इसलिए यथेष्ट सुख भोग करो।) वे शरीरात्मवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते जैसे कि—सत्क्रिया या असत्क्रिया, सुकृत, या दुष्कृत, कल्याण (पुण्य) या पाप, भला या बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्ग, आदि।

इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के कर्मसमारम्भ करके विविध प्रकार के काम-भोगों का सेवन (उपभोग) करते हैं अथवा विषयों का उपभोग करने के लिए विविध प्रकार के दुष्कृत्य करते हैं।

६५२—एवं पेगे पागब्भिया निक्खम्म मामगं धम्मं पण्णवेंति तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणे ति वा माहणे ति वा कामं खलु आउसो! तुमं पूययामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निगामइंसु।

६५२—इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई नास्तिक अपने मतानुसार प्रव्रज्या धारण करके 'मेरा ही धर्म सत्य है,' ऐसी प्ररूपणा करते हैं। इस शरीरात्मवाद में श्रद्धा रखते हुए, उस पर प्रतीति करते हुए, उसमें रुचि रखते हुए कोई राजा आदि उस शरीरात्मवादी से कहते हैं—'हे श्रमण या ब्राह्मण! आपने हमें यह तज्जीव-तच्छरीरवाद रूप उत्तम धर्म बता कर बहुत ही अच्छा किया, हे आयुष्मन्! (आपने हमारा उद्धार कर दिया) अतः हम आपकी पूजा (सत्कार-सम्मान) करते हैं, जैसे कि—हम अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य अथवा, वस्त्र, पात्र, कम्बल अथवा पाद-प्रोञ्छन आदि के द्वारा आपका सत्कार-सम्मान करते हैं।' यों कहते हुए कई राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त होते हैं, अथवा वे शरीरात्मवादी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा में प्रवृत्त हो जाते हैं, और उन स्वमतस्वीकृत राजा आदि को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अपने मत-सिद्धान्त में दृढ़ (पक्के या कट्टर) कर देते हैं।

६५३—पुव्वामेव तेसिं णायं भवति—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्ने वि आदियावेंति अन्नं पि आतियंतं समणुजाणंति, एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसत्ता, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, नो परं समुच्छेदेंति, नो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छदेंति, पहीणा पुव्वसंयोगं, आयरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते

णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा। इति पढमे पुरिसज्जाते तज्जीव-तस्सरीरिए आहिते।

६५३—इन शरीरात्मवादियों ने पहले तो वह प्रतिज्ञा की होती है कि 'हम अनगार (घर-बार के त्यागी), अकिंचन (द्रव्यादि-रहित,) अपुत्र (पुत्रादि के त्यागी) अपशु (पशु आदि के स्वामित्व से रहित), परदत्तभोजी (दूसरों के द्वारा दिये गए भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले) भिक्षु एवं श्रमण (शम सम एवं श्रम-तप की साधना करने वाले) बनेंगे, अब हम पापकर्म (सावद्य कार्य) नहीं करेंगे'; ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वे स्वयं दीक्षा ग्रहण करके (प्रव्रजित होकर) भी पाप कर्मों (सावद्य आरम्भसमारम्भादि कार्यों) से विरत (निवृत्त) नहीं होते, वे स्वयं परिग्रह को ग्रहण (स्वीकार) करते हैं, दूसरे से ग्रहण कराते हैं और परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते (अच्छा समझते) हैं, इसी प्रकार वे स्त्री तथा अन्य कामभोगों में आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध, उनमें अत्यधिक इच्छा और लालसा से युक्त, लुब्ध (लोभी), राग-द्वेष के वशीभूत एवं आर्त्त (चिन्तातुर) रहते हैं। वे न तो अपनी आत्मा को संसार से या कर्म-पाश (बन्धन) से मुक्त कर पाते हैं, न वे दूसरों को मुक्त कर सकते हैं, और ने अन्य प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों को मुक्त कर सकते हैं। वे (उक्त शरीरात्मवादी प्रथम असफल पुरुष के समान) अपने स्त्री-पुत्र, धन धान्य आदि पूर्वसंयोग गृहावास या ज्ञातिजनवास) से प्रभ्रष्ट (प्रहीन) हो चुके हैं, और आर्यमार्ग (सम्यग्दर्शनादियुक्त मोक्षमार्ग) को नहीं पा सके हैं। अतः वे न तो इस लोक के होते हैं, और न ही पर लोक के होते हैं (किन्तु उभयलोक के सदनुष्ठान से भ्रष्ट होकर) बीच में कामभोगों—(के कीचड़) में आसक्त हो (फंस) जाते हैं।

इस प्रकार प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी कहा गया है।

विवेचन—प्रथम पुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन—सूत्रसंख्या ६४८ से ६५३ तक छह सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने कई पहलुओं से तज्जीव-तच्छरीरवादी—पूर्वोक्त प्रथम पुरुष—का वर्णन किया है। वे पहलू इस प्रकार हैं—

(१) अन्यतीर्थिकों में से प्रथम अन्यतीर्थिक द्वारा अपने राजा आदि धर्मश्रद्धालुओं के समक्ष तज्जीव-तच्छरीरवादरूप स्वधर्म के स्वरूप का निरूपण।

(२) उनके द्वारा जीव-शरीर-पृथक्वादियों पर **प्रथम आक्षेप**—शरीर से आत्मा को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार आदि के रूप में पृथक् करके स्पष्टतया बतला नहीं सकते।

(३) **द्वितीय आक्षेप**—जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों के सदृश पृथक्-पृथक् करके उपलब्ध नहीं करा सकते—(१) तलवार और म्यान की तरह, (२) मुंज और इषिका की तरह, (३) मांस और हड्डी की तरह (४) हथेली और आँवले की तरह, (५) दही और मक्खनकी तरह, (६) तिल की खली और तेल की तरह, (७) ईख के रस और उसके छिलके की तरह, (८) अरणि की लकड़ी और आग की तरह।

(४) तज्जीव-तच्छरीरवादियों के द्वारा जीव-अजीव, परलोक आदि न माने जाने के कारण जीवहिंसा, चोरी, लूट आदि की निरंकुश प्रवृत्ति करने-कराने का वर्णन।

(५) उनके द्वारा सत्क्रिया—असत्क्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, सिद्धि-असिद्धि, धर्म-अधर्म आदि न माने जाने के कारण किये जाने वाले विविध आरम्भकार्य एवं कामभोग-सेवन के लिए विविध दुष्कृत्यों का वर्णन।

(६) 'मेरा ही– धर्म सत्य है' ऐसी हठाग्रहपूर्वक प्ररूपणा।

(७) राजा आदि अनुयायियों द्वारा तज्जीव-तच्छरीरवादियों के प्रति श्रद्धा-प्रतीति-रुचिपूर्वक प्रकट की जाने वाली कृतज्ञता एवं पूजा-भक्तिभावना और उसकी आसक्ति में फंस जाने वाले तज्जीव-तच्छरीरवादी।

(८) शरीरात्मवादियों द्वारा पूर्वगृहीत महाव्रतों एवं त्याग-नियमादि की प्रतिज्ञा के भंग का वर्णन।

(६) इस प्रकार पूर्वोक्त प्रथमपुरुषवत् तज्जीव-तच्छरीरवादी उभय भ्रष्ट होकर कामभोग के कीचड़ में फंस कर रह जाते हैं। वे गृहवासादि पूर्वसंयोगों को भी छोड़ चुके होते हैं, लेकिन आर्य-धर्म नहीं प्राप्त कर पाते। तदनुसार वे संसारपाश से स्व-पर को मुक्त नहीं कर पाते।

निष्कर्ष—पूर्वदिशा से पुष्करिणी के तट पर आये हुए और प्रधान श्वेतकमल को पाने के लिए लालायित, किन्तु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ एवं पानी में फंसकर रह जाने वाले प्रथम पुरुष की तरह तज्जीव-तच्छरीरवादी भी संसार के तट पर आते हैं, मोक्षमार्ग को पाने के लिए एवं आतुर कृत-प्रतिज्ञ साधुवेषी तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता एवं तदनुसार सांसारिक विषयभोगरूपी कीचड़ में फंस जाते हैं, वे उस समय गृहस्थाश्रम और साधुजीवन दोनों से भ्रष्ट हो जाने से वे स्वपर का उद्धार करने में असमर्थ हो जाते हैं।

द्वितीय पुरुष : पाञ्चमहाभूतिक : स्वरूप विश्लेषण—

६५४—अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाते पंचमहब्भूतिए त्ति आहिज्जति।

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतीया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे। तेसिं च णं महं एगे राया भवती महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावतिपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए। तत्थऽण्णयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयमिमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति।

६५४—पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पञ्चमहाभूतिक कहलाता है।

इस मनुष्यलोक की पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में मनुष्य रहते हैं। वे क्रमशः नाना रूपों में मनुष्यलोक में उत्पन्न होते हैं, जैसे कि—कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य। इसी तरह पूर्वसूत्रोक्त वर्णन के अनुसार कोई कुरूप आदि होते हैं। उन मनुष्यों में से कोई एक महान् पुरुष राजा होता है। वह राजा पूर्वसूत्रोक्त विशेषणों (महान् हिमवान् आदि) से युक्त होता है और उसकी राजपरिषद् भी पूर्वसूत्रोक्त सेनापति पुत्र आदि से युक्त होती है। उन सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है। वे श्रमण और माहन उसके पास जाने का निश्चय करते हैं। वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थिक श्रमण और माहन (ब्राह्मण) राजा आदि से कहते हैं—"हम आपको उत्तम धर्म की शिक्षा देंगे।" (इसके पश्चात् वे कहते हैं—) 'हे भयत्राताओ! प्रजा के भय का अन्त करने वालो! मैं जो भी उत्तम धर्म का उपदेश आपको दे रहा हूँ, वही पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) है।"

६५५—इह खलु पंच महब्भूता जेहिं नो कज्जति किरिया ति वा अकिरिया ति वा सुकडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धी ति वा णिरए ति वा अणिरए ति वा अवि यंतसो तणमातमवि ।

६५५—इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं। जिन से हमारी क्रिया या अक्रिया, सुकृत अथवा दुष्कृत. कल्याण या पाप; अच्छा या बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरकगति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति; अधिक कहाँ तक कहें, तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी (इन्ही पंचमहाभूतों से) होती है।

६५६—तं च पदुद्देसेणं पुढोभूतसमवातं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूते, आऊ दोच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते। इच्चेते पंच महब्भूता अणिम्मिता अणिम्मेया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणिधणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासता ।

६५६—उस भूत-समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए। जैसे कि—पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज (अग्नि) तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पांचवाँ महाभूत है। ये पांच महाभूत किसी कर्त्ता के द्वारा निर्मित (बनाये हुए) नहीं हैं, न ही ये किसी कर्त्ता द्वारा बनवाए हुए (निर्मापित) हैं, ये किये हुए (कृत) नहीं है, न ही ये कृत्रिम (बनावटी) हैं, और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पांचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवन्ध्य—अवश्य कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतंत्र एवं शाश्वत (नित्य) हैं।

६५७—आयछट्ठा पुण एगे, एवमाहु—सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो।[1] एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अत्थिकाए, एताव ताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स कारणयाए, अवि यंतसो तणमातमवि ।

से किणं किणावेमाणे, हणं घातमाणे, पयं पथावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि विक्किणित्ता घायइत्ता, एत्थ वि जाणाहि-णत्थि एत्थ दोसो ।

६५७—कोई (सांख्यवादी) पंचमहाभूत और छठे आत्मा को मानते हैं। वे इस प्रकार कहते हैं कि सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। (वे पंचमहाभूतवादी कहते हैं—) "इतना ही (यही) जीव काय है, इतना ही (पंचभूतों का अस्तित्वमात्र ही) अस्तिकाय है, इतना ही (पंचमहाभूतरूप ही) समग्र जीवलोक है। ये पंचमहाभूत ही लोक के प्रमुख कारण (समस्तकार्यों में व्याप्त) हैं, यहां तक कि तृण का कम्पन भी इन पंचमहाभूतों के कारण होता है।"

(इस दृष्टि से आत्मा असत् या अकिञ्चित्कर होने से) 'स्वयं खरीदता हुआ, दूसरे से खरीद कराता हुआ, एवं प्राणियों का स्वयं घात करता हुआ तथा दूसरे से घात कराता हुआ, स्वयं पकाता और दूसरों से पकवाता हुआ (उपलक्षण से इन सब असदनुष्ठानों का अनुमोदन करता हुआ), यहां

१. तुलना—'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।' —भगवद्गीता अ. २, श्लो. १६.

तक कि किसी पुरुष को (दास आदि के रूप में) खरीद कर घात करने वाला पुरुष भी दोष का भागी नहीं होता क्योंकि इन सब (सावद्य) कार्यों में कोई दोष नहीं है, यह समझ लो।"

६५८—ते णो एतं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा पत्तियमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

दोच्चे पुरिसज्जाए पंचमहब्भूतिए ति आहिते।

६५८—वे (पंचमहाभूतवादी) क्रिया से लेकर नरक से भिन्न गति तक के (पूर्वोक्त) पदार्थों को नहीं मानते। इस प्रकार वे नाना प्रकार के सावद्य कार्यों के द्वारा कामभोगों की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त रहते हैं। अतः वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर), तथा विपरीत विचार वाले हैं। इन पंचमहाभूतवादियों के धर्म (दर्शन) में श्रद्धा रखने वाले एवं इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि (पूर्वोक्त प्रकार से) इनकी पूजा-प्रशंसा तथा आदर सत्कार करते हैं, विषयभोग-सामग्री इन्हें भेंट करते हैं। इस प्रकार सावद्य अनुष्ठान में भी अधर्म न मानने वाले वे पंचमहाभूतवादी स्त्री सम्बन्धी कामभोगों में मूर्च्छित होकर न तो इहलोक के रहते हैं और न ही परलोक के। उभयभ्रष्ट होकर पूर्ववत् बीच में ही कामभोगों में फंस कर कष्ट पाते हैं।

यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय पाञ्चमहाभूतिक पुरुष : स्वरूप विश्लेषण—सूत्रसंख्या ६५४ से ६५८ तक पांच सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने पाञ्चमहाभूतिक वाद का स्वरूप, उसको स्वीकार करने वाले तथा उसकी मोक्ष प्राप्ति में असफलता का प्रतिपादन विविध पहलुओं से किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) सर्वप्रथम पूर्वसूत्रोक्त वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(२) पंच महाभूतों का महात्म्य—सारा संसार, संसार की सभी क्रियाएं, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश आदि पंचमहाभूतों के ही कारण हैं।

(३) पंचमहाभूतों का स्वरूप—ये अनादि, अनन्त, अकृत, अनिर्मित, अकृत्रिम, अप्रेरित, स्वतंत्र, काल, ईश्वर, आत्मा आदि से निरपेक्ष, स्वयं समस्तक्रियाएं करने वाले हैं।

(४) इसलिए क्रिया-अक्रिया, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा आदि वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है।

(५) सांख्यदर्शन के मतानुसार पंचमहाभूतों के अतिरिक्त छठा आत्मा भी है। पर वह निष्क्रिय है, अकर्ता है। इसलिए अच्छा या बुरा फल उसे नहीं मिलता। अतः दोनों ही प्रकार के पांचभूतवादियों के मतानुसार हिंसा, असत्य आदि में कोई दोष नहीं है।

(६) ऐसा मानकर वे निःसंकोच स्वयं कामभोगों या सावद्यकार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं। फिर उन्होंने जिन राजा आदि धर्म श्रद्धालुओं को पक्के भक्त बनाए हैं, वे भी विविध प्रकार से उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करके उनके लिए विषयभोगसामग्री जुटाते हैं।

(७) फलतः वे इस लोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और परलोक से भी। वे संसार को पार

नहीं कर पाते, अधबीच में ही कामभोगों के कीचड़ में फंस जाते हैं। श्वेतकमल के समान निर्वाण पाना तो दूर रहा, वे न तो अपना उद्धार कर सकते हैं, न दूसरों का ही।

तृतीय पुरुष : ईश्वरकारणवादी-स्वरूप और विश्लेषण—

६५९—अहावरे तच्चे पुरिसज्जाते ईसरकारणिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु पादीणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणावतिपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति।

६५९—दूसरे पाञ्चमहाभूतिक पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है। इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जो क्रमशः इस लोक में उत्पन्न हैं। जैसे कि उनमें से कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य इत्यादि। प्रथम सूत्रोक्त सब वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए। उनमें कोई एक श्रेष्ठ पुरुष महान् राजा होता है, यहाँ से लेकर राजा की सभा के सभासदों (सेनापतिपुत्र) तक का वर्णन भी प्रथम सूत्रोक्त वर्णनवत् समझ लेना चाहिए। इन पुरुषों में से कोई एक धर्मश्रद्धालु होता है। उस धर्मश्रद्धालु के पास जाने का तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण (माहन) निश्चय करते हैं। वे उसके पास जा कर कहते हैं—हे भयत्राता महाराज! मैं आपको सच्चा धर्म सुनाता हूं, जो पूर्वपुरुषों द्वारा कथित एवं सुप्रज्ञप्त है, यावत् आप उसे ही सत्य समझें।

६६०—इह खलु धम्मा पुरिसादीया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिसपज्जोइता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।[1]

[१] से जहानामए गंडे सिया सरीरे जाते सरीरे वुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागते सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

[२] से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे अभिसंवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागता सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

[३] से जहाणामए वम्मिए सिया पुढवीजाते पुढवीसंवुड्ढे पुढवीअभिसमण्णागते पुढवीमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव अभिभूय चिट्ठंति।

[४] से जहाणामए रुक्खे सिया पुढवीजाते पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागते पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसाइया जाव अभिभूय चिट्ठंति।

[५] से जहानामए पुक्खरणी सिया पुढविजाता जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

---

१. तुलना—"……पुरिसादीया धम्मा……से जहानामते अरतीसिया……एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठंति। एवं गंडे वम्मीके थूभे रुक्खे, वणसंडे, पुक्खरिणी……उदगपुक्खले……अगणिकाए सिया अरणीय जाते……एवामेव धम्मावि पुरिसादीया तं चेव।……" इसिभासियाइं—अ-२२, पृ. ४३।

[६] से जहाणामए उदगपोक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

[७] स जहाणामए उदगवुब्वुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि पुरिसाईया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

६६०—इस जगत् में जितने भी चेतन—अचेतन धर्म (स्वभाव या पदार्थ) हैं, वे सब पुरुषादिक हैं—ईश्वर या आत्मा (उनका) आदि कारण है; वे सब पुरुषोत्तरिक हैं—ईश्वर या आत्मा ही सब पदार्थों का कार्य है, अथवा ईश्वर ही उनका संहारकर्ता है, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रणीत (रचित) हैं, ईश्वर से ही उत्पन्न (जन्मे हुए) हैं, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रकाशित हैं, सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर टिके हुए हैं ।

(१) जैसे किसी प्राणी के शरीर में हुआ फोड़ा (गुमड़ा) शरीर से ही उत्पन्न होता है शरीर में ही बढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी बनता है और शरीर का ही आधार लेकर टिकता है, इसी तरह सभी धर्म (पदार्थ) ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर से ही वृद्धिगत होते हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं ।

(२) जैसे अरति (मन का उद्वेग) शरीर से ही उत्पन्न होती है, शरीर में ही बढ़ती है, शरीर की अनुगामिनी बनती है, और शरीर को ही मुख्य आधार बना करके पीड़ित करती हुई रहती है, इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न, उसी से वृद्धिगत और उसी के आश्रय से स्थित हैं ।

(३) जैसे वल्मीक (कीटविशेषकृत मिट्टी का स्तूप या दीमकों के रहने की बांबी) पृथ्वी से उत्पन्न होता है, पृथ्वी में ही बढ़ता है, और पृथ्वी का ही अनुगामी है तथा पृथ्वी का ही आश्रय लेकर रहता है, वैसे ही समस्त पदार्थ (धर्म) भी ईश्वर से ही उत्पन्न हो कर उसी में लीन होकर रहते हैं ।

(४) जैसे कोई वृक्ष मिट्टी से ही उत्पन्न होता है, मिट्टी से ही उसका संवर्द्धन होता है, मिट्टी का ही अनुगामी बनता है, और मिट्टी में ही व्याप्त होकर रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न, संवर्द्धित और अनुगामिक होते हैं और अन्त में उसी में व्याप्त हो कर रहते हैं ।

(५) जैसे पुष्करिणी (बावड़ी) पृथ्वी से उत्पन्न (निर्मित) होती है, और यावत् अन्त में पृथ्वी में ही लीन होकर रहती है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में ही लीन हो कर रहते हैं ।

(६) जैसे कोई जल का पुष्कर (पोखर या तालाब) हो, वह जल से ही उत्पन्न (निर्मित) होता है जल से ही बढ़ता है, जल का ही अनुगामी होकर अन्त में जल को ही व्याप्त करके रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न संवर्द्धित एवं अनुगामी होकर उसी में विलीन होकर रहते हैं ।

(७) जैसे कोई पानी का बुद्बुद् (बुलबुला) पानी से उत्पन्न होता है, पानी से ही बढ़ता है, पानी का ही अनुगमन करता है और अन्त में पानी में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में व्याप्त (लीन) होकर रहते हैं ।

६६१—जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवातो, सव्वमेयं मिच्छा, ण एतं तहितं, ण एयं आहत्तहितं। इमं सच्चं, इमं तहितं, इमं आहत्तहितं, ते एवं सण्णं कुव्वंति, ते एवं सण्णं संठवेंति, ते एवं सण्णं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जातियं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा।

६६१—यह जो श्रमणों-निर्ग्रन्थों द्वारा कहा हुआ, रचा हुआ या प्रकट किया हुआ द्वादशाङ्ग गणिपिटक (आचार्यों का या गणधरों का ज्ञानपिटारा—ज्ञानभण्डार) है, जैसे कि—आचारांग, सूत्रकृतांग से लेकर दृष्टिवाद तक, यह सब मिथ्या है, यह तथ्य (सत्य) नहीं है और न ही यह यथातथ्य (यथार्थ वस्तुस्वरूप का बोधक) है, (क्योंकि यह सब ईश्वरप्रणीत नहीं है), यह जो हमारा (ईश्वरकर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद है) यह सत्य है, यह तथ्य है, यह यथातथ्य (यथार्थ रूप से वस्तुरूप प्रकाश) है। इस प्रकार वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी) ऐसी संज्ञा (मान्यता या विचारधारा) रखते, (या निश्चत करते) हैं; वे अपने शिष्यों के समक्ष भी इसी मान्यता की स्थापना करते हैं, वे सभा में भी वे इसी मान्यता से सम्बन्धित युक्तियाँ मताग्रहपूर्वक उपस्थित (प्रस्तुत) करते हैं। जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ सकता वैसे ही वे (पूर्वोक्तवादी) अपने ईश्वर—कर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद को अत्यन्ताग्रह के कारण नहीं छोड़ सकते, अतः इस मत के स्वीकार करने से उत्पन्न (तज्जातीय) दुःख (दुःख के कारणभूत कर्मसमूह) को नहीं तोड़ सकते।

६६२—ते णो [एतं] विप्पडिवेदेंति तं जहा—किरिया इ वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभित्ता भोयणाए एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा, तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

तच्चे पुरिसज्जाते इस्सरकारणिए त्ति आहिते।

६६२—वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी स्वमताग्रहग्रस्त होने से) इन (आगे कहे जाने वाली) बातों को नहीं मानते जैसे कि—पूर्वसूत्रोक्त[1] क्रिया से लेकर अनिरय (नरक से अतिरिक्त गति) तक हैं। वे नाना प्रकार के पापकर्मयुक्त (सावद्य) अनुष्ठानों के द्वारा कामभोगों के उपभोग के लिए अनेक प्रकार के कामभोगों का आरम्भ करते हैं। वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर) हैं, वे विपरीत मार्ग को स्वीकार किये हुए हैं, अथवा भ्रम में पड़े हुए हैं। इस प्रकार के ईश्वरकर्तृत्ववाद में श्रद्धा-प्रतीति रखने वाले वे धर्मश्रद्धालु राजा आदि उन मतप्ररूपक साधकों की पूजा-भक्ति करते हैं, इत्यादि पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार वे ईश्वरकारणवादी न तो इस लोक के होते हैं न परलोक के। वे उभयभ्रष्ट लोग बीच में ही कामभोगों में फंस कर दुःख पाते हैं।

यह तीसरे ईश्वरकारणवादी का स्वरूप कहा गया है।

विवेचन—ईश्वरकारणवादी तृतीयपुरुष : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत चार सूत्रों (सूत्र संख्या ६५९ से ६६२ तक) में ईश्वरकारणवाद तथा आत्माद्वैतवाद का स्वरूप, प्रतिपक्ष पर आक्षेप एवं दुष्परिणाम पर शास्त्रकार ने विभिन्न पहलुओं से प्रतिपादन किया है।

---

१. देखिए सूत्र ६५५ और उसका अर्थ

ईश्वरकारणवाद का मन्तव्य—प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में स्पष्ट कर दिया गया है, पाठक वही देखें।

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप—भी प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में बता दिया गया है। संक्षेप में उनका मन्तव्य यह है कि सारे विश्व में एक ही आत्मा है, वही प्रत्येक प्राणी में स्थित है। वह एक होता हुआ भी विभिन्न जलपात्रों के जल में प्रतिविम्बित चन्द्र के समान प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पात्र मृण्मय कहलाते हैं, तन्तु द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय कहलाते हैं, इसी प्रकार समस्त विश्व आत्मा द्वारा निर्मित होने से आत्ममय है।

इस चतुःसूत्री में निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) ईश्वरकारणवादी अथवा आत्माद्वैतवादी पुरुष का परिचय, (२) ईश्वरकारणवाद या आत्माद्वैतवाद का स्वरूप (३) ईश्वरकारणवाद या आत्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिए प्रतिपादित ७ उपमाएं (क) शरीर में उत्पन्न फोड़े की तरह, (ख) शरीरोत्पन्न अरतिवत् (ग) पृथ्वी से उत्पन्न वल्मीकवत् (घ) पृथ्वी-समुत्पन्न वृक्षवत् (ङ) पृथ्वी से निर्मित पुष्करिणीवत्, (च) जल से उत्पन्न पुष्करवत् (छ) जल से उत्पन्न बुदबुदवत्। (४) ईश्वर कर्तृत्ववाद विरोधी श्रमणनिर्ग्रन्थों का द्वादशांगी गणिपिटक ईश्वरकृत न होने से मिथ्या होने का आक्षेप और स्ववाद की सत्यता का प्रतिपादन, (५) ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी पूर्वसूत्रोक्तवत् क्रिया-अक्रिया से लेकर नरकादि गतियों को नहीं मानते। (६) अपने मिथ्यावाद के आश्रय से पापकर्म एवं कामभोगों का निःसंकोच सेवन, (७) अनार्य एवं विप्रतिपन्न ईश्वरकारणवादियों या आत्माद्वैतवादियों की दुर्दशा का पूर्ववत् वर्णन।

आत्माद्वैतवाद भी युक्तिविरुद्ध—इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी वस्तु है ही नहीं तब फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न, शास्त्राध्ययन आदि सब बातें व्यर्थ ही सिद्ध होंगी, सारे जगत् के जीवों का एक आत्मा मानने पर सुखी-दुखी, पापी-पुण्यात्मा आदि प्रत्यक्षदृश्यमान् विचित्रताएं सिद्ध नहीं होंगी, एक के पाप से सभी पापी और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति माननी पड़ेगी, जो कि आत्माद्वैतवादी को अभीष्ट नहीं है।[1]

चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी : स्वरूप और विश्लेषण—

६६३—अहावरे चउत्थे पुरिसजाते णियतिवातिए ति आहिज्जति। इह खलु पाईणं वा ४ तहेव जाव सेणावतिपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाते सुपण्णत्ते भवति।

६६३—तीन पुरुषों का वर्णन करने के पश्चात् अब नियतिवादी नामक चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है। इस मनुष्यलोक में पूर्वादि दिशाओं के वर्णन से लेकर राजा और राजसभा के सभासद सेनापतिपुत्र तक का वर्णन प्रथम पुरुषोक्त पाठ के समान जानना चाहिए। पूर्वोक्त राजा और उसके सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है। उसे धर्मश्रद्धालु जान कर (धर्मोपदेशार्थ) उसके निकट जाने का श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं। यावत् वे उसके पास जाकर कहते हैं—"मैं आपको पूर्वपुरुषकथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) धर्म का उपदेश करता हूं (उसे आप ध्यान से सुनें।)"

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक २८४ से २८७ तक का सारांश।

६६४—इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खति, एगे पुरिस णोकिरियमाइक्खति। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा कारणमावन्ना।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, तं जहा—जोऽहमंसी दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा अहं तमकासी, परो वा जं दुक्खति वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पिडड्इ वा परितप्पइ वा परो एतमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

मेधावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिडड्डामि वा परितप्पामि वा, णो अहमेतमकासि परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्पति वा नो परो एयमकासि। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

६६४—इस लोक में (या दार्शनिक जगत् में) दो प्रकार के पुरुष होते हैं—एक पुरुष क्रिया का कथन करता है, (जबकि) दूसरा क्रिया का कथन नहीं करता, (क्रिया का निषेध करता है)। जो पुरुष क्रिया का कथन करता है और जो पुरुष क्रिया का निषेध करता है, वे दोनों ही नियति के अधीन होने से समान हैं, तथा वे दोनों एक ही अर्थ वाले और एक ही कारण (नियतिवाद) को प्राप्त हैं।

ये दोनों ही अज्ञानी (बाल) हैं, अपने सुख और दुःख के कारणभूत काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि मैं जो कुछ भी दुःख पा रहा हूं, शोक (चिन्ता) कर रहा हूं, दुःख से आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) कर रहा हूं, या शारीरिक बल का नाश कर रहा हूं, पीड़ा पा रहा हूं, या संतप्त हो रहा हूं, वह सब मेरे ही किये हुए कर्म (कर्मफल) हैं, तथा दूसरा जो दुःख पाता है, शोक करता है, आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल का क्षय करता है, अथवा पीड़ित होता है या संतप्त होता है, वह सब उसके द्वारा किये हुए कर्म (कर्मफल) हैं। इस कारण वह अज्ञजीव (काल, कर्म, ईश्वर आदि को सुख-दुःख का कारण मानता हुआ) स्वनिमित्तक (स्वकृत) तथा परनिमित्तक (परकृत) सुखदुःखादि को अपने तथा दूसरे के द्वारा कृत कर्मफल समझता है, परन्तु एकमात्र नियति का ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला पुरुष तो यह समझता है कि 'मैं जो कुछ दुःख भोगता हूं, शोकमग्न होता हूं या संतप्त होता हूं, वे सब मेरे किये हुए कर्म (कर्मफल) नहीं हैं, तथा दूसरा पुरुष जो दुःख पाता है, शोक आदि से संतप्त—पीड़ित होता है, वह भी उसके द्वारा कृतकर्मों का फल नहीं है, (अपितु यह सब नियति का प्रभाव है)'। इस प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष अपने या दूसरे के निमित्त से प्राप्त हुए दुःख आदि को यों मानता है कि ये सब नियतिकृत (नियति के कारण से हुए) हैं, किसी दूसरे के कारण से नहीं।

६६५—से बेमि—पाईणं वा ४ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमावज्जंति, ते एवं परियायमावज्जंति, ते एवं विवेगमावज्जंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगइ यंति। उवेहाए णो एयं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव णिरए ति वा अणिरए ति वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

चउत्थे पुरिसजाते णियइवाइए त्ति आहिए।

६६५—अतः मैं (नियतिवादी) कहता हूं कि पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना (संघात) को प्राप्त करते हैं, वे नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करते हैं, वे नियतिवशात् ही शरीर से पृथक् (मृत) होते हैं, वे नियति के कारण ही काना, कुबड़ा आदि नाना प्रकार की दशाओं को प्राप्त करते हैं, नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त करते हैं।"

(श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—) इस प्रकार नियति को ही समस्त अच्छे-बुरे कार्यों का कारण मानने की कल्पना (उत्प्रेक्षा) करके (निःसंकोच एवं कर्मफल प्राप्ति से निश्चिन्त होने से) नियतिवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते—क्रिया, अक्रिया से लेकर प्रथम सूत्रोक्त नरक और नरक से अतिरिक्त गति तक के पदार्थ। इस प्रकार वे नियतिवाद के चक्र में पड़े हुए लोग नाना प्रकार के सावद्यकर्मों का अनुष्ठान करके काम-भोगों का उपभोग करते हैं, इसी कारण (नियतिवाद में श्रद्धा रखने वाले) वे (नियतिवादी) अनार्य हैं, वे भ्रम में पड़े हैं। वे न तो इस लोक के होते हैं और न परलोक के, अपितु काम-भोगों में फंस कर कष्ट भोगते हैं।

यह चतुर्थपुरुष नियतिवादी कहलाता है।

६६६—इच्चेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

६६६—इस प्रकार ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, विभिन्न शील (आचार) वाले, पृथक् पृथक् दृष्टि (दर्शन) वाले, नाना रुचि वाले, अलग-अलग आरम्भ धर्मानुष्ठान वाले तथा विभिन्न अध्यवसाय (पुरुषार्थ) वाले हैं। इन्होंने माता-पिता आदि गृहस्थाश्रमीय पूर्वसंयोगों को तो छोड़ दिया, किन्तु आर्यमार्ग (मोक्षपथ) को अभी तक पाया नहीं है। इस कारण वे न तो इस लोक के रहते हैं और न ही परलोक के होते हैं, किन्तु बीच में ही (सांसारिक) काम-भोगों में ग्रस्त होकर कष्ट पाते हैं।

विवेचन—चतुर्थ पुरुषः नियतिवादी—स्वरूप और विश्लेषण—

प्रस्तुत चार सूत्रों में से प्रथम तीन सूत्रों में चतुर्थ पुरुष नियतिवादी के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का तथा चतुर्थ सूत्र में पूर्वोक्त चारों पुरुषों द्वारा आर्यमार्ग पाने में असफलता का निरूपण है।

नियतिवाद के सम्बन्ध में यहाँ निम्नोक्त तथ्य प्रतिफलित होते हैं—

(१) नियतिवाद के प्ररूपक और उनके अनुगामी।
(२) क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के प्रभाव में।
(३) एकान्त-नियतिवादविरोधी सुखदुःखादि स्व-स्वकृतकर्मफलानुसार मानते हैं।
(४) नियतिवादी सुखदुःखादि को स्वकृतकर्मफल न समझ कर नियतिकृत मानते हैं।

(५) नियति के प्रभाव से शरीर-रचना, बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ या विविध विरूपताएँ प्राप्त होती हैं।

(६) भगवान् महावीर का मन्तव्य—एकान्तनियतिवादी नियति को समस्त कार्यों की उत्तरदायी मान कर निःसंकोच सावद्यकर्म एवं कामभोग सेवन करके उक्त कर्मबन्ध के फलस्वरूप संसार में ही फंसे रह कर नाना कष्ट पाते हैं ।[1]

एकान्त नियतिवाद-समीक्षा—नियतिवाद का मन्तव्य यह है कि मनुष्यों को जो कुछ भी भला-बुरा, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि प्राप्त होना नियत निश्चित है, वह उसे अवश्य ही प्राप्त होता है। जो होनहार नहीं है, वह नहीं होता, और जो होनहार है, वह हुए बिना नहीं रहता।[2] अपने-अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समानरूप से प्रयत्न करने पर भी किसी के कार्य की सिद्धि होती है, किसी के कार्य की नहीं, उसमें नियति ही कारण है। नियति को छोड़ कर काल, ईश्वर, कर्म आदि को कारण मानना अज्ञान है। नियतिवादी मानता है कि स्वयं को या दूसरों को प्राप्त होने वाले सुख-दुःखादि स्वकृतकर्म के फल नहीं हैं, वे सब नियतिकृत हैं, जबकि अज्ञानी लोग प्राप्त सुख-दुःखादि को ईश्वरकृत, कालकृत या स्वकर्मकृत मानते हैं। शुभ कार्य करने वाले दुःखी और अशुभ कार्य करने वाले सुखी दृष्टिगोचर होते हैं, इसमें नियति की ही प्रबलता है। क्रियावादी जो सत्क्रिया करता है, या अक्रियावादी जो अक्रिया का प्रतिपादन या असत्क्रिया (दुःखजनक क्रिया) में प्रवृत्ति करता है, वह सब नियति की ही प्रेरणा से। जीव स्वाधीन नहीं है, नियति के वश है। सभी प्राणी नियति के अधीन हैं।

यह एकान्तनियतिवाद युक्तिविरुद्ध है। नियति उसे कहते हैं, जो वस्तुओं को अपने-अपने स्वभाव में नियत करती है। ऐसी स्थिति में नियति को अपने (नियति के) स्वभाव में नियत करने वाली दूसरी नियति की, और दूसरी को स्व-स्वभाव में नियत करने के लिए तीसरी नियति की आवश्यकता रहेगी, यों अनवस्था दोष आएगा। यदि यह कहें कि नियति अपने स्वभाव में स्वतः नियत रहती है, तो यह क्यों नहीं मान लेते कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्वतः नियत रहते हैं, उन्हें स्व-स्वभाव में नियत करने के लिए नियति नामक किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

नियति नियत स्वभाववाली होने के कारण जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान विचित्रता एवं विविधरूपता को उत्पन्न नहीं कर सकती, यदि वह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करने लगेगी तो स्वयं विचित्र स्वभाव वाली हो जाएगी, एक स्वभाव वाली नहीं रह सकेगी। अतः जगत् में दृश्यमान विचित्रता के लिए कर्म को मानना ही उचित है। प्राणिवर्ग अपने-अपने कर्मों की विभिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। स्वकृत कर्मों का फल माने बिना जगत् की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। अगर नियति को विचित्र स्वभाववाली मानते हैं तो वह कर्म ही है, जिसे नियतिवादी 'नियति' शब्द से कहते हैं। दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रहता। वास्तव में, जिस प्रकार वृक्षों का मूल सींचने से उनकी शाखाओं में फल लगते हैं, उसी प्रकार इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोग आगामी काल में होता है। मनुष्य पूर्वजन्म में शुभाशुभ कर्म संचित करता है,

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८८-२८९ का सारांश।

२. प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः॥

—सूत्रकृ. शी. वृत्ति. प. २८८ में उद्धृत

उसके अनुसार स्व-स्वकृत कर्मपरिणाम को सुर या असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है।[1] कर्म का फल नियत है, अवश्यम्भावी है, उसे न मानकर एकमात्र नियति को सबका कारण मानना मिथ्या है।

एकान्तनियतिवादी अपने शुभाशुभ कर्मों का दायित्व स्वयं पर न लेकर नियति पर डाल देता है, इसके कारण वह पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरकादि परलोक, सुकृत-दुष्कृत, शुभाशुभफल आदि का चिन्तन छोड़कर निःसंकोच सावद्य अनुष्ठानों एवं काम-भोगों में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार नियति-वादी उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, जब कि कर्म को मानने वाला अशुभकर्मों से दूर रहेगा, तथा कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ करेगा और एक दिन सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

चारों कोटि के पुरुष : मिथ्यावाद प्ररूपक—पृथक्-पृथक् बुद्धि, अभिप्राय, रुचि, दृष्टि, शील, आरम्भ और निश्चयवाले ये चारों पुरुष एकान्तवादी तथा अपने-अपने मताग्रह के कारण अधर्म को भी धर्म समझने वाले हैं, इस कारण ये चारों मिथ्यावादप्ररूपक हैं। अतः ये स्वकृतकर्मफलानुसार संसार के काम-भोगरूपी कीचड़ में फंस कर दुःखी होते हैं।

भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादकपरिज्ञानसूत्र—

६६७—से बेमि पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति; तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं खेत्त-वत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जतरा वा। तेसिं च णं जण-जाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तहप्प-कारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता, सतो वा वि एगे णायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता। असतो वा वि एगे नायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता।

६६७—(श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—) मैं ऐसा कहता हूँ कि पूर्व आदि चारों दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्रीय और कोई नीचगोत्रीय होते हैं, कोई मनुष्य लम्बे कद के (ऊंचे) और कोई ठिगने कद के (ह्रस्व) होते हैं, किसी के शरीर का वर्ण सुन्दर होता है, किसी का असुन्दर होता है, कोई सुरूप होते हैं, कोई कुरूप। उनके पास (अपने स्वामित्व के थोड़े या वहुत) खेत और मकान आदि होते हैं, उनके अपने जन (परिवार, कुल आदि के लोग) तथा जनपद (देश) परिगृहीत (अपने स्वामित्व के) होते हैं, जैसे कि किसी का परिग्रह थोड़ा और किसी का अधिक। इनमें से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलों में जन्म लेकर विषय-भोगों की आसक्ति छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए (दीक्षाग्रहण हेतु) उद्यत होते हैं। कई विद्यमान ज्ञातिजन (स्वजन), अज्ञातिजन (परिजन) तथा उपकरण (विभिन्न भोगोपभोग-साधन या धन-धान्यादि वैभव) को छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने

---

१. यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते, मूलसिक्तेपु वृक्षेपु फलं शाखासु जायते ॥ १ ॥
यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभाशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या, तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि हि ॥ २ ॥
—सू. कृ. शी. वृत्ति प. २८९ में उद्धृत.

(प्रव्रजित होने) के लिए समुद्यत होते हैं, अथवा कई अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते हैं।

६६८—जे ते सतो वा असतो वा णायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता पुव्वामेव तेहिं णातं भवति, तं जहा—इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा—खेत्तं मे, वत्थुं मे, हिरण्णं मे, सुवण्णं मे, धणं मे, धण्णं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्त-रयण-संतसार-सावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा में, फासा मे, एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं।

६६८—जो विद्यमान अथवा अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षाचर्या (साधुदीक्षा) के लिए समुत्थित होते हैं, इन दोनों प्रकार के ही साधकों को पहले से ही यह ज्ञात होता है कि इस लोक में पुरुषगण अपने से भिन्न वस्तुओं (पर-पदार्थों) को उद्देश्य करके झूठमूठ ही ऐसा मानते हैं कि ये मेरी हैं, मेरे उपभोग में आएँगी, जैसे कि—यह खेत (या जमीन) मेरा है, यह मकान मेरा है, यह चाँदी मेरी है, यह सोना मेरा है, यह धन मेरा है, धान्य मेरा है, यह कांसे के वर्तन मेरे हैं, यह बहुमूल्य वस्त्र या लोह आदि धातु मेरा है, यह प्रचुर धन (गाय, भैंस आदि पशु) यह वहुत-सा कनक, ये रत्न, मणि, मोती, शंखशिला, प्रवाल (मूंगा), रक्तरत्न (लाल), पद्मराग आदि उत्तमोत्तम मणियाँ और पैत्रिक नकद धन, मेरे हैं, ये कर्णप्रिय शब्द करने वाले वीणा, वेणु आदि वाद्य-साधन मेरे हैं, ये सुन्दर और रूपवान् पदार्थ मेरे हैं, ये इत्र, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ मेरे हैं, ये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट एवं सरस खाद्य पदार्थ मेरे हैं, ये कोमल-कोमल स्पर्श वाले गद्दे, तोशक आदि पदार्थ मेरे हैं। ये पूर्वोक्त पदार्थ-समूह मेरे कामभोग के साधन हैं, मैं इनका योगक्षेम (अप्राप्त को प्राप्त करने और प्राप्त की रक्षा) करने वाला हूँ, अथवा उपभोग करने में समर्थ हूँ।"

६६९—से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा—इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो कामभोगा ! इमं मम अण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा, इमाओ मे अण्णतरातो दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोयह अणिट्ठातो अकंतातो अप्पियाओ असुहाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहातो। एवामेव नो लद्धपुव्वं भवति।

६६९—वह (प्रव्रजित अथवा प्रव्रज्या लेने का इच्छुक) मेधावी साधक स्वयं पहले से ही (इनका उपभोग करने से पूर्व ही) यह भलीभाँति जान ले कि "इस संसार में जब मुझे कोई रोग या आतंक उत्पन्न होता है, जो कि मुझे इष्ट नहीं है, कान्त (मनोहर) नहीं है, प्रिय नहीं है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, अधिक पीड़ाकारी (मनोव्यथा पैदा करने वाला) है, दुःखरूप है, सुखरूप नहीं है, (तब यदि मैं प्रार्थना करूं कि) हे भय का अन्त करने वाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो! मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अतीव दुःखद, दुःखरूप या असुखरूप रोग, आतंक आदि को तुम बांट कर ले लो; क्योंकि मैं इस पीड़ा, रोग या आतंक से बहुत दुःखी हो रहा हूँ, मैं चिन्ता या शोक से व्याकुल हूँ, इनके कारण मैं बहुत चिन्ताग्रस्त हूँ, मैं अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ, मैं बहुत ही

वेदना पा रहा हूँ, या अतिसंतप्त हूँ । अतः तुम सब मुझे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अवमान्य, दुःखरूप या असुखरूप मेरे किसी एक दुःख से या रोगातंक से मुझे मुक्त करा दो। तो वे (धनधान्यादि कामभोग) पदार्थ उक्त प्रार्थना सुन कर दुःखादि से मुक्त करा दें, ऐसा कभी नहीं होता ।

६७०—इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्वि कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं कामभोगे विप्पजहिस्सामो ।

६७०—इस संसार में वास्तव में, (अत्यन्त परिचित वे धन-धान्यादि परिग्रह विशेष तथा शब्दादि) काम-भोग दुःख से पीड़ित उस व्यक्ति की रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं होते । इन काम-भोगों का उपभोक्ता किसी समय तो (दुःसाध्यव्याधि, जराजीर्णता, या अन्य शासनादि का उपद्रव या मृत्युकाल आने पर) पहले से ही स्वयं इन काम-भोग पदार्थों को (बरतना) छोड़ देता है, अथवा किसी समय (द्रव्यादि के अभाव में) (विषयोन्मुख) पुरुष को काम-भोग (ये कामभोग्य साधन) पहले ही छोड़ (कर चल) देते हैं । इसलिए ये काम-भोग मेरे से भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ । फिर हम क्यों अपने से भिन्न इन काम-भोगों (धन धान्यादि तथा ज्ञातिजनादि परिग्रह-विशेष तथा शब्दादि कामभोग्य पदार्थों) में मूर्च्छित—आसक्त हों । इस प्रकार इन सबका ऐसा स्वरूप जानकर (अब) हम इन कामभोगों का परित्याग कर देंगे ।

६७१—से मेहावी जाणेज्जा बाहिरंगमेतं, इणमेव उवणीततरागं, तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भज्जा मे, भगिणी मे, पुत्ता मे, धूता मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, पेसा मे, सुही मे, सयण-संगंथ-संथुता मे, एते खलु मे णायओ, अहमवि एतेसिं ।

६७१—(इस प्रकार वह विवेकशील) बुद्धिमान् साधक (निश्चितरूप से) जान ले, ये सब काम-भोगादिपदार्थ बहिरंग—बाह्य हैं, मेरी आत्मा से भिन्न (परभाव) हैं । (सांसारिक दृष्टि वाले मानते हैं कि) इनसे तो मेरे निकटतर ये ज्ञातिजन (स्वजन) हैं—जैसे कि (वह कहता है—) "यह मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, ये मेरे दास (नौकर-चाकर) हैं, यह मेरा नाती है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा मित्र है, ये मेरे पहले और पीछे के स्वजन एवं परिचित सम्बन्धी हैं । ये मेरे ज्ञातिजन हैं, और मैं भी इनका आत्मीय जन हूँ ।"

६७२—से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु मम अण्णतरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे, से हंता भयंतारो णायओ इमं ममऽण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परिआदियध[1] अणिट्ठं जाव नो सुहं, ना हं[2] दुक्खामि वा जाव परितप्पामि वा, इमातो मं

---

१. तुलना—'न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥
—उत्तराध्ययन, अ. १३ गा. २३

२. पाठान्तर है—'ताऽहं', 'माऽहं' । ताऽहं होने पर व्याख्या में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है ।

अन्नयरातो दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहातो। एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति।

६७२—(किन्तु उक्त शास्त्रज्ञ) बुद्धिमान साधक को स्वयं पहले से ही सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए कि इस लोक में मुझे किसी प्रकार का कोई दुःख या रोग-आतंक (जो कि मेरे लिए अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय यावत् दुःखदायक है) पैदा होने पर मैं अपने ज्ञातिजनों से प्रार्थना करूं कि हे भय का अन्त करने वाले ज्ञातिजनों! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय यावत् दुःखरूप या असुखरूप दुःख या रोगातंक को आप लोग बराबर बांट लें, ताकि मैं इस दुःख से दुःखित, चिन्तित, यावत् अतिसंतप्त न होऊं। आप सब मुझे इस अनिष्ट यावत् उत्पीड़क दुःख या रोगातंक से मुक्त करा (छुटकारा दिला) दें।" इस पर वे ज्ञातिजन मेरे दुःख और रोगातंक को बांट कर ले लें, या मुझे इस दुःख या रोगातंक से मुक्त करा दें, ऐसा कदापि नहीं होता।

६७३—तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अण्णयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव नो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णतरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा जाव परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णतरातो दुक्खातो रोगातंकातो परिमोएमि अणिट्ठातो जाव नो सुहातो। एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति।

६७३—अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन मेरे ज्ञातिजनों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाए, जो अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखकर हो, तो मैं उन भयत्राता ज्ञातिजनों के अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखरूप उस दुःख या रोगातंक को बांट कर ले लूं, ताकि वे मेरे ज्ञातिजन दुःख न पाएँ यावत् वे अतिसंतप्त न हों, तथा मैं उन ज्ञातिजनों को उनके किसी अनिष्ट यावत् असुखरूप दुःख या रोगातंक से मुक्त कर दूं, ऐसा भी कदापि नहीं होता।

६७४—अण्णस्स दुक्खं अण्णो नो परियाइयति, अन्नेण कडं कम्मं अन्नो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयति, पत्तेयं उववज्जति, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सण्णा, पत्तेयं मण्णा, एवं विण्णू, वेदणा, इति खलु णातिसंयोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसो वा एगता पुव्वि णातिसंयोगे विप्पजहति, नातिसंयोगा वा एगता पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु णातिसंयोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंयोगेहिं मुच्छामो? इति संखाए णं वयं णातिसंयोगे विप्पजहिस्सामो।

६७४—(क्योंकि) दूसरे के दुःख को दूसरा व्यक्ति बांट कर नहीं ले सकता। दूसरे के द्वारा कृत कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता। प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्मता है, आयुष्य क्षय होने पर अकेला ही मरता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही (धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्णादि परिग्रह, शब्दादि विषयों या माता-पितादि के संयोगों का) त्याग करता है, अकेला ही प्रत्येक व्यक्ति इन वस्तुओं का उपभोग या स्वीकार करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही झंझा (कलह) आदि कषायों को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों का परिज्ञान (संज्ञान) करता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही मनन-चिन्तन करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही विद्वान् होता है, (उसके बदले में दूसरा कोई विद्वान् नहीं बनता), प्रत्येक व्यक्ति

अपने-अपने सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से (अन्यकृत कर्म का फल अन्य नहीं भोगता, तथा प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-जरा-मरणादि भिन्न-भिन्न हैं इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञातिजनों का संयोग दुःख से रक्षा करने या पीड़ित मनुष्य को शान्ति या शरण देने में समर्थ नहीं है। कभी (क्रोधादिवश या मरणकाल में) मनुष्य स्वयं ज्ञातिजनों के संयोग को पहले ही छोड़ देता है अथवा कभी ज्ञातिसंयोग भी मनुष्य के दुर्व्यवहार-दुराचरणादि देखकर) मनुष्य को पहले छोड़ देता है।" अतः (मेधावी साधक यह निश्चित जान ले कि) 'ज्ञातिजनसंयोग मेरे से भिन्न है, मैं भी ज्ञातिजन संयोग से भिन्न हूँ।' तब फिर हम अपने से पृथक् (आत्मा से भिन्न) इस ज्ञातिजनसंयोग में क्यों आसक्त हों ? यह भलीभांति जानकर अब हम ज्ञाति-संयोग का परित्याग कर देंगे।

६७५—से मेहावी जाणेज्जा बाहिरगमेतं,[1] इणमेव उवणीयतरागं, तं जहा—हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, ऊरू मे, सीसं मे, उदरं मे, सीलं मे, आउं मे, बलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खु मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाति। जंसि वयातो परिजूरति तं जहा—आऊओ बलाओ वण्णाओ तताओ छाताओ सोताओ जाव फासाओ, सुसंधीता संधी विसंधी भवति, वलितरंगे गाते भवति, किण्हा केसा पलिता भवंति, तं जहा—जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवचियं एतं पि य मे अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति।

६७५—परन्तु मेधावी साधक को यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि ज्ञातिजनसंयोग तो बाह्य वस्तु (आत्मा से भिन्न-परभाव) है ही, इनसे भी निकटतर सम्बन्धी ये सब (शरीर के सम्बन्धित अवयवादि) हैं, जिन पर प्राणी ममत्व करता है, जैसे कि—ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी बांहें हैं, ये मेरी जांघें हैं, यह मेरा मस्तक है, यह मेरा शील (स्वभाव या आदत) है, इसी तरह मेरी आयु, मेरा बल, मेरा वर्ण (रंग), मेरी चमड़ी (त्वचा) मेरी छाया (अथवा कान्ति) मेरे कान, मेरे नेत्र, मेरी नासिका, मेरी जिह्वा, मेरी स्पर्शेन्द्रिय, इस प्रकार प्राणी 'मेरा मेरा' करता है। (परन्तु याद रखो) आयु अधिक होने पर ये सब जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि (वृद्ध होने के साथ-साथ मनुष्य) आयु से, बल से, वर्ण से, त्वचा से, कान से, तथा स्पर्शेन्द्रियपर्यन्त सभी शरीर सम्बन्धी पदार्थों से क्षीण—हीन हो जाता है। उसकी सुघटित (गठी हुई) दृढ़ सन्धियाँ (जोड़) ढीली हो जाती हैं, उसके शरीर की चमड़ी सिकुड़ कर नसों के जाल से वेष्टित (तरंगरेखावत्) हो जाती है। उसके काले केश सफेद हो जाते हैं, यह जो आहार से उपचित (वृद्धिगत) औदारिक शरीर है, वह भी क्रमशः अवधि (आयुष्य) पूर्ण होने पर छोड़ देना पड़ेगा।

६७६—एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिते दुहतो लोगं जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव, थावरा चेव।

६७६—यह जान कर भिक्षाचर्या स्वीकार करने हेतु प्रव्रज्या के लिए समुद्यत साधु लोक को दोनों प्रकार से जान ले, जैसे कि—लोक जीवरूप है और अजीवरूप है, तथा त्रसरूप है और स्थावररूप है।

---

१. पाठान्तर—बाहिरए ताव एस संजोगे —चूर्णि

विवेचन—भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादक परिज्ञानसूत्र—प्रस्तुत दशसूत्रों (सू. सं. ६६७ से ६७६ तक) में आत्मा से भिन्न समस्त सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों एवं काम-भोगों से विरक्त होकर प्रव्रजित होने की भूमिका के कतिपय परिज्ञानसूत्र प्रस्तुत किये हैं।

वे इस प्रकार हैं—

(१) आर्य-अनार्य आदि अनेक प्रकार के मनुष्यों में से कई क्षेत्र, वास्तु तथा जन (ज्ञातिजन आदि) एवं जानपद का थोड़ा या बहुत परिग्रह रखते हैं।

(२) उनमें से तथाकथित कुलों में जन्मे कुछ व्यक्ति प्रव्रजित होने के लिए तत्पर होते हैं।

(३) उनमें से कई विद्यमान और कई अविद्यमान स्वजन, परिजन एवं भोगोपभोग साधनों को छोड़ कर दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यत होते हैं।

(४) उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सांसारिक दृष्टि वाले क्षेत्र-वास्तु आदि परिग्रह एवं शब्दादि काम-भोगों को अपना और स्वयं को उनका समझते हैं।

(५) वह दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये कामभोग किसी अनिष्ट दुःख या रोग के होने पर प्रार्थना करने पर भी उस दुःख या रोगातंक को बांट लेने या उससे छुड़ाने में समर्थ नहीं होते, न ही रक्षण एवं शरणप्रदान में समर्थ होते हैं।

(६) बल्कि कभी तो मनुष्य रोगादि कारणवश स्वयं इन कामभोगों को पहले छोड़ देता है, या कभी ये मनुष्य को छोड़ देते हैं।

(७) अतः ये कामभोग मुझ से भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, इस परिज्ञान को लेकर कामभोगों में मूर्च्छित न होकर उनका परित्याग करने का संकल्प करता है।

(८) वह मेधावी साधक यह जान ले कि कामभोग तो प्रत्यक्ष वाह्य हैं, परन्तु इनसे भी निकटतर माता-पिता आदि ज्ञातिजन हैं, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है, ज्ञातिजनों को अपना और अपने को ज्ञातिजनों का मानता है।

परन्तु वह मेधावी दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये ज्ञातिजन भी किसी अनिष्ट, दुःख या रोगातंक के आ पड़ने पर प्रार्थना करने पर भी उस अप्रिय दुःख या रोगातंक को बांट लेने या उससे छुड़ाने में समर्थ नहीं होते, न ही वे त्राण या शरण प्रदान कर सकते हैं। और न ही वह मनुष्य उन ज्ञातिजनों की प्रार्थना पर उन पर आ पड़े हुए अनिष्ट दुःख या रोगातंक को बांट कर ले सकता है, न उससे उन्हें, छुड़ा सकता है।

(९) कारण यह है कि दूसरे का दुःख न तो दूसरा ले सकता है, न ही अन्यकृत कर्म का फल अन्य भोग सकता है। जीव अकेला जन्मता, मरता है, परिग्रहादि संचय करता है, उनका उपभोग करता है, व्यक्ति अकेला ही कषाय करता है, अकेला ही ज्ञान प्राप्त करता है, अकेला ही चिन्तन-मनन, अकेला ही विद्वान् होता है, अकेला ही सुख-दुःखानुभव करता है, इसलिए ज्ञातिजन रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं हो सकते। कभी तो किसी कारणवश मनुष्य पहले ही अपने ज्ञातिजनों को छोड़ देता है, कभी वे उसे पहले छोड़ देते हैं। इसलिए ज्ञातिजन मुझ से भिन्न हैं, मैं ज्ञातिजन से भिन्न हूँ, फिर क्यों ज्ञातिजनों के साथ आसक्तिसम्बन्ध रखूं? यह जान कर ही वह ज्ञातिजनों के प्रति आसक्तियुक्त संयोग को छोड़ने का संकल्प करता है।

(१०) ज्ञातिजन तो प्रत्यक्षतः भिन्न प्रतीत होते हैं, उनसे भी निकटतर ये शरीरसम्बन्धित हाथ पैर आदि अवयव अथवा आयु, बल, वर्ण, कान्ति आदि पदार्थ हैं, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है। यद्यपि वय से वृद्ध होने पर उसके इन सब अंगों या शरीरसम्बद्ध पदार्थों का ह्रास हो जाता है तथा एक दिन आहारादि से संवर्धित इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ता है।

(११) यह जान कर भिक्षावृत्ति के लिए समुत्थित वह भिक्षु जीव (आत्मा) और अजीव (आत्मबाह्य) का, तथा त्रस और स्थावर जीवों का सम्यक् परिज्ञान कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि इन्हीं परिज्ञानगर्भित वैराग्योत्पादक सूत्रों के आधार पर वह प्रव्रजित होने वाला साधक दीक्षाग्रहण से पूर्व क्षेत्र. वास्तु आदि परिग्रहों, शब्दादि काम-भोगों, ज्ञातिजनों तथा शरीर सम्बन्धित पदार्थों से अवश्य ही विरक्त हो जाता है।[1]

गृहस्थवत् आरम्भपरिग्रहयुक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से मुक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु—

६७७—[१] इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तस-थावरा पाणा ते सयं समारंभंति, अण्णेण वि समारंभावेंति, अण्णं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

[२] इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं चेव परिगिण्हंति, अण्णेण वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

[३] इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरं चरिस्सामो, कस्स णं तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं। अंजू चेते अणुवरया अणुवट्ठिता पुणरवि तारिसगा चेव।

६७७—[१] इस लोक में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योंकि गृहकार्यों को करने में उन्हें आरम्भ करना तथा धन-धान्यादि का परिग्रह भी रखना पड़ता है), कई श्रमण और ब्राह्मण (माहन) भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योंकि वे भी गृहस्थ की तरह कई सावद्यक्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, धन-धान्य, मकान, खेत आदि परिग्रह भी रखते हैं) वे गृहस्थ तथा श्रमण और ब्राह्मण इन त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ करते हैं, दूसरे के द्वारा भी आरम्भ कराते हैं और आरम्भ करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा मानते-अनुमोदन करते हैं।

(२) इस जगत् में गृहस्थ तो आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते ही हैं, कई श्रमण एवं माहन भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं। ये गृहस्थ तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के काम-भोगों को स्वयं ग्रहण करते हैं, दूसरे से भी ग्रहण कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक २९२ से २९४ तक का सारांश.

(३) इस जगत् में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, कई श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ परिग्रह से युक्त होते हैं। (ऐसी स्थिति में आत्मार्थी संयमी भिक्षु विचार करता है—) मैं (आर्हत् धर्मानुयायी मुनि) आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ। जो गृहस्थ हैं, वे आरम्भ और परिग्रह-सहित हैं ही, कोई-कोई श्रमण (शाक्य भिक्षु) तथा माहन भी आरम्भ-परिग्रह में लिप्त हैं। अतः आरम्भ-परिग्रह युक्त पूर्वोक्त गृहस्थवर्ग एवं श्रमण-माहनों के आश्रय से मैं ब्रह्मचर्य (मुनिधर्म) का आचरण करूंगा। (प्रश्न—१) आरम्भ-परिग्रह-सहित रहने वाले गृहस्थवर्ग और कतिपय श्रमण-ब्राह्मणों के निश्राय में ही जब रहना है, तब फिर इनका त्याग करने का क्या कारण है? (उत्तर—) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ-परिग्रह-सहित होते हैं, वैसे पीछे भी होते हैं, एवं कोई-कोई श्रमण माहन प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व जैसे आरम्भ-परिग्रहयुक्त होते हैं, इसी तरह बाद में भी आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रहते हैं। इसलिए ये लोग सावद्य आरम्भ-परिग्रह से निवृत्त नहीं हैं, अतः शुद्ध संयम का आचरण करने के लिए, शरीर टिकाने के लिए इनका आश्रय लेना अनुचित नहीं है।

६७८—जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं इति संखाए दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे[1] इति भिक्खू रीएज्जा।

से बेमि-पाईणं वा ४। एवं से परिण्णातकम्मे, एवं से विवेयकम्मे, एवं से वियंतकारए भवतीति मक्खातं।

६७८—आरम्भ-परिग्रह से युक्त रहने वाले जो गृहस्थ हैं, तथा जो सारम्भ सपरिग्रह श्रमण-माहन हैं, वे इन दोनों प्रकार (आरम्भ एवं परिग्रह) की क्रियाओं से या राग और द्वेष से अथवा पहले और पीछे या स्वतः और परतः पापकर्म करते रहते हैं। ऐसा जान कर साधु आरम्भ और परिग्रह अथवा राग और द्वेष दोनों के अन्त से (विहीनता से) इनसे अदृश्यमान (रहित) हो इस प्रकार संयम में प्रवृत्ति करे।

इसलिए मैं कहता हूँ—पूर्व आदि (चारों) दिशाओं से आया हुआ जो (पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त) भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित है, वही कर्म के रहस्य को जानता है, इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होता है तथा वही (एक दिन) कर्मों का अन्त करने वाला होता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—गृहस्थवत् आरम्भ-परिग्रह युक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से मुक्त निर्ग्रन्थभिक्षु— प्रस्तुत दोनों सूत्रों में गृहस्थ के समान आरम्भपरिग्रह-दोषलिप्त श्रमण-माहनों की दशा और निर्ग्रन्थ भिक्षु की स्थिति का अन्तर बतलाया गया है। निम्नोक्त चार तथ्य इसमें से फलित होते हैं—

(१) गृहस्थ के समान सारम्भ और सपरिग्रह श्रमण एवं माहन त्रस-स्थावर प्राणियों का आरम्भ करते, कराते और अनुमोदन करते हैं।

(२) गृहस्थवत् आरम्भ परिग्रह युक्त श्रमण एवं माहन सचित्त-अचित्त काम-भोगों को ग्रहण करते, कराते तथा अनुमोदन करते हैं।

१. तुलना—'दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे....' —आचारांग विवेचन अ. ३, सु. १११, पृ. ९२
'दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहि—' —आचारांग विवेचन अ. ३, सू. १२३, पृ. १०५
'उभो अंते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति....'।
—सुत्तपिटक संयुक्तनिकाय पालि भाग २, पृ. ६६

(३) गृहस्थ की तरह कतिपय श्रमणों एवं माहनों को आरम्भ परिग्रह युक्त देखकर आत्मार्थी निर्ग्रन्थ भिक्षु विचार करता है—"मैं स्वयं निरारम्भ निष्परिग्रह रहकर इन सारम्भ-सपरिग्रह गृहस्थों एवं श्रमण-माहनों के आश्रय से अपने मुनिधर्म (तप-संयम) का निर्वाह करूंगा, किन्तु मैं इनकी तरह पहले (दीक्षा से पूर्व) और पीछे (दीक्षा के बाद) आरम्भ परिग्रह में लिप्त तथा पापकर्मजनक राग-द्वेष या इनकी क्रियाओं से दूर—अदृश्य, अलिप्त रह कर संयम में प्रवृत्ति करूंगा।"

(४) निर्ग्रन्थ साधु आरंभ-परिग्रहवान् गृहस्थों एवं श्रमण-माहनों से दूर रहता है—उनके संसर्ग का त्याग करता है, तथापि उनके आश्रय-निश्रा से मुनिधर्म के पालन का विचार क्यों करता है? इस प्रश्न का समाधान मूल पाठ में ही कर दिया गया है। वह यह कि वे तो आरंभ-परिग्रह में लिप्त हैं ही, निरवद्य भिक्षा के लिए निर्ग्रन्थ साधु उनका आश्रय ले तो भी वे आरम्भ-परिग्रह करेंगे, न ले तो भी करेंगे अत: संयमपालन के लिए शरीर टिकाना आवश्यक है तो पहले से ही आरम्भ-परिग्रह में लिप्त गृहस्थों और ऐसे श्रमण-माहनों का आश्रय लेने में कोई दोष नहीं है। इस कारण साधु इनका त्याग करके भी इनके आश्रय से निर्दोष संयम का पालन करते हैं।

(५) जो आत्मार्थी भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित होता है, वह कर्म-रहस्यज्ञ होता है, वह कर्मबन्धन के कारणों से दूर रहता है, और एक दिन कर्मों का सर्वथा अन्त कर देता है।[1]

पंचम पुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण—

६७९—तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकायिया जाव तसकायिया। से जहानामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता णं हंतव्वा, णं अज्जावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, न परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

६७९ सर्वज्ञ भगवान् तीर्थंकर देव ने षट्जीवनिकायों (सांसारिक प्राणियों) को कर्मबन्ध के हेतु बताये हैं। जैसे कि—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षट्जीवनिकाय हैं। जैसे कोई व्यक्ति मुझे डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले या पत्थर से, अथवा घड़े के फूटे हुए ठीकरे आदि से मारता है, अथवा चाबुक आदि से पीटता है, अथवा अंगुली दिखा कर धमकाता है, या डाँटता है, अथवा ताड़न करता है, या सताता—संताप देता है, अथवा क्लेश करता है, अथवा उद्विग्न करता है, या उपद्रव करता है, या डराता है, तो मुझे दुःख (असाता) होता है, यहाँ तक कि मेरा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे मारने जैसा दुःख और भय का अनुभव होता है। इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, समस्त प्राणी और सर्व सत्त्व, डंडे, मुक्के, हड्डी, चाबुक अथवा ठीकरे से मारे जाने या पीटे जाने, अंगुली दिखाकर धमकाए या डाँटे जाने, अथवा ताड़न किये जाने, सताये जाने, हैरान किये जाने, या

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९५-२९६ का सारांश

उद्विग्न (भयभीत) किये जाने से, यहाँ तक कि एक रोम मात्र के उखाड़े जाने से वे मृत्यु का-सा कष्ट एवं भय महसूस करते हैं।

ऐसा जान कर समस्त प्राण, भूत, जीव, और सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उन्हें बलात् अपनी आज्ञा का पालन नहीं कराना चाहिए, न उन्हें बलात् पकड़ कर या दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर रखना चाहिए, न ही किसी प्रकार का संताप देना चाहिए और न उन्हें उद्विग्न (भयभीत) करना चाहिए।

६८०—से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोगं खेतन्नेहिं पवेदिते।

६८०—इसलिए (वही बात) मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ—भूतकाल में (ऋषभदेव आदि) जो भी अर्हन्त (तीर्थंकर) हो चुके, वर्तमान में जो भी (सीमन्धरस्वामी आदि) तीर्थंकर हैं, तथा जो भी भविष्य में (पद्मनाभ आदि) होंगे; वे सभी अर्हन्त भगवान् (परिषद् में) ऐसा ही उपदेश देते हैं; ऐसा ही भाषण करते (कहते) हैं, ऐसा ही (हेतु, दृष्टान्त, युक्ति आदि द्वारा) बताते (प्रज्ञापन करते) हैं, और ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं कि—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न ही बलात् उनसे आज्ञा-पालन कराना चाहिए, न उन्हें बलात् दास-दासी आदि के रूप में पकड़ कर या खरीद कर रखना चाहिए, न उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, और न उन्हें उद्विग्न (भयभीत या हैरान) करना चाहिए। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत (सदैव स्थिर रहने वाला) है। समस्त लोक को केवल-ज्ञान के प्रकाश में जान कर जीवों के खेद (पीड़ा) को या क्षेत्र को जानने वाले श्री तीर्थंकरों ने इस धर्म का प्रतिपादन किया है।

६८१—एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव विरते परिग्गहातो। णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूमं तं (णो धूमणेत्तं) पि आविए।

६८१—इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात (हिंसा) से लेकर परिग्रह-पर्यन्त पाँचों आश्रवों से विरत (निवृत्त) हो, दतौन आदि दाँत साफ करने वाले पदार्थों से दाँतों को साफ न करे, शोभा के लिए आँखों में अंजन (काजल) न लगाए, दवा लेकर वमन न करे, तथा अपने वस्त्रों या आवासस्थान को धूप आदि से सुगन्धित न करे और खाँसी आदि रोगों की शान्ति के लिए धूम्रपान न करे।

६८२—से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे। णो आसंसं पुरतो करेज्जा—इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा विण्णाएण वा इमेण वा सुचरिय तव-नियम-बंभचेरवासेणं इमेण वा जायामातावुत्तिएणं धम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे सिया, कामभोगा वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुभे, एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया।

६८२—वह भिक्षु सावद्यक्रियाओं से रहित, जीवों का अहिंसक, क्रोधरहित, निर्मानी (अभिमान-रहित) अमायी, निर्लोभी, उपशान्त एवं परिनिर्वृत-समाधियुक्त होकर रहे।

वह अपनी क्रिया से इहलोक-परलोक में काम-भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा न करे, (जैसे कि)—यह (इतना) जो ज्ञान मैंने जाना-देखा है, सुना है अथवा मनन किया है, एवं विशिष्ट रूप से अभ्यस्त-अर्जित किया है, तथा यह जो मैंने तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि चारित्र का सम्यक् आचरण किया है, एवं मोक्षयात्रा का तथा (धर्मपालन के कारणभूत) शरीर-निर्वाह के लिए अल्पमात्रा में शुद्ध आहार ग्रहणरूप धर्म का पालन किया है; इन सब सुकार्यों के फलस्वरूप यहाँ से शरीर छोड़ने के पश्चात् परलोक में मैं देव हो जाऊँ, समस्त काम-भोग मेरे अधीन (वशवर्ती) हो जाएँ, मैं अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हो जाऊँ, अथवा मैं विद्यासिद्ध बन जाऊं, एवं सब दुःखों तथा अशुभकर्मों से रहित हो जाऊं (अथवा दुःखरूप अशुभकर्मों और सुख रूप शुभकर्मो से रहित हो जाऊँ); क्योंकि विशिष्ट-तपश्चर्या आदि के होते हुए भी कभी अणिमादि सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं भी होती (किन्तु ऐसी फलाकांक्षा नहीं करनी चाहिए)।

६८३—से भिक्खू सद्देहिं, अमुच्छिए, रूवेहिं, अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खा-णाओ पेसुण्णाओ परपरिवायातो अरतीरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८३—जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दों, रूपों, गन्धों, रसों, एवं कोमल स्पर्शों में अमूर्च्छित (अनासक्त) रहता है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, (प्रेय), द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (दोषारोपण), पैशुन्य (चुगली), परपरिवाद (परनिन्दा), संयम में अरति, असंयम में रति, मायामृषा (कपटसहित असत्य-दम्भ) एवं मिथ्यादर्शन रूप शल्य से विरत रहता है; इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मों के आदान (बन्ध) से रहित हो जाता है, वह सुसंयम में उद्यत हो जाता (रहता) है, तथा पापों से विरत-निवत्त हो जाता है।

६८४—से भिक्खू जे इमे तस-थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारभति, णो वऽण्णेहिं समा-रभावेति, अण्णे समारभंते वि न समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८४—जो ये त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनका वह भिक्षु स्वयं समारम्भ (हिंसाजनक व्यापार या प्रवृत्ति) नहीं करता, न वह दूसरों से समारम्भ कराता है, और न ही समारम्भ करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह साधु महान् कर्मो के आदान (वन्धन) से मुक्त हो जाता है, शुद्ध संयम में उद्यत रहता है तथा पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है।

६८५—से भिक्खू जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हति, नेवऽण्णेण परिगिण्हावेति, अण्णं परिगिण्हंतं पि ण समणुजाणइ, इति से महया आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८५—जो ये सचित्त या अचित्त काम-भोग (के साधन) हैं, वह भिक्षु स्वयं उनका परिग्रह

नहीं करता, न दूसरों से परिग्रह कराता है, और न ही उनका परिग्रह करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मों के आदान (ग्रहण या वन्ध) से मुक्त हो जाता है, शुद्धसंयम-पालन में उपस्थित करता है, और पापकर्मों से विरत हो जाता है।

६८६—से भिक्खू जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ णो तं सयं करेति, नेवऽन्नेणं कारवेति, अन्नं पि करेंतं णाणुजाणति, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८६—जो यह साम्परायिक (संसारपरिभ्रमण का हेतु कषाययुक्त) कर्म-वन्ध (सांसारिक-जनों द्वारा) किया जाता है, उसे भी वह भिक्षु स्वयं नहीं करता, न दूसरों से कराता है, और न ही साम्परायिक कर्म-वन्धन करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण वह भिक्षु महान् कर्मों के वन्धन (आदान) से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में रत और पापों से विरत रहता है।

६८७—से भिक्खू जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसिय चेतियं सिता तं णो सयं भुंजइ, णो वऽन्नेणं भुंजावेति, अन्नं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते से भिक्खू।

६८७—यदि वह भिक्षु यह जान जाए कि अमुक श्रावक ने किसी निष्परिग्रह साधर्मिक साधु को दान देने के उद्देश्य से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार वनाया है, अथवा खरीदा है, या किसी से उधार लिया है, अथवा वलात् छीन कर (अपहरण करके) लिया है, अथवा उसके स्वामी से पूछे विना ही ले लिया (उसके स्वामित्व का नहीं) है, अथवा साधु के सम्मुख लाया हुआ है, अथवा साधु के निमित्त से वनाया हुआ है, तो ऐसा सदोष आहार वह न ले। कदाचित् भूल से ऐसा सदोष आहार ले लिया हो तो स्वयं उसका सेवन न करे, दूसरे साधुओं को भी वह आहार न खिलाए, और न ऐसा सदोष आहार-सेवन करने वाले को अच्छा समझे। इस प्रकार के सदोष आहारत्याग से वह भिक्षु महान् कर्मों के वन्धन से दूर रहता है, वह शुद्ध संयम पालन में उद्यत और पाप कर्मों से विरत रहता है।

६८८—अह पुणेवं जाणेज्जा, तं जहा—विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठाते चेतितं सिया, तंजहा—अप्पणो से, पुत्ताणं, धूयाणं, सुण्हाणं, धाईणं, णाईणं, राईणं, दासाणं, दासीणं, कम्मकराणं, कम्मकरीणं, आदेसाए, पुढो पहेणाए सामासाए, पातरासाए, सण्णिधिसंणिचए कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। तत्थ भिक्खू परकड-परणिट्ठितं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थातीतं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं एसियं वेसियं सामुदाणियं पण्णमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजण-वणलेवणभूयं संजमजातामातावुत्तियं विलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

६८८—यदि साधु यह जान जाए कि गृहस्थ ने जिनके लिए आहार बनाया है वे साधु नहीं, अपितु दूसरे हैं; जैसे कि गृहस्थ ने अपने पुत्रों के लिए अथवा पुत्रियों, पुत्रवधुओं के लिए, धाय के

लिए, ज्ञातिजनों के लिए, राजन्यों, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी (स्त्री) तथा अतिथि के लिए, या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिए या रात्रि में खाने के लिए अथवा प्रात: नाश्ते के लिए आहार बनाया है, अथवा इस लोक में जो दूसरे मनुष्य हैं, उनको भोजन देने के लिए उसने आहार का अपने पास संचय किया है; ऐसी स्थिति में साधु दूसरे के द्वारा दूसरों के लिए बनाये हुए तथा उद्गम, उत्पाद और एषणा दोष से रहित शुद्ध, एवं अग्नि आदि शस्त्र द्वारा परिणत होने से प्रासुक (अचित्त) बने हुए एवं अग्नि आदि शस्त्रों द्वारा निर्जीव किये हुए अहिंसक (हिंसादोष से रहित) तथा एषणा (भिक्षा-वृत्ति) से प्राप्त, तथा साधु के वेषमात्र से प्राप्त, सामुदायिक भिक्षा (माधुकरी वृत्ति) से प्राप्त, प्राज्ञ—गीतार्थ के द्वारा ग्राह्य (कल्पनीय) वैयावृत्त्य आदि ६ कारणों में से किसी कारण से साधु के लिए ग्राह्य प्रमाणोपेत, एवं गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुरी में दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये गए लेप (मल्हम) के समान केवल संयमयात्रा के निर्वाहार्थ ग्राह्य अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-रूप चतुर्विध आहार का बिल में प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही सेवन करे। जैसे कि वह भिक्षु अन्नकाल में अन्न (आहार) का, पानकाल में पान (पेय पदार्थ) का, वस्त्र (परिधान) काल में वस्त्र का, मकान (में प्रवेश या निवास के) समय में मकान (आवास-स्थान) का, शयनकाल में शय्या का ग्रहण एवं सेवन (उपभोग) करता है।

६८९—से भिक्खू मातण्णे अण्णतरं दिसं वा अणुदिसं वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठितेसु वा अणुवट्ठितेसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए। संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं।

६८९—वह भिक्षु (आहार, उपधि, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक चर्या की) मात्रा एवं विधि का ज्ञाता होकर किसी दिशा या अनुदिशा में पहुंचकर, धर्म का व्याख्यान करे, (धर्मतत्त्व के अनुरूप कर्त्तव्य का यथायोग्य) विभाग करके प्रतिपादन करे, धर्म के फल का कीर्तन—कथन करे। (परहितार्थ प्रवृत्त) साधु (भली भाँति सुनने के लिए) उपस्थित (तत्पर) (शिष्यों या श्रावकों को) अथवा अनुपस्थित (कौतुकादिवश आगत-धर्म में अतत्पर) श्रोताओं को (स्व-पर-कल्याण के लिये) धर्म का प्रतिपादन करे।

(धर्मधुरन्धर) साधु (समस्त क्लेशोपशमरूप) के लिए विरति (विषय-कषायों या आश्रवों से निवृत्ति (अथवा शान्ति=क्रोधादि कषायविजय, शान्ति-प्रधान विरति=प्राणातिपातादि से निवृत्ति), उपशम(इन्द्रिय और मन का शमन अथवा राग द्वेषाभावजनित उपशमन),निर्वाण(समस्तद्वन्द्वोपरमरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष), शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता),मार्दव (कोमलता), लाघव(लघुता—हलकापन) तथा समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति अहिंसा आदि धर्मों के अनुरूप (या प्राणियों के हितानुरूप) विशिष्ट चिन्तन करके धर्मोपदेश दे।

६९०. से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा,[1] णो लेणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो सयणस्स

---

१. तुलना—"ण कहेज्जा धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुं।"—मूलाराधना विजयोदयावृत्ति, पृ. ६१२

हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूव-रूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेजा, अगिलाए धम्म-माइक्खिज्जा, णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्मं आइक्खेज्जा।

६९०—धर्मोपदेश करता हुआ साधु अन्न (विशिष्ट सरस-स्वादिष्ट आहार) के लिए धर्मकथा न करे, पान (विशिष्ट पेय पदार्थ) के लिए धर्मव्याख्यान न करे, तथा सुन्दर वस्त्र-प्राप्ति के लिए धर्मोपदेश न करे, न ही सुन्दर आवासस्थान (मकान) के लिए धर्मकथन करे, न विशिष्ट शयनीय पदार्थों की प्राप्ति (शय्या) के लिए धर्मोपदेश करे, तथा दूसरे विविध प्रकार के काम-भोगों (भोग्य-पदार्थों) की प्राप्ति के लिए धर्म कथा न करे। प्रसन्नता (अग्लानभाव) से धर्मोपदेश करे। कर्मों की निर्जरा (आत्मशुद्धि) के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकांक्षा से धर्मोपदेश न करे।

६९१—इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, जे तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि।

६९१—इस जगत् में उस (पूर्वोक्तगुण विशिष्ट) भिक्षु से धर्म को सुन कर, उस पर विचार करके (मुनिधर्म का आचरण करने के लिए) सम्यक् रूप से उत्थित (उद्यत) वीर पुरुष ही इस आर्हत धर्म में उपस्थित (दीक्षित) होते हैं। जो वीर साधक उस भिक्षु से (पूर्वोक्त) धर्म को सुन-समझ कर सम्यक् प्रकार से मुनिधर्म का आचरण करने के लिए उद्यत होते हुए इस (आर्हत) धर्म में दीक्षित होते हैं, वे सर्वोपगत हो जाते हैं (सम्यग्दर्शनादि समस्त मोक्षकारणों के निकट पहुंच जाते हैं), वे सर्वोपरत (समस्त पाप स्थानों से उपरत) हो जाते हैं, वे सर्वोपशान्त (कषायविजेता होने से सर्वथा उपशान्त) हो जाते हैं, एवं वे समस्त कर्मक्षय करके परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। यह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

६९२—एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविदू नियागपडिवण्णे, से जहेयं बुतियं, अदुवा पत्ते पउमवर-पोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं।

६९२—इस प्रकार (पूर्वोक्तविशेषण युक्त) वह भिक्षु धर्मार्थी (धर्म से ही प्रयोजन रखने वाला) धर्म का ज्ञाता और नियाग (संयम या विमोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा भिक्षु, जैसा कि (इस अध्ययन में) पहले कहा गया था, पूर्वोक्त पुरुषों में से पांचवाँ पुरुष है। वह (भिक्षु) श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान निर्वाण को प्राप्त कर सके अथवा उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को (मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान तक ही प्राप्त होने से) प्राप्त न कर सके, (वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है।)

६९३—एवं से भिक्खू परिण्णातकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगिहवासे उवसंते समिते सहिए सदा जते। सेयं वयणिज्जे तंजहा—समणे ति वा माहणे ति वा खंते ति वा दंते ति वा गुत्ते ति वा मुत्ते

ति वा इसी ति वा मुणी ति वा कती ति वा विदू ति वा भिक्खू ति वा लूहे ति वा तीरट्ठी ति वा चरण-करणपारविदु त्ति बेमि।

॥ पोंडरीयं : पढमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

६९३—इस प्रकार का भिक्षु कर्म (कर्म के स्वरूप, विपाक एवं उपादान) का परिज्ञाता, संग (वाह्य-आभ्यन्तर-सम्वन्ध) का परिज्ञाता, तथा (निःसार) गृहवास का परिज्ञाता (मर्मज्ञ) हो जाता है। वह (इन्द्रिय और मन के विषयों का उपशमन करने से) उपशान्त, (पंचसमितियों से युक्त होने से) समित, (हित से या ज्ञानादि से युक्त होने से—) सहित एवं सदैव यतनाशील अथवा संयम में प्रयत्न-शील होता है।

उस साधक को इस प्रकार (आगे कहे जाने वाले विशेषणों में से किसी भी एक विशेषणयुक्त शब्दों से) कहा जा सकता है, जैसे कि—वह श्रमण है, या माहन (प्राणियों का हनन मत करो, ऐसा उपदेश करने वाला या ब्रह्मचर्यनिष्ठ होने से ब्राह्मण) है, अथवा वह क्षान्त (क्षमाशील) है, या दान्त (इन्द्रियमनोवशीकर्ता) है, अथवा गुप्त (तीन गुप्तियों से गुप्त) है, अथवा मुक्त (मुक्तवत्) है, तथा महर्षि (विशिष्ट तपश्चरणयुक्त) है, अथवा मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने वाला) है, अथवा कृती (पुण्यवान्—सुकृती या परमार्थपण्डित), तथा विद्वान् (अध्यात्मविद्यावान्) है, अथवा भिक्षु (निरवद्यभिक्षाजीवी) है, या वह रूक्ष (अन्ताहारी-प्रान्ताहारी) है, अथवा तीरार्थी (मोक्षार्थी) है, अथवा चरण-करण (मूल-उत्तर गुणों) के रहस्य का पारगामी है। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—पंचमपुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत १५ सूत्रों (सू. सं. ६७९ से ६९३ तक) में उत्तम पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने के योग्य निर्ग्रन्थ भिक्षु की विशेषताओं एवं अर्हताओं का सर्वांगीण विश्लेषण किया गया है। उक्त भिक्षु की अर्हताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) वह भिक्षु अपने आप को कसौटी बना कर षट्कायिक जीवों के हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करता है, और किसी भी प्राणी की, किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं करता, क्योंकि अतीत-अनागत और वर्तमान में जितने भी तीर्थकर हुए हैं, होंगे या हैं, उन सब महापुरुषों ने सर्वप्राणि—अहिंसारूप शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया है।

(२) प्राणातिपात की तरह वह भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से भी सर्वथा विरत हो जाता है।

(३) इस धर्म (अहिंसादि रूप) की रक्षा के लिए भिक्षु शोभा की दृष्टि से दन्तप्रक्षालन, अंजन, वमन-विरेचन, धूप, और धूम्रपान नहीं करता।

(४) वह भिक्षु सावद्यक्रियाविरत, अहिंसक, अकषायी, उपशान्त एवं परिनिर्वृत्त होता है।

(५) वह अपने समाराधित ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, नियम, संयम एवं ब्रह्मचर्यरूप धर्म से इहलौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रकार की फलाकांक्षा नहीं करता; न ही काम-भोगों, सिद्धियों की प्राप्ति की या दुःख एवं अशुभ की अप्राप्ति की वाञ्छा करता है।

(६) निम्नोक्त गुणों के कारण भिक्षु महान् कर्मबन्धन से दूर (उपशान्त) शुद्धसंयम में उद्यत एवं पापकर्मों से निवृत्त होता है—

(अ) पंचेन्द्रियविषयों में अनासक्त होने से।

(आ) अठारह ही पापस्थानों से विरत होने से।

(इ) त्रस-स्थावरप्राणियों के आरम्भ का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(ई) सचित्त-अचित्त काम-भोगों के परिग्रह का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(उ) साम्परायिक कर्मबन्ध का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(ऊ) वह षट्कायिक जीव समारम्भजनित उद्गमादि दोषयुक्त आहार ग्रहण न करे, कदाचित् भूल से ग्रहण कर लिया गया हो तो उसका सेवन स्वयं न करने, न कराने, और सेवनकर्ता को अच्छा न समझने पर।

(७) यदि यह ज्ञात हो जाए कि साधु के निमित्त से नहीं, अपितु किसी दूसरे के निमित्त से; अन्यप्रयोजनवश गृहस्थ ने आहार बनाया है, और वह आहार उद्गम, उत्पादना और एषणादि दोषों से रहित, शुद्ध, शस्त्रपरिणत, प्रासुक, हिंसादि दोषरहित, साधु के वेष, वृत्ति, कल्प तथा कारण की दृष्टि से ग्राह्य है तो वह भिक्षु उसे प्रमाणोपेत ग्रहण करे और गाड़ी की धुरी में तेल या घाव पर लेप के समान उसे साँप के द्वारा बिल-प्रवेश की तरह अस्वादवृत्ति से सेवन करे।

(८) वह भिक्षु आहार, वस्त्रादि उपधि, वसति, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक वस्तु की मात्रा, कालमर्यादा और विधि का ज्ञाता होता है और तदनुरूप ही आहारादि का उपयोग करता है।

(९) धर्मोपदेश देते समय निम्नलिखित विवेक का आश्रय ले—

(अ) वह जहाँ कहीं भी विचरण करे, सुनने के लिए धर्म में तत्पर या अतत्पर, श्रोताओं को शुद्ध धर्म का तथा उसके फल आदि का स्व-पर-हितार्थ ही कथन करे।

(आ) वह भिक्षु शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव, समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा आदि धर्मों का प्राणिहितानुरूप विशिष्ट चिन्तन करके उपदेश दे।

(इ) वह साधु अन्न, पान, वस्त्र, आवासस्थान, शयन, तथा अन्य अनेकविध काम-भोगों की प्राप्ति के हेतु धर्मोपदेश न करे।

(ई) प्रसन्नतापूर्वक एकमात्र कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से धर्मोपदेश करे।

(१०) जो पूर्वोक्त विशिष्ट गुणसम्पन्न भिक्षु से धर्म सुन-समझ कर श्रमणधर्म में प्रव्रजित होकर इस धर्म के पालन हेतु उद्यत हुए हैं, वे वीरपुरुष सर्वोपगत, सर्वोपरत, सर्वोपशान्त एवं सर्वतः परिनिर्वृत्त होते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति-पत्रांक २९८ से ३०२ तक का सारांश

(११) वह भिक्षु कर्म, संग और गृहवास का मर्मज्ञ होता है, सदा उपशान्त, समित, सहित एवं संयत रहता है। वही भिक्षु धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, संयमप्राप्त तथा प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित गुणों से सम्पन्न होता है। वह उस उत्तम पुण्डरीक को प्राप्त करे या न करे परन्तु प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

(१२) उसे श्रमण कहें, या माहन (ब्राह्मण) कहें, क्षान्त,दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, यति, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी अथवा चरण-करण-पारवेत्ता कहें, वही पूर्वोक्त पुरुषों में योग्य सर्वश्रेष्ठ पंचम पुरुष है।

॥ पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु) के द्वितीय अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' है।

- ☐ सामान्यतया क्रिया का अर्थ है—हलन, चलन, स्पन्दन, कम्पन आदि प्रवृत्ति या व्यापार।

- ☐ जैनतार्किकों ने इसके दो भेद किये हैं—द्रव्यक्रिया और भावक्रिया। सचेतन-अचेतन द्रव्यों की प्रयोगतः (प्रयत्नपूर्वक) एवं विस्रसातः (सहजरूप में) उपयोगपूर्विका एवं अनुपयोग-पूर्विका, अक्षिनिमेषमात्रादि समस्त क्रियाएं द्रव्य क्रियाएं हैं।

  भावप्रधानक्रिया भावक्रिया है, जो ८ प्रकार की होती है—

  (१) **प्रयोग क्रिया** (मनोद्रव्यों की स्फुरणा के साथ जहाँ मन, वचन, काया की क्रिया से आत्मा का उपयोग होता है, वहाँ मन:प्रयोग, वचनप्रयोग, कायप्रयोग क्रिया हैं),

  (२) **उपायक्रिया** (घटपटादिनिर्माण के लिए उपायों का प्रयोग),

  (३) **करणीयक्रिया** (जो वस्तु जिस द्रव्य सामग्री से बनाई जाती है उसके लिए उसी वस्तु का प्रयोग करना),

  (४) **समुदानक्रिया** (समुदायरूप में स्थित जिस क्रिया को ग्रहण कर प्रथमगुणस्थान से दशम गुणस्थान तक के जीव द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशरूप से अपने में स्थापित करना),

  (५) **ईर्यापथक्रिया** (उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होने वाली क्रिया),

  (६) **सम्यक्त्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यग्दर्शनयोग्य ७७ कर्म प्रकृतियों को बांधता है),

  (७) **सम्यङ्‌मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोग्य ७४ कर्म प्रकृतियाँ बांधता है) तथा

  (८) **मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव तीर्थंकरप्रकृति एवं आहारकद्वय को छोड़ कर ११७ कर्म प्रकृतियाँ बाँधता है)

- ☐ इन द्रव्य-भावरूप क्रियाओं का जो स्थान अर्थात् प्रवृत्ति-निमित्त है उसे क्रियास्थान कहते हैं। विविध प्रकार की प्रवृत्तियों के विविध (निमित्त) कारण होने से क्रियास्थान विविध हैं।

- ☐ सामान्यतया यह माना जाता है, कि क्रिया से कर्मबन्ध होता है। परन्तु इस अध्ययन में उक्त क्रियास्थानों से कई क्रियावानों के कर्मबन्ध होता है, कई क्रियावान् कर्ममुक्त होते हैं। इसी लिए प्रस्तुत अध्ययन में दो प्रकार के क्रियास्थान बताए गए हैं—धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान।

☐ अर्थदण्डप्रत्ययिक से लेकर लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान तक १२ अधर्मक्रियास्थान हैं, और तेरहवाँ ऐर्यापथप्रत्ययिकक्रियास्थान धर्मक्रियास्थान है। इस प्रकार क्रियास्थानों का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम '**क्रियास्थान**' है।

☐ कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए कर्मक्षयाकांक्षी साधक पहले १२ प्रकार के अधर्मक्रियास्थानों को जान कर उनका त्याग करदे तथा तेरहवें धर्मक्रियास्थान को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने हेतु अपनाये, यही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ जैन दृष्टि से रागद्वेषजन्य प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) हिंसा रूप होने से कर्मबन्ध का कारण होती है,

☐ सूत्रसंख्या ६९४ से प्रारम्भ होकर सूत्र संख्या ७२१ पर यह अध्ययन पूर्ण होता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३०४

किरियाठाणं : बीयं अज्झयणं

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

संसार के समस्त जीव तेरह क्रियास्थानों में—

६९४—सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं—

इह खलु किरियाठाणे णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसन्ते चेव।

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोता वेगे णीयागोता वेगे, कायमंता वेगे, हृस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए, तंजहा—णेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु माणुसेसु देवेसु जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विण्णू वेयणं वेदेंति तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति अक्खाताइं,[1] तंजहा—अट्ठादंडे १ अणट्ठादंडे २ हिंसादंडे ३ अकम्हादंडे ४ दिट्ठिविपरियासियादंडे ५ मोसवत्तिए ६ अदिन्नादाणवत्तिए ७ अज्झत्थिए ८ माणवत्तिए ९ मित्तदोसवत्तिए १० मायावत्तिए ११ लोभवत्तिए १२ इरियावहिए १३।

६९४—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है: उन आयुष्मान् श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा था—

"इस (जैनशासन या निर्ग्रन्थ प्रवचन) में 'क्रियास्थान' नामक अध्ययन कहा गया है, उसका अर्थ यह है—इस लोक में सामान्य रूप से (या संक्षेप में) दो स्थान इस प्रकार बताये जाते हैं, एक धर्म-स्थान और दूसरा अधर्मस्थान, अथवा एक उपशान्त स्थान और दूसरा अनुपशान्त स्थान।

इन दोनों स्थानों में से प्रथम अधर्मपक्ष का जो विभंग (विकल्प) है उसका अर्थ (अभिप्राय) इस प्रकार कहा गया है—'इस लोक में पूर्व आदि छहों दिशाओं में अनेकविध मनुष्य रहते हैं, जैसे कि कई आर्य होते हैं, कई अनार्य, अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय अथवा कई लम्बे कद के और कई ठिगने (छोटे) कद के या कई उत्कृष्ट वर्ण के और कई निकृष्ट वर्ण के अथवा कई सुरूप और कई कुरूप होते हैं।

उन आर्य आदि मनुष्यों में यह (आगे कहे जाने वाला) दण्ड (हिंसादिपापोपादान संकल्प) का समादान—ग्रहण देखा जाता है, जैसे कि—नारकों में, तिर्यञ्चों में, मनुष्यों में और देवों में, अथवा जो

---

१. तुलना—इमाइं तेरस किरियाठाणाइं······ ते अट्ठडंडे अणट्ठाडंडे········ईरियावहिए।

—आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाध्ययन पृ. १२७

इसी प्रकार के (सुवर्ण-दुर्वर्ण आदि रूप) विज्ञ (समझदार) प्राणी हैं, वे सुख-दुःख का वेदन करते हैं, उनमें अवश्य ही ये तेरह प्रकार के क्रियास्थान होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर देव ने कहा है। वे क्रियास्थान इस प्रकार हैं—(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात् दण्ड, (५) दृष्टिविपर्यासदण्ड, (६) मृषाप्रत्ययिक, (७) अदत्तादानप्रत्ययिक, (८) अध्यात्मप्रत्ययिक, (९) मानप्रत्ययिक (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिक (११) मायाप्रत्ययिक, (१२) लोभ-प्रत्ययिक और (१३) ईर्य्याप्रत्ययिक।

विवेचन—संसार के समस्त जीव : तेरह क्रियास्थानों में—प्रस्तुत सूत्र में श्री सुधर्मास्वामी श्रीतीर्थंकर भगवान् महावीर के श्रीमुख से सुने हुए १३ क्रियास्थानों का उल्लेख श्री जम्बूस्वामी के समक्ष करते हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने निम्नलिखित तथ्यों का निरूपण किया है—

(१) सामान्य रूप से दो स्थान—धर्मस्थान और अधर्मस्थान अथवा उपशान्तस्थान और अनुपशान्तस्थान।

(२) अधर्मस्थान के अधिकारी—आर्य-अनार्य आदि मनुष्य।

(३) चारों गतियों के विज्ञ (चेतनाशील) एवं सुख-दुःख-वेदनशील जीवों में तेरह कर्मबन्ध कारणभूत क्रियास्थानों का अस्तित्व।

(४) तेरह क्रियास्थानों का नामोल्लेख।

क्रियास्थान—किसी क्रिया या प्रवृत्ति का स्थान यानी कारण, निमित्तकारण क्रियास्थान कहलाता है। संक्षेप में, क्रिया जिस निमित्त से हुई हो उसे क्रियास्थान कहते हैं।

दण्डसमादान—दण्ड कहते हैं—हिंसादिपापोपादानरूप संकल्प को, जिससे जीव दण्डित (पीडित) होता है, उसका समादान यानी ग्रहण दण्डसमादान है।[1]

वेयणं वेदंति की व्याख्या—इसके दो अर्थ बताए गए हैं। तदनुसार अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से वृत्तिकार ने यहाँ चतुर्भंगी बताई है—(१) संज्ञी वेदना का अनुभव करते हैं, जानते भी हैं, (२) सिद्ध भगवान् जानते हैं, अनुभव नहीं करते (३) असंज्ञी अनुभव करते हैं, जानते नहीं, और (४) अजीव न अनुभव करते हैं, न जानते हैं। यहाँ प्रथम और तृतीय भंग वाले जीवों का अधिकार है, द्वितीय और चतुर्थ यहाँ अप्रासंगिक हैं।[2]

क्रियास्थानों द्वारा कर्मबन्ध—इन तेरह क्रियास्थानों के द्वारा कर्मबन्ध होता है, इनके अतिरिक्त कोई क्रियास्थान नहीं, जो कर्मबन्धन का कारण हो। इसलिए समस्त संसारी प्राणी इन तेरह क्रियास्थानों में समा जाते हैं।[3]

शास्त्रकार एवं वृत्तिकार स्वयं इन तेरह क्रियास्थानों का अर्थ एवं व्याख्या आगे यथा-स्थान करेंगे।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३०४-३०५ का सारांश

२. सूत्र कृ. शी. वृत्ति, पत्रांक, ३०४

३. वही. पत्रांक ३०५

प्रथमक्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

६९५—पढमे दंडसमादाणे। अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति से। जहानामए केइ पुरिसे आतहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तस थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे ति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते।[1]

६९५—प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनों के लिए, अपने घर या परिवार के लिए, मित्रजनों के लिए अथवा नाग, भूत और यक्ष आदि के लिए स्वयं त्रस और स्थावर जीवों को दण्ड देता है (प्राणिसंहारकारिणी क्रिया करता है); अथवा (पूर्वोक्त कारणों से) दूसरे से दण्ड दिलवाता है; अथवा दूसरा दण्ड दे रहा हो, उसका अनुमोदन करता है। ऐसी स्थिति में उसे उस सावद्यक्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है। यह प्रथम दण्डसमादान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—प्रथम क्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने तेरह क्रियास्थानों में से अर्थदण्डप्रत्ययिक नामक प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप, प्रवृत्तिनिमित्त एवं उसकी परिधि का विश्लेषण किया है।

अर्थदण्ड—हिंसा आदि दोषों से युक्त प्रवृत्ति, फिर चाहे वह किसी भी प्रयोजन से, किसी के भी निमित्त की जाती हो, अर्थदण्ड है।

अर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान : भ० महावीर की दृष्टि में—कई मतवादी सार्थक क्रियाओं से जनित दण्ड (हिंसादि) को पापकर्मवन्धकारक नहीं मानते थे, किन्तु भगवान् महावीर की दृष्टि में वह पाप-कर्मवन्ध का कारण है। इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट कर देते हैं कि जो पुरुष अपने या किसी भी दूसरे प्राणी के लिए अथवा नाग भूत-यक्षादि के निमित्त त्रस स्थावरप्राणियों की हिंसा करता, करवाता और अनुमोदन करता है, उसे उस सावद्यक्रिया के फलस्वरूप अर्थदण्डप्रत्ययिक पाप कर्म का वन्ध होता है।

पुरिसे—यहाँ पुरुष शब्द उपलक्षण से चारों गतियों के सभी प्राणियों के लिए प्रयुक्त है।[2]

द्वितीय क्रियास्थान—अनर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

६९६—(१) अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिजाए, णो हिंसिसु मे त्ति, णो हिंसंति मे त्ति, णो हिंसिस्संति मे त्ति, णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समण-माहणवत्तियहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि

---

१. तुलना—पढमे दंडसमादाणे अट्ठाडंडवत्तिए……त्ति आहिते।'—आवश्यकचूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन, पृ. १२७

२. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३०६ का सारांश

परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा—इक्कडा इ वा कढिणा इ वा जंतुगा इ वा परगा इ वा मोरका इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्चक्का इ वा पव्वगा ति वा पलालए इ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए णों पसुपोसणयाए णों अगारपोसणयाए णो समण-माहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंइपत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे।

(३) से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा दगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणति, अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते।

६९६—इसके पश्चात् दूसरा दण्डसमादानरूप क्रियास्थान अनर्थदण्ड प्रत्ययिक कहलाता है।

(१) जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है, जो इन त्रसप्राणियों को न तो अपने शरीर की अर्चा (रक्षा या संस्कार के) लिए अथवा अर्चा - पूजा के लिए मारता है, न चमड़े के लिए, न ही मांस के लिए और न रक्त के लिए मारता है। एवं हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी के लिए, पिच्छ (पंख) पूंछ, बाल, सींग, विषाण, दाँत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी और हड्डी की मज्जा (रग) के लिए नहीं मारता। तथा इसने मुझे या मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है या मारेगा. इसलिए नहीं मारता एवं पुत्रपोषण, पशुपोषण तथा अपने घर की मरम्मत एवं हिफाजत (अथवा विशाल बनाने) के लिए भी नहीं मारता, तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) के जीवन निर्वाह के लिए, एवं उनके या अपने शरीर या प्राणों पर किञ्चित् उपद्रव न हो, अत: परित्राणहेतु भी नहीं मारता, अपितु निष्प्रयोजन (बिना किसी अर्थ या निमित्त के) ही वह मूर्ख (बाल) प्राणियों को दण्ड देता हुआ उन्हें (दण्ड आदि से) मारता है, उनके (कान नाक आदि) अंगों का छेदन करता है, उन्हें शूल आदि से भेदन करता है, उन प्राणियों के अंगों को अलग-अलग करता है, उनकी आँखे निकालता है, चमड़ी उधेड़ता है, उन्हें डराता-धमकाता है, अथवा परमाधार्मिकवत् अकारण ही नाना उपायों से उन्हें पीड़ा पहुंचाता है, तथा प्राणों से रहित भी कर देता है। वह सद्विवेक का त्याग करके या अपना आपा (होश) खो कर (अविचारपूर्वक कार्य करने वाला) तथा निष्प्रयोजन त्रस प्राणियों को उत्पीड़ित (दण्डित) करने वाला वह मूढ़ प्राणियों के साथ (जन्म-जन्मान्तरानुबन्धी) वैर का भागी बन जाता है।

(२) कोई पुरुष ये जो स्थावर प्राणी हैं, जैसे कि इक्कड़, कठिन, जन्तुक, परक, मयूरक, मुस्ता (मोथा), तृण (हरीघास), कुश, कुच्छक, (कर्चक) पर्वक और पलाल (पराल) नामक विविध वनस्पतियाँ होती हैं, उन्हें निरर्थक दण्ड देता है। वह इन वनस्पतियों को पुत्रादि के पोषणार्थ या पशुओं के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ, अथवा श्रमण एवं माहन (ब्राह्मण) के पोषणार्थ दण्ड नहीं देता, न

ही ये वनस्पतियाँ उसके शरीर की रक्षा के लिए कुछ काम आती हैं, तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खण्डन, मर्दन, उत्पीड़न, करता है, उन्हें भय उत्पन्न करता है, या जीवन से रहित कर देता है। विवेक को तिलांजलि दे कर वह मूढ़ व्यर्थ ही (वनस्पतिकायिक) प्राणियों को दण्ड देता है और (जन्मजन्मान्तर तक) उन प्राणियों के साथ वैर का भागी बन जाता है।

(३) जैसे कोई पुरुष (सद-असद्विवेकविकल हो कर) नदी के कच्छ (किनारे) पर, द्रह (तालाब या झील) पर, या किसी जलाशय में, अथवा तृणराशि पर, तथा नदी आदि द्वारा घिरे हुए स्थान में, अन्धकारपूर्ण स्थान में अथवा किसी गहन—दुष्प्रवेशस्थान में, वन में या घोर वन में, पर्वत पर या पर्वत के किसी दुर्गम स्थान में तृण या घास को बिछा-बिछा या फैला-फैला कर अथवा ऊंचा ढेर करके, स्वयं उसमें आग लगाता (जला कर डालता) है, अथवा दूसरे से आग लगवाता है, अथवा इन स्थानों पर आग लगाते (या जलाते) हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन—समर्थन करता है, वह पुरुष निष्प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देता है। इस प्रकार उस पुरुष को व्यर्थ ही (अग्निकायिक तथा तदाश्रित अन्य त्रसादि) प्राणियों के घात के कारण सावद्य (पाप) कर्म का वन्ध होता है।

यह दूसरा अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय क्रियास्थान अनर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार निरर्थक प्राणिघातजनित क्रियास्थान का विभिन्न पहलुओं से निरूपण करते हैं। वे पहलू ये हैं—

(१) वह द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रस प्राणियों की निरर्थक ही विविध प्रकार से प्राणहिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(२) वह स्थावरजीवों की—विशेषत: वनस्पतिकायिक एवं अग्निकायिक जीवों की निरर्थक ही विविध प्रकार से—पर्वतादि विविध स्थानों में, छेदन-भेदनादि रूप में हिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(३) वह शरीरसज्जा, चमड़े, मांसादि के लिए हिंसा नहीं करता,

(४) किसी प्राणी द्वारा मारने की आशंका से उसका वध नहीं करता,

(५) वह पुत्र, पशु, गृह आदि के संवर्द्धनार्थ हिंसा नहीं करता, किन्तु किसी भी प्रयोजन के बिना निरर्थक त्रस जीवों का घात करता है।

अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान—किसी भी प्रयोजन के बिना केवल आदत, कौतुक, कुतूहल मनोरंजन आदि से प्रेरित होकर किसी भी त्रस या स्थावर जीव की किसी भी रूप में की जाने वाली हिंसा (दण्ड) के निमित्त से जो पाप कर्मबन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि में अर्थदण्ड-प्रत्ययिक की अपेक्षा अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान अधिक पापकर्मबन्धक है।[1]

तृतीय क्रियास्थान-हिंसादण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

६९७—अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०७ का सारांश

पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणति, हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिते।

६९७—इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियों को इसलिए स्वयं दण्ड देता है कि इस (त्रस या स्थावर) जीव ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा अथवा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को वह दण्ड दिलाता है, या त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए दूसरे पुरुष का अनुमोदन करता है। ऐसा व्यक्ति प्राणियों को हिंसारूप दण्ड देता है। उस व्यक्ति को हिंसाप्रत्ययिक सावद्यकर्म का बन्ध होता है।

अतः इस तीसरे क्रियास्थान को हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—तृतीय क्रियास्थान : हिंसादण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में हिंसा दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे होता है इसका दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान मुख्यतया हिंसा प्रधान होता है। यह त्रैकालिक और कृतकारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से होता है। जैसे कि (१) कई व्यक्ति अपने सम्बन्धी की हत्या का बदला लेने के लिए क्रुद्ध होकर सम्बन्धित व्यक्तियों को मार डालते हैं, जैसे—परशुराम ने अपने पिता की हत्या से क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य को मार डाला था। (२) भविष्य में मेरी हत्या कर डालेगा, इस आशंका से कोई व्यक्ति सम्बन्धित व्यक्ति को मार या मरवा डालते हैं, जैसे—कंस ने देवकी के पुत्रों को मरवा डालने का उपक्रम किया था। कई व्यक्ति सिंह, सर्प या विच्छू आदि प्राणियों का इसलिए वध कर डालते हैं कि ये जिंदा रहेंगे तो मुझे या अन्य प्राणियों को मारेंगे। (३) कई व्यक्ति वर्तमान में कोई किसी को मार रहा है तो उस पर मारने को टूट पड़ते हैं। ये और इस प्रकार की क्रिया हिंसाप्रवृत्तिनिमित्तक होती हैं जो पाप कर्मबन्धका कारण होने से हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहलाती है।[1]

चतुर्थ क्रियास्थान—अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

६९८—(१) अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्माद् दंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एले मिय त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वधाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविजलं वा विंधित्ता भवति; इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसइ, अकस्माद्दंडे।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं मयणगं मुगुंदगं वीहिरूसितं कालेसुतं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०८ का सारांश

वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति, अकस्मात् दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मात् दंडवत्तिए त्ति आहिते।

६९८—इसके बाद चौथा क्रियास्थान अकस्माद् दण्डप्रत्ययिक कहलाता है।

(१) जैसे कि कोई व्यक्ति नदी के तट पर अथवा द्रह (झील) पर यावत् किसी घोर दुर्गम जंगल में जा कर मृग को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का संकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है मृग का वध करने के लिए चल पड़ता है; 'यह मृग है' यों जान कर किसी एक मृग को मारने के लिए वह अपने धनुष पर बाण को खींच कर चलाता है, किन्तु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण लक्ष्य (वध्यजीवमृग) को न लग कर तीतर, बटेर (वतक), चिड़िया, लावक, कबूतर, बन्दर या कपिंजल पक्षी को लग कर उन्हें बींध डालता है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति दूसरे के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है, वह दण्ड इच्छा न होने पर भी अकस्मात् (सहसा) हो जाता है इसलिए इसे अकस्माद्दण्ड (प्रत्ययिक) क्रियास्थान कहते हैं।

(२) जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव (कोदों), कंगू, परक और राल नामक धान्यों (अनाजों) को शोधन (साफ) करता हुआ किसी तृण (घास) को काटने के लिए शस्त्र (हंसिया या दांती) चलाए, और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटूं' ऐसा आशय होने पर भी (लक्ष्य चूक जाने से) शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है। इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके किया हुआ दण्ड (प्राणिहिंसा) अन्य को स्पर्श करता है। यह दण्ड भी घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण अकस्माद्दण्ड कहलाता है। इस प्रकार अकस्मात् (किसी जीव को) दण्ड देने के कारण उस घातक पुरुष को (उसके निमित्त से) सावद्यकर्म का बन्ध होता है। अतः यह चतुर्थ क्रियास्थान अकस्माद्दण्ड प्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने चतुर्थ क्रियास्थान के रूप में अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे-कैसे हो जाता है, इसे दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया है— (१) किसी मृग को मारने के अभिप्राय से चलाये गये शस्त्र से अन्य किसी प्राणी (तीतर आदि) का घात हो जाने पर, (२) किसी घास को काटने के अभिप्राय से चलाये गए औजार से किसी पौधे के कट जाने पर।[1]

पंचम क्रियास्थानः दृष्टि विपर्यासदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

६९९—(१) अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भातीहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमिति मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे।

(२) से जहा वा केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेड० कब्बड० मडंबघातंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघातंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणि-

१. सूत्रकृतांगसूत्र शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ का सारांश

धायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणं हयपुव्वे भवइ, दिट्ठीविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिते।

६९९—इसके पश्चात् पाँचवाँ क्रियास्थान दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक कहलाता है।

(१) जैसे कोई व्यक्ति अपने माता, पिता, भाइयों, बहनों, स्त्री, पुत्रों, पुत्रियों या पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ अपने उस मित्र (हितैषीजन) को (गलतफहमी से) शत्रु (विरोधी या अहितैषी) समझ कर मार देता है, इसको दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते हैं, क्योंकि यह दण्ड दृष्टिभ्रमवश होता है।

(२) जैसे कोई पुरुष ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मण्डप, द्रोण-मुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी पर घात के समय किसी चोर से भिन्न (अचोर) को चोर समझ कर मार डाले तो वह दृष्टिविपर्यासदण्ड कहलाता है।

इस प्रकार जो पुरुष अहितैषी या दण्ड्य के भ्रम से हितैषी जन या अदण्ड्य प्राणी को दण्ड दे बैठता है, उसे उक्त दृष्टिविपर्यास के कारण सावद्यकर्मबन्ध होता है। इसलिए दृष्टिविपर्यास दण्डप्रत्ययिक नामक पंचम क्रियास्थान बताया गया है।

विवेचन—पंचम क्रियास्थान-दृष्टिविपर्यासदण्ड-प्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में दृष्टिविपर्यासवश होने वाले दण्डसमादान (क्रियास्थान) को दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है—(१) हितैषी पारिवारिक जनों में से किसी को भ्रमवश अहितैषी (शत्रु) समझ कर दंड देना, (२) ग्राम, नगर आदि में किसी उपद्रव के समय चोर, हत्यारे आदि दण्डनीय व्यक्ति को ढूंढने के दौरान किसी अदण्डनीय को भ्रम से दण्डनीय समझ कर दंड देना।[1]

छठा क्रियास्थान—मृषावादप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

७००—अहावरे छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहानामए केइ पुरिसे आयहेउं वा नायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वदावेति, मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिते।

७००—इसके पश्चात् छठे क्रियास्थान का वर्णन है, जो मृषाप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए, घर के लिए अथवा परिवार के लिए स्वयं असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है, तथा असत्य बोलते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है; ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य प्रवृत्ति-निमित्तक पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध होता है। इसलिए यह छठा क्रियास्थान मृषावादप्रत्ययिक कहा गया।

विवेचन—छठा क्रियास्थान : मृषावादप्रत्ययिक—स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में मृषावाद प्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है। यह क्रियास्थान मन, वचन काय से किसी भी प्रकार का असत्याचरण करने, कराने एवं अनुमोदन से होता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ का सारांश

अन्तर—इसके पूर्व जो पांच क्रियास्थान कहे गए हैं, उनमें प्राय: प्राणियों का घात होता है, इसलिए उन्हें शास्त्रकार ने 'दण्डसमादान' कहा है, परन्तु छठे से ले कर तेरहवें क्रियास्थान तक के भेदों में प्राय: प्राणिघात नहीं होता, इसलिए इन्हें 'दण्डसमादान' न कह कर 'क्रियास्थान' कहा है।[1]

सप्तम क्रियास्थान—अदत्तादान प्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—

७०१—अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियति, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेति, अदिण्णं आदियंतं अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जें त्ति आहिज्जति, सत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिते।

७०१—इसके पश्चात् सातवाँ क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी ज्ञाति के लिए तथा अपने घर और परिवार के लिए अदत्त—वस्तु के स्वामी के द्वारा न दी गई वस्तु को स्वयं ग्रहण करता है, दूसरे से अदत्त को ग्रहण कराता है, और अदत्त ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, तो ऐसा करने वाले उस व्यक्ति को अदत्तादान-सम्बन्धित सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। इसलिए इस सातवें क्रियास्थान को अदत्तादानप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादानप्रत्ययिक—स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र में अदत्तादान से सम्बन्धित कृत-कारित-अनुमोदितरूप क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

अदत्तादान—वस्तु के स्वामी या अधिकारी से विना पूछे उसके विना दिये या उसकी अनुमति, सहमति या इच्छा के विना उस वस्तु को ग्रहण कर लेना, उस पर अपना अधिकार या स्वामित्व जमा लेना, उससे छीन, लूट या हरण कर लेना अदत्तादान, स्तेन या चोरी है।[2]

अष्टम क्रियास्थान—अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान : स्वरूप और विश्लेषण—

७०२—अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे, से णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागर-संपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगते भूमिगतदिट्ठीए झियाति, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तं०—कोहे माणे माया लोभे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-लोहा, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे ति आहिज्जति, अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिते।

७०२—इसके बाद आठवाँ अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है। जैसे कोई ऐसा (चिन्ता एवं भ्रम से ग्रस्त) पुरुष है, किसी विसंवाद (तिरस्कार या क्लेश) के कारण, दु:ख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नहीं है फिर भी वह स्वयमेव हीन भावनाग्रस्त, दीन, दुश्चिन्त (दु:खित चित्त) दुर्मनस्क, उदास होकर मन में अस्वस्थ (बुरा) संकल्प करता रहता है, चिन्ता और शोक के सागर में

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ के अनुसार
२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक, ३१० का सारांश

डूबा रहता है, एवं हथेली पर मुंह रख कर (उदासीन मुद्रा में) पृथ्वी पर दृष्टि किये हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। निःसन्देह उसके हृदय में संचित चार कारण हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। वस्तुतः क्रोध, मान, माया और लोभ (आत्मा—अन्तःकरण में उत्पन्न होने के कारण) आध्यात्मिक भाव हैं। उस प्रकार अध्यात्मभाव के कारण सावद्यकर्म का बन्ध होता है। अतः आठवें क्रियास्थान को अध्यात्मप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—आठवाँ क्रियास्थान : अध्यात्मप्रत्ययिक : स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप समझाते हुए चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) अन्तःकरण (आत्मा) से प्रादुर्भूत होने के कारण इसे अध्यात्मप्रत्ययिक कहते हैं, (२) मनुष्य अपने चिन्ता, संशयग्रस्त दुर्मन के कारण ही हीन, दीन, दुश्चिन्त, हो कर आर्त्तध्यान में प्रवृत्त होता है, (३) इस अध्यात्मक्रिया के पीछे क्रोधादि चार कारण होते हैं। (४) इसलिए आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्रोधादि चार के कारण जो क्रिया होती है, उसके निमित्त से पापकर्म बन्ध होता है।[1]

नौवां क्रियास्थान—मानप्रत्ययिक : स्वरूप, कारण, परिणाम—

७०३—अहावरे णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जई। से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमदेण वा कुलमदेण वा बलमदेण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमदेण वा लाभमदेण वा इस्सरियमदेण वा पण्णामदेण वा अन्नतरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णेति, इत्तरिए अयमंसि अप्पाणं समुक्कसे, देहा चुए कम्मबितिए अवसे पयाति, तंजहा गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, मारातो मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिते।

७०३—इसके पश्चात् नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुत (शास्त्रज्ञान) मद, लाभमद, ऐश्वर्यमद एवं प्रज्ञामद, इन आठ मदस्थानों में से किसी एक मद-स्थान से मत्त हो कर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना (अवज्ञा) करता है, निन्दा करता है, उसे झिड़कता है, या घृणा करता है, गर्हा करता है, दूसरे को नीचा दिखाता (पराभव करता) है, उसका अपमान करता है। (वह समझता है—) यह व्यक्ति हीन (योग्यता, गुण आदि में मुझ से न्यून) है, मैं विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणों से सम्पन्न हूँ, इस प्रकार अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है।

इस प्रकार जाति आदि मदों से उन्मत्त पुरुष आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को (यहीं) छोड़ कर कर्ममात्र को साथ ले कर विवशतापूर्वक परलोक प्रयाण करता है। वहाँ वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को और एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता है। परलोक में वह चण्ड (भयंकर क्रोधी अतिरौद्र), नम्रतारहित चपल, और अतिमानी होता है।

इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान (मद) की क्रिया के कारण सावद्यकर्मबन्ध करता है। यह नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है।

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१० का सारांश

विवेचन—नौवाँ क्रियास्थान: मानप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में मानप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार तीन तथ्यों को सूचित करते हैं—

(१) मान की उत्पत्ति के स्रोत—आठमद

(२) मानक्रिया का प्रत्यक्ष रूप—दूसरों की अवज्ञा, निन्दा, घृणा, पराभव, अपमान आदि तथा दूसरे को जाति आदि से हीन और स्वयं को उत्कृष्ट समझना।

(३) जाति आदि वश मानक्रिया का दुष्परिणाम—दुष्कर्मवश चिरकाल तक जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण, प्रकृति अतिरौद्र, अतिमानी, चंचल और नम्रतारहित।[1]

दसवाँ क्रियास्थान—मित्रदोषप्रत्ययिक : स्वरूप कारण और दुष्परिणाम—

७०४—अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जति, से जहाणामए केइ पुरिसे मातीहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नतरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तंजहा—सीतोदग-वियडंसि वा कायं ओबोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएण वा कायं उड्डहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छिवाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालेत्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति; तहप्पकारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पवसमाणे सुमणा भवंति, तहप्पकारे पुरिसजाते दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिते परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिते।

७०४—इसके वाद दसवाँ क्रियास्थान मित्र दोषप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे—कोई (प्रभुत्व सम्पन्न) पुरुष माता, पिता, भाइयों, वहनों, पत्नी, कन्याओं, पुत्रों अथवा पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ, इनसे कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाने पर स्वयं भारी दण्ड देता है, उदाहरणार्थ—सर्दी के दिनों में अत्यन्त ठंडे पानी में उन्हें डुवोता है; गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म (उवलता हुआ) पानी छींटता है, आग से उनके शरीर को जला देता है या गर्म दाग देता है, तथा जोत्र से, वेंत से, छड़ी से, चमड़े से, लता से या चावुक से अथवा किसी प्रकार की रस्सी से प्रहार करके उसके वगल (पार्श्वभाग) की चमड़ी उधेड़ देता है, तथैव डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से ठीकरे या खप्पर से मार-मार कर उसके शरीर को ढीला (जर्जर) कर देता है। ऐसे (अतिक्रोधी) पुरुष के घर पर रहने से उसके सहवासी परिवारिकजन दुःखी रहते हैं, ऐसे पुरुष के परदेश प्रवास करने से वे सुखी रहते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति जो (हरदम) डंडा वगल में दवाये रखता है, जरा से अपराध पर भारी दण्ड देता है, हर वात में दण्ड को आगे रखता है अथवा दण्ड को आगे रख कर वात करता है, वह इस लोक में तो अपना अहित करता ही है परलोक में भी अपना अहित करता है। वह प्रतिक्षण ईर्ष्या से जलता रहता है, वात-वात में क्रोध करता है, दूसरों की पीठ पीछे निन्दा करता है, या चुगली खाता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३११ का सारांश

इस प्रकार के (महादण्डप्रवर्त्तक) व्यक्ति को हितैषी (मित्र) व्यक्तियों को महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का वन्ध होता है। इसी कारण इस दसवें क्रियास्थान को 'मित्रदोष-प्रत्ययिक' कहा गया है।

विवेचन—दसवाँ क्रियास्थान : मित्रदोषप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और दुष्परिणाम—प्रस्तुत में मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार पाँच तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं—(१) मित्र के समान हितैषी सहवासी स्वजन-परिजनों में से किसी के जरा-से दोष पर कोई जबर्दस्त व्यक्ति उसे भारी दण्ड देता है, इस कारण इसे मित्रदोषप्रत्ययिक कहते हैं। (२) उक्त प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहवासी स्वजन—परिजनों को गुरुतरदण्ड देने की प्रक्रिया का निरूपण। (३) ऐसे महादण्ड प्रवर्त्तक पुरुष की निन्द्य एवं तुच्छ प्रकृति का वर्णन। (४) इहलोक और परलोक में उसका अहितकर दुष्परिणाम। (५) मित्रजनों के दोष पर महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का वन्ध।[1]

ग्यारहवां क्रियास्थान—मायाप्रत्ययिक : स्वरूप, प्रक्रिया और परिणाम—

७०५—अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जत्ति, जे इमे भवंति—गूढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया, पव्वयगुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ विउज्जंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरेंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णीहरति, णो अन्नेण णीहरावेति, णो पडिविद्धंसेति, एवामेव णिण्हवेति, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियाति, एवामेव माई मायं कट्टु णो आलोएति णो पडिक्कमति णो णिंदति णो गरहति णो विउट्टति णो विसोहति णो अकरणयाए अब्भुट्ठेति णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जति, मायी अस्सिं लोए पच्चायाइ, मायी परंसि लोए पच्चायाति, निंदं गहाय पसंसते, णिच्चरति, ण नियट्टति, णिसिरिय दंडं छाएति, मायी असमाहडसुहलेसे यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिते।

७०५—ग्यारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे मायाप्रत्ययिक कहते हैं। ऐसे व्यक्ति, जो किसी को पता न चल सके, ऐसे गूढ आचार (आचरण) वाले होते हैं, लोगों को अंधेरे में रख कर कायचेष्टा या क्रिया (काम) करते हैं, तथा (अपने कुकृत्यों के कारण) उल्लू के पंख के समान हलके होते हुए भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा भारी समझते हैं, वे आर्य्य (आर्यदेशोत्पन्न) होते हुए भी (स्वयं को छिपाने के लिए) अनार्यभाषाओं का प्रयोग करते हैं, वे अन्य रूप में होते हुए भी स्वयं को अन्यथा (साधु पुरुष के रूप में) मानते हैं; वे दूसरी बात पूछने पर (वाचालतावश) दूसरी बात का व्याख्यान करने लगते हैं, दूसरी बात कहने के स्थान पर (अपने अज्ञान को छिपाने के लिए) दूसरी बात का वर्णन करने पर उतर जाते हैं। (उदाहरणार्थ—)जैसे किसी (युद्ध से पलायित) पुरुष के अन्तर में शल्य (तीर या नुकीला कांटा) गड़ गया हो, वह उस शल्य को (वेदनासहन में भीरुता प्रदर्शित न हो, इसलिए या पीड़ा के डर से) स्वयं नही निकालता न किसी दूसरे से निकलवाता है, और न

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१२ का सारांश

(चिकित्सक के परामर्शानुसार किसी उपाय से) उस शल्य को नष्ट करवाता है, प्रत्युत निष्प्रयोजन ही उसे छिपाता है, तथा उसकी वेदना से अंदर ही अंदर पीड़ित होता हुआ उसे सहता रहता है, इसी प्रकार मायी व्यक्ति भी माया (कपट) करके उस (अन्तर में गड़े हुए) मायाशल्य को निन्दा के भय से स्वयं (गुरुजनों के समक्ष) आलोचना नहीं करता, न उसका प्रतिक्रमण करता है, न (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता है, न (गुरुजन समक्ष) उसकी गर्हा करता है, (अर्थात्, उक्त मायाशल्य को न तो स्वयं निकालता है, और न दूसरों से निकलवाता है।) न वह उस (मायाशल्य) को प्रायश्चित्त आदि उपायों से तोड़ता (मिटाता) है, और न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुनः न करने के लिए भी उद्यत नहीं होता, तथा उस पापकर्म के अनुरूप यथायोग्य तपश्चरण के रूप में प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता।

इस प्रकार मायी इस लोक में (मायी रूप में) प्रख्यात हो जाता है, (इसलिए) अविश्वसनीय हो जाता है; (अतिमायी होने से) परलोक में (अधम यातना स्थानों—नरक तिर्यञ्चगतियों में) भी पुनः पुनः जन्म-मरण करता रहता है। वह (नाना प्रपञ्चों से वंचना करके) दूसरे की निन्दा करता है, दूसरे से घृणा करता है, अपनी प्रशंसा करता है, निश्चिन्त हो कर बुरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, असत् कार्यों से निवृत्त नहीं होता, प्राणियों को दण्ड दे कर भी उसे स्वीकारता नहीं, छिपाता है (दोष ढँकता है)। ऐसा मायावी शुभ लेश्याओं को अंगीकार भी नहीं करता।

ऐसा मायी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार की माया (कपट) युक्त क्रियाओं के कारण पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध करता है। इसीलिए ग्यारहवें क्रियास्थान को मायाप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—ग्यारहवाँ क्रियास्थान : मायाप्रत्ययिक—स्वरूप, मायाप्रक्रिया और दुष्परिणाम— प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का निरूपण करते हुए मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

(१) मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का मूलाधार—मायाचारियों द्वारा अपनाई जाने वाली माया की विविध प्रक्रियाएं।

(२) मायाचारी की प्रकृति का सोदाहरण वर्णन—मायाशल्य को अन्त तक अन्तर से न निकालने का स्वभाव।

(३) मायाप्रधान क्रिया का इहलौकिक एवं पारलौकिक दुष्फल—कुगतियों में पुनः पुनः गमनागमन, एवं कुटिल दुर्वृत्तियों से अन्त तक पिण्ड न छूटना।

(४) मायिक क्रियाओं के कारण पापकर्म का बन्ध एवं मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

बारहवाँ क्रियास्थान—लोभप्रत्ययिक : अधिकारी, प्रक्रिया और परिणाम—

७०६—अहावरे बारसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए ति आहिज्जति, तंजहा—जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईराहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया सव्वपाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति-अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१३-३१४ का सारांश

अज्जावेतव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेत्तव्वो अन्ने परिघेत्तव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता गरहिता अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिते। इच्चेताइं दुवालस किरियाठाणाइं दविएणं समणेणं वा माहणेणं वा सम्मं सुपरिजाणियव्वाइं[1] भवंति।

७०६—इसके पश्चात् बारहवां क्रियास्थान है, जिसे लोभप्रत्ययिक कहा जाता है। वह इस प्रकार है—ये जो वन में निवास करने वाले (आरण्यक) हैं, जो कुटी बना कर रहते (आवसथिक) हैं, जो ग्राम के निकट डेरा डाल कर (ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने हेतु) रहते (ग्रामान्तिक) हैं, कई (गुफा, वन आदि) एकान्त (स्थानों) में निवास करते हैं, अथवा कोई रहस्यमयी गुप्त क्रिया करते (राहस्यिक) हैं। ये आरण्यक आदि न तो सर्वथा संयत (सर्वसावद्य अनुष्ठानों से निवृत्त) हैं और न ही (प्राणातिपातादि समस्त आश्रवों से) विरत हैं, वे समस्त प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से स्वयं विरत नहीं हैं। वे (आरण्यकादि) स्वयं कुछ सत्य और कुछ मिथ्या (सत्यमिथ्या) (अथवा सत्य होते हुए भी जीवहिंसात्मक होने से मृषाभूत) वाक्यों का प्रयोग करते हैं जैसे कि—मैं (ब्राह्मण होने से) मारे जाने योग्य नहीं हूं, अन्य लोग (शूद्र होने से) मारे जाने योग्य (मारे जा सकते) हैं, मैं (वर्णों में उत्तम ब्राह्मणवर्णीय होने से) आज्ञा देने (आज्ञा में चलाने) योग्य नहीं हूं, किन्तु दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) आज्ञा देने योग्य हैं, मैं (दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर) परिग्रहण या निग्रह करने योग्य, नहीं हूं, दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) परिग्रह या निग्रह करने योग्य हैं, मैं संताप देने योग्य नहीं हूं, किन्तु अन्य जीव सन्ताप देने योग्य हैं, मैं उद्विग्न करने या जीवरहित करने योग्य नहीं हूं दूसरे प्राणी उद्विग्न, भयभीत या जीवरहित करने योग्य हैं।'

इस प्रकार परमार्थ से अनभिज्ञ वे अन्यतीर्थिक स्त्रियों और शब्दादि कामभोगों में आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध (विषयलोलुप) सतत विषयभोगों में ग्रस्त, गर्हित एवं लीन रहते हैं।

वे चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक काम-भोगों का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु पा कर असुरलोक में किल्विषी असुर के रूप में उत्पन्न होते हैं। उस आसुरी योनि से (आयुक्षय होने से) विमुक्त होने पर (मनुष्यभव में भी) बकरे की तरह मूक, जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एवं भाव से अज्ञानान्ध) एवं जन्म से मूक होते हैं। इस प्रकार विषय-लोलुपता की क्रिया के कारण लोभप्रत्ययिक पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध होता है।

इसीलिए बारहवें क्रियास्थान को लोभप्रत्ययिक कहा गया है।

इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों (के स्वरूप) को मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य-भव्य) श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए, और तत्पश्चात् इनका त्याग करना चाहिए।

---

१. पाठान्तर—'सुपरिजाणियव्वाइं' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'सुपडिलेहियव्वाणि'—अर्थ होता है—'इनके हेयत्व, ज्ञेयत्व, उपादेयत्व का सम्यक् प्रतिलेखन—समीक्षापूर्वक विचार कर लेना चाहिए।'

विवेचन—बारहवां क्रियास्थान : लोभप्रत्ययिक—अधिकारी, लोभप्रक्रिया एवं दुष्परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार पांच तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं—

(१) लोभप्रत्यया क्रिया के अधिकारी—आरण्यक आदि।

(२) वे विषयलोलुपतावश प्राणातिपात, मृषावाद आदि से सर्वथा विरत नहीं होते, कतिपय उदाहरणों सहित वर्णन।

(३) लोभक्रिया का मूलाधार—स्त्रियों एवं शब्दादि कामभोगों में आसक्ति, लालसा, वासना एवं अन्वेषणा।

(४) विषयभोगों की लोलुपता का दुष्फल—आसुरी किल्विषिक योनि में जन्म, तत्पश्चात् एलक-मूकता, जन्मान्धता, जन्ममूकता की प्राप्ति।

(५) विषयलोभ की पूर्वोक्त प्रक्रिया के कारण पापकर्मबन्ध और तदनुसार लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

'णोबहुसंजया'—जो अधिकांशतः संयमी नहीं हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे तापस आदि प्रायः त्रसजीवों का दण्डसमारम्भ नहीं करते, किन्तु एकेन्द्रियोपजीवी रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं, इसलिए स्थावर जीवों का दण्डसमारम्भ करते ही हैं।[2]

'णो बहुपडिविरया'—जो अधिकांशतः प्राणातिपात आदि आश्रवों से विरत नहीं हैं। अर्थात् जो प्राणातिपातविरमण आदि सभी व्रतों के धारक नहीं हैं किन्तु द्रव्यतः कतिपय व्रतधारक हैं, भावतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप कारणों के अभाव में जरा भी सम्यक्व्रत (चारित्र) के धारक नहीं हैं।

भोगभोगाइं—इसका भावार्थ यह है कि स्त्री सम्बन्धी भोग होने पर शब्दादि भोग अवश्यम्भावी होते हैं, इसलिए शब्दादि भोग भोग-भोग कहलाते हैं।[3]

आसुरिएसु—जिन स्थानों में सूर्य नहीं है, वे आसुरिक स्थान हैं।[4]

तेरहवां क्रियास्थान : ऐर्यापथिक : अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रिया एवं सेवन—

७०७—अहावरे तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जति, इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वइसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वइगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभचारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवातमवि अत्थि वेमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नामं कज्जति, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा,

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१४-३१५ का सारांश

२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१४

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१५.

४. 'आसुरिएसु—······जेसु सूरो नत्थिट्ठाणेसु'—सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. १६३

बितीयसमए वेदिता, ततियसमए णिज्जिण्णा, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं चावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं असावज्जे त्ति आहिज्जति, तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिते।

से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एताइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पण्णविसु वा पण्णवेंति वा पण्णविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा।

७०७—इसके पश्चात् तेरहवाँ क्रियास्थान है, जिसे ऐर्यापथिक कहते हैं। इस जगत् में या आर्हतप्रवचन में जो व्यक्ति अपने आत्मार्थ (आत्मभाव) के लिए उपस्थित एवं समस्त परभावों या पापों से (मन-वचन-काया से) संवृत (निवृत्त) है तथा घरबार आदि छोड़ कर अनगार (मुनिधर्म में प्रव्रजित) हो गया है, जो ईर्यासमिति से युक्त है, सावद्य भाषा नहीं बोलता, इसलिए जो भाषा-समिति से युक्त है, जो एषणासमिति का पालन करता है, जो पात्र, उपकरण आदि के ग्रहण करने और रखने की (आदान-निक्षेप)समिति से युक्त है, जो लघु नीति, बड़ी नीति, थूक, कफ, नाक के मैल आदि के परिष्ठापन की (उच्चारादि परिष्ठापन) समिति से युक्त है, जो मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त (विषयों से सुरक्षित या वश में) हैं, जिसका ब्रह्मचर्य नौ गुप्तियों से गुप्त (सुरक्षित) है, जो साधक उपयोग (यतना) सहित गमन करता है, उपयोगपूर्वक खड़ा होता है, उपयोगपूर्वक बैठता है, उपयोगसहित करवट बदलता है, यतनापूर्वक भोजन करता है, यतना के साथ बोलता है, उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि को ग्रहण करता है और उपयोगपूर्वक ही इन्हें रखता-उठाता है, यहाँ तक कि आँखों की पलकें भी उपयोगसहित झपकाता है।

ऐसे (पूर्वोक्त अर्हताओं से युक्त) साधु में विविध मात्रा (प्रकार) वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसे वह करता है। उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श होता है, द्वितीय समय में उसका वेदन (अनुभव, फलभोग) होता है, तृतीय समय में उसकी निर्जरा होती है। इस प्रकार वह ईर्यापथिकी क्रिया क्रमशः बद्ध, स्पृष्ट, उदीरित (उदीरणा की जाती है), वेदित (वेदन का विषय) और निर्जीण होती (निर्जरा की जाती) है। फिर आगामी (चतुर्थ) समय में वह अकर्मता को प्राप्त (कर्मरहित) होती है।

इस प्रकार वीतराग पुरुष के पूर्वोक्त ईर्यापथिक क्रिया के कारण असावद्य (निरवद्य) कर्म का (त्रिसमयात्मक) बन्ध होता है। इसीलिए इस तेरहवें क्रियास्थान को ऐर्यापथिक कहा गया है। (श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—) मैं कहता हूं कि भूतकाल में जितने तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल में जितने तीर्थंकर हैं, और भविष्य में जितने भी तीर्थंकर होंगे, उन सभी ने इन तेरह क्रियास्थानों का कथन किया है, करते हैं तथा करेंगे, इसी प्रकार भूतकालीन तीर्थंकरों ने इन्हीं १३ क्रियास्थानों की प्ररूपणा की है, वर्तमान तीर्थंकर करते हैं तथा भविष्यकालिक तीर्थंकर इन्हीं की प्ररूपणा करेंगे। इसी प्रकार प्राचीन तीर्थंकरों ने इसी तेरहवें क्रियास्थान का सेवन किया है, वर्तमान तीर्थंकर इसी का सेवन करते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी इसी का सेवन करेंगे।

विवेचन—तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक—अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रियाप्ररूपण एवं सेवन— प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने ऐर्यापथिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में छह तथ्यों का निरूपण किया है—

(१) ऐर्यापथिक क्रियावान् की अर्हताएँ—समिति, गुप्ति, इन्द्रियगुप्ति तथा ब्रह्मचर्यगुप्ति वस्त्रादि से सम्पन्न।

(२) ऐर्यापथिक क्रिया का स्वरूप—गति, स्थिति, पार्श्वपरिवर्तन, भोजन, भाषण और आदान-निक्षेप यहाँ तक कि पक्ष्मनिपात (पलक झपकना) आदि समस्त सूक्ष्म क्रियाएं उपयोगपूर्वक करना।

(३) ऐर्यापथिक क्रिया की क्रमशः प्रक्रिया—त्रिसमयिक, बद्ध-स्पृष्ट, वेदित, निर्जीर्ण, तत्पश्चात् अक्रिय (कर्मरहित)।

(४) ऐर्यापथिक असावद्य क्रिया के निमित्त से होने वाला त्रिसमयवर्ती शुभकर्मबन्धन, ऐर्यापथिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।

(५) त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा इन्हीं तेरह क्रियास्थानों का कथन और प्ररूपण।

(६) त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा मात्र तेरहवें क्रियास्थान का ही सेवन।[1]

ऐर्यापथिकी क्रिया और और उसका अधिकारी—क्रियाएँ गुणस्थान की दृष्टि से मुख्यतया दो कोटि की हैं—साम्परायिक क्रिया और ऐर्यापथिकी क्रिया। पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के जीवों में साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। पहले गुणस्थान से दसवें गुण स्थान तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँचों में कोई न कोई अवश्य विद्यमान रहता है, और कषाय जहाँ तक है, वहाँ तक साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान से आगे तेरहवें गुणस्थान तक कषाय का उदय नहीं रहता सिर्फ योग विद्यमान रहता है। इसलिए योगों के कारण वहाँ केवल सातावेदनीय कर्म का प्रदेशबन्ध होता है, स्थितिबन्ध नहीं, क्योंकि स्थितिबन्ध वहीं होता है जहाँ कषाय है।

ऐर्यापथिकी क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि प्रथम समय में इसका बन्ध और स्पर्श होता है, दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है, इस दृष्टि से निष्कषाय वीतराग पुरुष को भी सयोगावस्था तक इस क्रिया का बन्ध होता है। केवलज्ञानी सयोगावस्था में सर्वथा निश्चल निष्कम्प नहीं रह सकते, क्योंकि मन, वचन, काया के योग उनमें विद्यमान हैं। और ऐर्यापथिक क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि धीरे से पलक गिराने पर यह क्रिया लग जाती है।

ऐर्यापथिक क्रिया प्राप्त करने की अर्हताएँ—शास्त्रकार ने यहाँ ऐर्यापथिक क्रिया के अधिकारी साधक की मुख्य पाँच अर्हताएँ प्रस्तुत की हैं—

(१) आत्मत्व—आत्मभाव में स्थित एवं विषय-कषायों आदि परभावों से विरत।

(२) सांसारिक शब्दादि वैषयिक सुखों से विरक्त, एकमात्र आत्मिक सुख के लिए प्रयत्नशील।

(३) गृहवास तथा माता-पिता आदि का एवं धन-सम्पत्ति आदि संयोगों का ममत्व त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित, अप्रमत्त भाव से अनगार-धर्मपालन में तत्पर।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१६-३१७ का सारांश

(४) प्रत्येक प्रवृत्ति में समिति से युक्त, तथा यतनाशील ।

(५) मन, वचन, काया और इन्द्रियों की गुप्ति से युक्त, नवगुप्ति सहित ब्रह्मचर्यनिष्ठ ।

इस दृष्टि से प्रस्तुत मूलपाठ में वर्णित सुविहित साधु में मिथ्यात्त्व, अविरति न होने पर भी कदाचित् प्रमाद एवं कषाय की सूक्ष्ममात्रा रहती है, इसलिए सिद्धान्ततः ऐर्यापथिक क्रिया न लग कर साम्प्रदायिक क्रिया लगती है ।

जिस साधु में प्रस्तुत सूत्रोक्त अर्हताएँ नहीं हैं, वह वीतराग अवस्था को निकट भविष्य में प्राप्त नहीं कर सकता और वीतराग अवस्था प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा ऐर्यापथिक क्रिया को प्राप्त नहीं कर सकता ।[1]

अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान के विकल्प—

७०८—अदुत्तरं च णं पुरिसविजयविभंगमाइक्खिस्सामि ।

इह खलु नाणापण्णाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं नाणारंभाणं नाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं नाणाविहं पावसुयज्झयणं एवं भवति, तंजहा-भोम्मं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरलक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिढलक्खणं कुक्कडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टगलक्खणं लावगलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भकरं मोहणकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसीदाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सावरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं ओवतणिं उप्पतणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमणिं एवमादिआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूव-रूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्जं सेवंति, अणारिया विप्पडिवन्ना ते कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ततो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति ।

७०८—इसके पश्चात् पुरुषविजय (जिस-जिस विद्या से कतिपय अल्पसत्त्व पुरुषगण अनर्थानु-

---

१. (क) ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथस्तत्रभवमीर्यापथिकम् । अर्थात्—गमनागमनादि करना ईर्या है, उसका या उसके सहारे से पथ का उपयोग करना ईर्यापथ है । ईर्यापथ से होने वाली क्रिया ईर्यापथिक है । यह इसका शब्दव्युत्पत्तिनिमित्त है । प्रवृत्तिनिमित्त इस प्रकार है—सर्वत्रोपयुक्तस्याकषायस्य समीक्षित मनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया, तया यत्कर्म तदीर्यापथिकेत्युच्यते ।' अर्थात्—जो साधक सर्वत्रोपयोगयुक्त हो, अकषाय हो, मन-वचन-काया की क्रिया भी देखभालकर करता हो, उसकी (कायिक) क्रिया ईर्यापथ-क्रिया है, उससे जो कर्म बंधता है, उसे ईर्यापथिका कहते हैं । —सूत्रकृतांग शी० वृत्ति, पत्रांक ३१६

(ख) देखिये 'केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु' इत्यादि वर्णन

—सूत्रकृ. शी. वृत्ति, पत्रांक ३१६

बन्धी विजय प्राप्त करते हैं) अथवा पुरुषविचय (पुरुषगण विज्ञानद्वारा जिसका विचय—अन्वेषण करते हैं) के विभंग (विभंगज्ञानवत् ज्ञानविशेष या विकल्पसमूह) का प्रतिपादन करूंगा।

इस मनुष्यक्षेत्र में या प्रवचन में (विचित्र क्षयोपशम होने से) नाना प्रकार की प्रज्ञा, नाना अभिप्राय, नाना प्रकार के शील (स्वभाव) विविध (पूर्वोक्त ३६३ जैसी) दृष्टियों, (आहारविहारादि में) अनेक रुचियों (कृषि आदि) नाना प्रकार के आरम्भ तथा नाना प्रकार के अध्यवसायों से युक्त मनुष्यों के द्वारा (अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि आदि के अनुसार) अनेकविध पापशास्त्रों (सावद्यकार्यों में प्रवृत्त करने वाले ग्रन्थों) का अध्ययन किया जाता है। वे (पापशास्त्र) इस प्रकार हैं—(१) भौम (भूकम्प आदि तथा भूमिगत जल एवं खनिज पदार्थों की शिक्षा देने वाला शास्त्र), (२) उत्पात (किसी प्रकार के प्राकृतिक उत्पात-उपद्रव की एवं उसके फलाफल की सूचना देने वाला शास्त्र), (३) स्वप्न (स्वप्नों के प्रकार एवं उनके शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र), (४) अन्तरिक्ष(आकाश में होने वाले मेघ, विद्युत्, नक्षत्र आदि की गतिविधि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र), (५) अंग (नेत्र, भृकुटि, भुजा आदि अंगों के स्फुरण का फल बताने वाला शास्त्र), (६) स्वर (कौआ, सियार एवं पक्षी आदि की आवाजों का फल बताने वाला स्वर-शास्त्र अथवा स्वरोदय शास्त्र), (७) लक्षण (नरनारियों के हाथ पैर आदि अंगों में बने हुए यव, मत्स्य, चक्र, पद्म, श्रीवत्स आदि रेखाओं या चिह्नों का फल वताने वाला शास्त्र), (८) व्यञ्जन (मस, तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र) (९) स्त्रीलक्षण (विविध प्रकार की स्त्रियों का लक्षणसूचक शास्त्र) (१०) पुरुषलक्षण (विविध प्रकार के पुरुषों के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (११) हयलक्षण (घोड़ों के लक्षण बताने वाला शालिहोत्र शास्त्र) (१२) गजलक्षण (हाथियों के लक्षण का प्रतिपादक पालकाप्य शास्त्र) (१३) गोलक्षण (विविध प्रकार के गोवंशों का लक्षणसूचक शास्त्र), (१४) मेषलक्षण (भेड़ या मेंढे के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (१५) कुक्कुटलक्षण (मुर्गों के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१६) तित्तिरलक्षण (नाना प्रकार के तीतरों के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१७) वर्तकलक्षण (बटेर या बत्तख के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (१८) लावकलक्षण (लावक पक्षी के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (१९) चक्रलक्षण (चक्र के या चकवे के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२०) छत्रलक्षण (छत्र के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (२१) चर्मलक्षण (चर्म रत्न के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२२) दण्डलक्षण (दण्ड के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२३) असिलक्षण (तलवार के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र) (२४) मणि-लक्षण (विविध मणियों-रत्नों के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (२५) काकिनी-लक्षण (काकिणीरत्न या कौड़ी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२६) सुभगाकर (कुरूप को सुरूप या सुभग बनाने वाली विद्या), (२७) दुर्भगाकर (सुरूप या सुभग को कुरूप या दुर्भग बना देने वाली विद्या), (२८) गर्भकरी (गर्भ रक्षा करने के उपाय बताने वाली विद्या), (२९) मोहनकरी (पुरुष या स्त्री को मोहित करने वाली अथवा कामोत्तेजन (मोह=मैथुन) पैदा करने वाली बाजीकरण करने वाली अथवा व्यामोह—मतिभ्रम पैदा करने वाली विद्या), (३०) आथर्वणी (तत्काल अनर्थ उत्पन्न करने वाली या जगत् का ध्वंस करने वाली विद्या), (३१) पाकशासन (इन्द्रजाल विद्या) (३२) द्रव्यहोम (मारण, उच्चाटन आदि करने के लिए मंत्रोंके साथ मधु, घृत आदि द्रव्यों की होमविधि बताने वाली विद्या) (३३) क्षत्रियविद्या (क्षत्रियों की शस्त्रास्त्रचालन एवं युद्ध आदि की विद्या) (३४) चन्द्रचरित (चन्द्रमा की गति आदि को वताने वाला शास्त्र), (३५) सूर्यचरित (सूर्य की गति-चर्या को बताने वाला शास्त्र), (३६) शुक्रचरित (शुक्रतारे की गति- चर्या को वताने वाला शास्त्र), (३७) बृहस्पतिचरित (बृहस्पति

गुरु की चाल को बतानेवाला शास्त्र), (३८) उल्कापात (उल्कापात का सूचक शास्त्र), (३९) दिग्दाह (दिशादाह का सूचक शास्त्र) (४०) मृगचक्र (ग्रामादि में प्रवेश के समय मृगादि पशुओं के दर्शन का शुभाशुभफल बतानेवाला शास्त्र), (४१) वायसपरिमण्डल (कौए आदि पक्षियों के बोलने का शुभाशुभफल बतानेवाला शास्त्र), (४२) पांसुवृष्टि (धूलिवर्षा का फलनिरूपक शास्त्र) (४३) केशवृष्टि (केशवर्षा का फलप्रतिपादक शास्त्र), (४४) मांसवृष्टि (मांसवर्षा का फलसूचक शास्त्र) (४५) रुधिरवृष्टि (रक्त-वर्षा का फल-निरूपक शास्त्र), (४६) वैताली (वैतालीविद्या, जिसके प्रभाव से अचेतन काष्ठ में भी चेतना-सी आ जाती है), (४७) अर्द्ध वैताली (वैताली विद्या की विरोधिनी विद्या, अथवा जिस विद्या के प्रभाव से उठाया हुआ दण्ड गिरा दिया जाए) (४८) अवस्वापिनी (जागते मनुष्य को नींद में सुला देने वाली विद्या), (४९) तालोद्घाटिनी (तालों को खोल देनेवाली विद्या), (५०) श्वपाकी (चाण्डालों की विद्या), (५१) शाबरीविद्या (५२) द्राविड़ी विद्या (५३) कालिंगी विद्या, (५४) गौरीविद्या (५५) गान्धारी विद्या, (५६) अवपतनी (नीचे गिरा देनेवाली विद्या), (५७) उत्पतनी (ऊपर उठा—उड़ा देने वाली विद्या), (५८) जृम्भणी (जमुहाई लेने सम्बन्धी अथवा मकान, वृक्ष या पुरुष को कंपा (हिला) देनेवाली विद्या) (५९) स्तम्भनी (जहाँ का तहाँ रोक देने-थमा देनेवाली विद्या), (६०) श्लेषणी (हाथ पैर आदि चिपका देनेवाली विद्या), (६१) आमयकरणी (किसी प्राणी को रोगी या ग्रहग्रस्त बना देनेवाली विद्या), (६२) विशल्यकरणी शरीर में प्रविष्ट शल्य को निकाल देनेवाली विद्या, (६३) प्रक्रमणी (किसी प्राणी को भूत-प्रेत आदि की बाधा—पीड़ा उत्पन्न कर देनेवाली विद्या) (६४) अन्तर्धानी (जिस विद्या से अंजनादि प्रयोग करके मनुष्य अदृश्य हो जाए) और (६५) आयामिनी (छोटी वस्तु को बड़ी बना कर दिखानेवाली विद्या) इत्यादि (इन और ऐसी ही) अनेक विद्याओं का प्रयोग वे (परमार्थ से अनभिज्ञ अन्यतीर्थिक या गृहस्थ अथवा स्वतीर्थिक द्रव्यलिंगी साधु) भोजन (अन्न) और पेय पदार्थों के लिए, वस्त्र के लिए, आवास-स्थान के लिए, शय्या की प्राप्ति के लिए तथा अन्य नाना प्रकार के काम-भोगों की (सामग्री की) प्राप्ति के लिए करते हैं। वे इन (स्व-परहित के या सदनुष्ठान के) प्रतिकूल वक्र विद्याओं का सेवन करते हैं। वस्तुतः वे विप्रतिपन्न (मिथ्यादृष्टि से युक्त विपरीत बुद्धि वाले) एवं (भाषार्य तथा क्षेत्रार्य होते हुए भी अनार्यकर्म करने के कारण) अनार्य ही हैं।

वे (इन मोक्षमार्ग-विघातक विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करके) मृत्यु का समय आने पर मर कर आसुरिक किल्विषिक स्थान में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से आयु पूर्ण होते ही देह छूटने पर वे पुनः पुनः ऐसी योनियों में जाते हैं जहाँ वे बकरे की तरह मूक, या जन्म से अंधे, या जन्म से ही गूंगे होते हैं।

७०९.—से एगतिओ आयहेउं वा णायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पाडिपहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४, अदुवा गंठिच्छदेए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोवरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोपालए ११, अदुवा गोघायए १२, अदुवा सोणइए १३, अदुवा सोवणियंतिए १४।

से एगतिओ अणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगमियाणुगमिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १।

से एगतिश्रो उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरित २ हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता श्राहारं श्राहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं श्रत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति २।

से एगतिश्रो पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता श्राहारं श्राराहेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं श्रत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ३।

से एगतिश्रो संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधि छेत्ता भेत्ता जाव इति से महता पावेहिं कम्मेहिं श्रत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ४।

से एगतिश्रो गंठिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठि छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं श्रप्पाणं उवक्खाइत्ता भवति ५।

से एगतिश्रो उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा श्रण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ६। एसो श्रभिलावो सव्वत्थ।

से एगतिश्रो सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा श्रण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ७।

से एगतिश्रो वागुरियभावं पडिसंधाय मिगं वा श्रण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ८।

से एगतिश्रो साउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ९।

से एगतिश्रो मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा श्रण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १०।

से एगतिश्रो गोघातगभावं पडिसंधाय गोणं वा श्रण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ११।

से एगतिश्रो गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १२।

से एगतिश्रो सोवणियभावं पडिसंधाय सुणगं वा श्रन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १३।

से एगतिश्रो सोवणियंतियभावं पडिसंधाय मणुस्सं वा श्रन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव श्राहारं श्राहारेति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं श्रत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १४।

७०९—कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञातिजनों के लिए अथवा कोई अपना घर बनाने के लिए या अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा अपने नायक या परिचित जन तथा सहवासी या पड़ौसी के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण करने वाले बनते हैं—(१) अनुगामिक (धनादि हरण के लिए किसी व्यक्ति के पीछे लग जानेवाला) बनकर, अथवा (२) उपचरक (पाप-

कृत्य करने के लिए किसी का सेवक) बनकर, या (३) प्रातिपथिक (धनादि हरणार्थ मार्ग में चल रहे पथिक का सम्मुखगामी पथिक) बनकर, अथवा (४) सन्धिच्छेदक (सेंध लगाकर घर में प्रवेश करके चोरी करनेवाला) बनकर, अथवा (५) ग्रन्थिच्छेदक (किसी की गांठ या जेब काटनेवाला) बनकर अथवा (६) औरभ्रिक (भेड़ चरानेवाला) बनकर, अथवा (७) शौकरिक (सूअर पालनेवाला) बनकर, या (८) वागुरिक (पारधी—शिकारी) बनकर, अथवा (९) शाकुनिक (पक्षियों को जाल में फंसानेवाला बहेलिया) बनकर, अथवा (१०) मात्स्यिक (मछुआ—मच्छीमार) बनकर, या (११) गोपालक बनकर, या (१२) गोघातक (कसाई) बनकर, अथवा (१३) श्वपालक (कुत्तों को पालनेवाला) बनकर, या (१४) शौवान्तिक (शिकारी कुत्तों द्वारा पशुओं का शिकार करके उनका अन्त करनेवाला) बनकर।

(१) कोई पापी पुरुष (ग्रामान्तर जाते हुए किसी धनिक के पास धन जानकर) उसका पीछा करने की नीयत से साथ में चलने की अनुकूलता समझ कर उसके पीछे-पीछे चलता है, और अवसर पा कर उसे (डंडे आदि से) मारता है, (तलवार आदि से) उसके हाथ-पैर आदि अंग काट देता है, (मुक्के आदि प्रहारों से उसके अंग चूर चूर कर देता है, (केश आदि खींच कर या घसीट कर) उसकी विडम्बना करता है, (चाबुक आदि से) उसे पीड़ित कर या डरा-धमका कर अथवा उसे जीवन से रहित करके (उसका धन लूट कर) अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महान् (क्रूर) पाप कर्मों के कारण (महापापी के नाम से) अपने आपको जगत् में प्रख्यात कर देता है।

(२) कोई पापी पुरुष किसी धनवान् की अनुचरवृत्ति, सेवकवृत्ति स्वीकार करके (विश्वास में लेकर) उसी (अपने सेव्य स्वामी) को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, एवं प्रहार करके, उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धनहरण कर अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति बड़े-बड़े पापकर्म करके महापापी के रूप में अपने आपको प्रख्यात कर लेता है।

(३) कोई पापी जीव किसी धनिक पथिक को सामने से आते देख उसी पथ पर मिलता है, तथा प्रातिपथिक भाव (सम्मुख आकर पथिक को लूटने की वृत्ति) धारण करके पथिका का मार्ग रोक कर (धोखे से) उसे मारपीट, छेदन, भेदन करके तथा उसकी विडम्बना एवं हत्या करके उसका धन, लूट कर अपना आहार-उपार्जन करता है। इस प्रकार महापापकर्म करने से वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(४) कोई पापी जीव (धनिकों के घरों में सेंध लगा कर, धनहरण करने की वृत्ति स्वीकार कर तदनुसार) सेंध डाल कर उस धनिक के परिवार को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, ताड़न और प्रहार करके, उसे डरा-धमका कर, या उसकी विडम्बना और हत्या करके उसके धन को चुरा कर अपनी जीविका चलाता है। इस प्रकार का महापाप करने के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(५) कोई पापी व्यक्ति धनाढ्यों के धन की गांठ काटने का धंधा अपना कर धनिकों की गांठ काटता रहता है। (उस सिलसिले में) वह (उस गांठ के स्वामी को) मारता-पीटता है, उसका छेदन-भेदन, एवं उस पर ताड़न-तर्जन करके तथा उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन

हरण कर लेता है, और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के रूप में विख्यात कर लेता है।

(६) कोई पापात्मा भेड़ों का चरवाहा बन कर उन भेड़ों में से किसी को या अन्य किसी भी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उसका छेदन-भेदन-ताड़न आदि करके तथा उसे पीड़ा देकर या उसकी हत्या करके अपनी आजीविका चलाता है। इस प्रकार का महापापी उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(७) कोई पापकर्मा जीव सूअरों को पालने का या कसाई का धन्धा अपना कर भैंसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उनके अंगों का छेदन-भेदन करके, उन्हें तरह-तरह से यातना देकर या उनका वध करके अपनी आजीविका का निर्वाह करता है। इस प्रकार का महान् पाप-कर्म करने के कारण संसार में वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है।

(८) कोई पापी जीव शिकारी का धंधा अपना कर मृग या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, छेदन-भेदन करके, जान से मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् में वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(९) कोई पापात्मा बहेलिया बन कर पक्षियों को जाल में फंसाकर पकड़ने का धंधा स्वीकार करके पक्षी या अन्य किसी त्रस प्राणी को मारकर, उसके अंगों का छेदन भेदन करके, या उसे विविध यातनाएँ देकर उसका वध करके उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह इस महान् पापकर्म के कारण विश्व में स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर लेता है।

(१०) कोई पापकर्मजीवी मछुआ बनकर मछलियों को जाल में फंसा कर पकड़ने का धंधा अपना कर मछली या अन्य त्रस जलजन्तुओं का हनन, छेदन-भेदन, ताड़न आदि करके तथा उन्हें अनेक प्रकार से यातनाएँ देकर, यहाँ तक कि प्राणों से रहित करके अपनी आजीविका चलाता है। अतः वह इस महापाप कृत्य के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(११) कोई पापात्मा गोवंशघातक (कसाई) का धंधा अपना कर गाय, बैल या अन्य किसी भी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, ताड़न आदि करके उसे विविध यातनाएँ देकर, यहां तक कि उसे जीवनरहित करके उससे अपनी जीविका कमाता है। परन्तु ऐसे निन्द्य महापापकर्म करने के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर लेता है।

(१२) कोई व्यक्ति गोपालन का धंधा स्वीकार करके (कुपित होकर) उन्हीं गायों या उनके बछड़ों को टोले से पृथक् निकाल-निकाल कर बार-बार उन्हें मारता-पीटता तथा भूखे रखता है, उनका छेदन-भेदन आदि करता है, उन्हें कसाई को बेच देता है, या स्वयं उनकी हत्या कर डालता है, उससे अपनी रोजी-रोटी कमाता है। इस प्रकार के महापापकर्म करने से वह स्वयं महापापियों की सूची में प्रसिद्धि पा लेता है।

(१३) कोई अत्यन्त नीचकर्मकर्ता व्यक्ति कुत्तों को पकड़ कर पालने का धंधा अपना कर उनमें से किसी कुत्ते को या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर, उसके अंगभंग करके या उसे यातना देकर, यहाँ तक कि उसके प्राण लेकर उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(१४) कोई पापात्मा शिकारी कुत्तों को रख कर श्वपाक (चाण्डाल) वृत्ति अपना कर ग्राम आदि के अन्तिम सिरे पर रहता है और पास से गुजरने वाले मनुष्य या प्राणी पर शिकारी कुत्ते छोड़ कर उन्हें कटवाता है फड़वाता है, यहां तक कि जान से मरवाता है। वह इस प्रकार का भयंकर पापकर्म करने के कारण महापापी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।

७१०—से एगतिओ परिसामज्झातो उट्ठित्ता अहमेयं हंछामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं[1] अदुवा सुराथालएणं[2] गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेति, अण्णेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेति, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं पि अण्णं समणुजाणति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, कप्पंतं पि अण्णं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीणं वा गाहावतिपुत्ताणं वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटगबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेति, अण्णेण वि झामावेति, झामेंतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताणं वा कुंडलं वा गुणं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति, अन्नेण वि अवहरावेति, अवहरंतं पि अन्नं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

---

१. खलदाणेण-चूर्णि सम्मत अर्थ-खलकेदाणं खलभिक्खं तद्रूणं दिण्णं, ण दिण्णं, तेण विरुद्धो-अर्थात्-तुच्छ वस्तु की भिक्षा दी, या कम दी, या नहीं दी, इस कारण विरुद्ध—प्रतिकूल होकर। वृत्ति सम्मत अर्थ—खलस्य कुथितादि विशिष्टस्य दानम्, खलके वाऽल्पधान्यादेर्दानं खलदानम् तेन कुपितः। अर्थात् सड़ीगली, तुच्छ आदि खराब वस्तु का दान, अथवा दुष्ट—खल देखकर अल्पधान्य आदि का दान देना खलदान है, इसके कारण कुपित होकर।

२. सुराथालएणं—चूर्णिसम्मत अर्थ—थालगेण सुरा पिज्जति, तत्थ परिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो, उट्ठवितो वा, तेण विरुद्धो। अर्थात्—सुरापान करने के पात्र (प्याली) से सुरा (मदिरा) पी जा सकती है; अतः मदिरापान के समय पंक्ति में बैठे हुए उस व्यक्ति की सुरापान करने की बारी नहीं आने दी या उसे पंक्ति में से उठा दिया, इस अपमान के कारण विरुद्ध होकर, वृत्तिसम्मत अर्थ—सुरायाःस्थालकं कोशकादि, तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपितः। अर्थात्—सुरापान करने का स्थालक—चषक—(प्याला) आदि पात्र, उससे अभीष्ट लाभ न होने से कुपित होकर। —सूत्रकृतांग (मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ. १६९

से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाण अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा चम्मच्छेदणगं वा चम्मकोसं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ णो वितिगिंछइ, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेति जाव अण्णं पि झामेंतं समणुजाणति इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, अण्णं पि कप्पेंतं समणुजाणति।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेति जाव समणुजाणति।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [तं०—] गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा कोण्डलं वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [तं०—] समणाण वा माहणाण वा दंडगं वा जाव चम्मच्छेदणगं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति, इति से महता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ समणं वा माहणं वा दिस्सा णाणाविधेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति, अदुवा णं अच्छराए अप्फालेत्ता भवति, अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवति, कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवति, जे इमे भवंति वोण्णमंता भारोक्कंता अलसगा वसलगा किमणगा समणगा पव्वयंती ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिबूहंति, नाइं ते पारलोइ[य]स्स अट्ठस्स किंचि वि सिलिस्संति, ते दुक्खंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टं(ड्डं)ति ते परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट(ड्ड)ण-परितप्पण-वह-बंधण-परिकिलेसातो अपडिविरता भवंति, ते महता आरंभेणं ते महया समारंभेणं ते महता आरंभसमारंभेणं विरूवविरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, सपुव्वावरं च णं ण्हाते कतबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाते कंठेमालकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पितमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिते चंदणोक्खित्त-गायसरीरे महति महालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयंसि सीहासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे, सव्वरातिएणं जोइणा झियायमाणेणं महताहतनट्ट-गीत-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंगपडुप्प-वाइतरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, भण देवाणुप्पिया! किं करेमो? किं आहरेमो? किं उवणेमो? किं आवि ट्ठवेमो! किं भे हिय इच्छितं? किं मे आसगस्स सदइ? तमेव पासित्ता

अणारिया एवं वदंति—देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अण्णे वि णं उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वदंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे अतिधुन्ने अतिआतरक्खे दाहिणगामिए[1] नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं[2] दुल्लभबोहिए यावि भविस्सइ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेआउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१०—(१) कोई व्यक्ति सभा में खड़ा होकर प्रतिज्ञा करता है—'मैं इस प्राणी को मारूंगा'। तत्पश्चात् वह तीतर, बतख, लावक, कबूतर, कपिंजल या अन्य किसी त्रसजीव को मारता है, छेदन-भेदन करता है, यहां तक कि उसे प्राणरहित कर डालता है। अपने इस महान् पापकर्म के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर देता है।

(२) कोई (प्रकृति से क्रोधी) पुरुष किसी (अनिष्ट शब्दरूप आदि आदान) कारण से अथवा सड़े गले, या थोड़ा-सा हलकी किस्म का अन्न आदि दे देने से अथवा किसी दूसरे पदार्थ (सुरास्थाल-कादि) से अभीष्ट लाभ न होने से (अपने स्वामी गृहपति आदि से) विरुद्ध (नाराज या कुपित) हो कर उस गृहपति के या गृहपति के पुत्रों के खलिहान में रखे शाली, व्रीहि जो, गेहूँ आदि धान्यों को स्वयं आग लगाकर जला देता अथवा दूसरे से आग लगवा कर जलवा देता है, उन (गृहस्थ एवं गृहस्थ के पुत्रों) के धान्य को जलानेवाले (दूसरे व्यक्ति को) अच्छा समझता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है।

(३) कोई (असहिष्णु) पुरुष अपमानादि प्रतिकूल शब्दादि किसी कारण (आदान) से, अथवा सड़ेगले या तुच्छ या अल्प अन्नादि के देने से या किसी दूसरे पदार्थ (सुराथालक आदि) से अभीष्ट लाभ न होने से उस गृहस्थ या उसके पुत्रों पर कुपित (नाराज या विरुद्ध) होकर उनके ऊँटों, गायों-बैलों, घोड़ों, गधों के जंघा आदि अंगों को स्वयं (कुल्हाड़ी आदि से) काट देता है, दूसरों से उनके अंग कटवा देता है, जो उन गृहस्थादि के पशुओं के अंग काटता है, उसे अच्छा समझता है।

इस महान् पापकर्म के कारण वह जगत् में अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर देता है।

(४) कोई (अतिरौद्र) पुरुष किसी अपमानादिजनक शब्दादि के कारण से, अथवा किसी गृह-पतिद्वारा खराब या कम अन्न दिये जाने अथवा उससे अपना इष्ट स्वार्थ-सिद्ध न होने से उस पर अत्यंत बिगड़ कर उस गृहस्थ की अथवा उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला अथवा गर्दभशाला

१. दाहिणगामिए, नेरइए कण्हपक्खिए—दाक्षिणात्य नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देवों में उत्पन्न होने वाला दक्षिणगामी, नैरयिक और कृष्णपक्षी होता है। सिद्धान्तानुसार-दिशाओं में दक्षिण दिशा; गतियों में नरकगति; पक्षों में कृष्णपक्ष अप्रशस्त माने जाते हैं।—शी. वृत्ति २२५

२. आगमिस्साणं-आगामी तीर्थंकरों के तीर्थ में मनुष्यभव पाकर दुर्लभबोधि होता है।—सू. चू. (मू.पा.टि.) पृ. १७३

को कांटों की शाखाओं (डालियों) से ढक कर स्वयं उसमें आग लगा कर जला देता है, दूसरों से जलवा देता है या जो उनमें आग लगा कर जला देने वाले को अच्छा समझता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से विख्यात कर देता है।

(५) कोई (अत्यन्त उग्र) व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण, अथवा गृहपति द्वारा खराब, तुच्छ या अल्प अन्न आदि दिये जाने से अथवा उससे अपने किसी मनोरथ की सिद्धि न होने से उस पर क्रुद्ध होकर उस के या उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि या मोती को स्वयं हरण करता है, दूसरे से हरण कराता है, या हरण करनेवाले को अच्छा जानता है।

इस प्रकार महापाप के कारण जगत् में वह महापापी के रूप में स्वयं को प्रसिद्ध कर देता है।

(६) कोई (द्वेषी) पुरुष श्रमणों या माहनों के किसी भक्त से सड़ा-गला, तुच्छ या घटिया या थोड़ा सा अन्न पाकर अथवा मद्य की हंडिया न मिलने से या किसी अभीष्ट स्वार्थ के सिद्ध न होने से अथवा किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण उन श्रमणों या माहनों के विरुद्ध (शत्रु) होकर उनका छत्र, दण्ड, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा (चिलिमिली या मच्छरदानी), चर्म, चर्म-छेदनक (चाकू) या चर्मकोश (चमड़े की थैली) स्वयं हरण कर लेता है, दूसरे से हरण करा लेता है, अथवा हरण करने वाले को अच्छा जानता है। इस प्रकार (अपहरण रूप) महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर देता है।

(७) कोई-कोई व्यक्ति तो (अपने कुकृत्य के इहलौकिक पारलौकिक फल का) जरा भी विचार नहीं करता, जैसे कि वह अकारण ही गृहपति या उनके पुत्रों के अन्न आदि को स्वयमेव आग लगा कर भस्म कर देता है, अथवा वह दूसरे से आग लगवा कर भस्म करा देता है, या जो आग लगा कर भस्म करता है, उसे अच्छा समझता है। इस प्रकार महापापकर्म उपार्जन करने के कारण जगत् में वह महापापी के रूप में बदनाम हो जाता है।

(८) कोई-कोई व्यक्ति अपने कृत दुष्कर्मों के फल का किंचित् भी विचार नहीं करता, जैसे कि—वह अकारण ही किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों के ऊंट, गाय, घोड़ों या गधों के जंघादि अंग स्वयं काट डालता है, या दूसरे से कटवाता है, अथवा जो उनके अंग काटता है, उसकी प्रशंसा एवं अनुमोदना करता है। अपनी इस पापवृत्ति के कारण वह महापापी के नाम से जगत् में पहिचाना जाता है।

(९) कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो स्वकृतकर्मों के परिणाम का थोड़ा-सा विचार नहीं करता, जैसे कि वह (किसी कारण के बिना ही अपनी दुष्टप्रकृतिवश) किसी गृहस्थ या उनके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, घुड़साल या गर्दभशाला को सहसा कंटीली झाड़ियों या डालियों से ढंक कर स्वयं आग लगाकर उन्हें भस्म कर डालता है, अथवा दूसरे को प्रेरित करके भस्म करवा को डालता है, या जो उनकी उक्त शालाओं को इस प्रकार आग लगा कर भस्म करता है, उसको अच्छा समझता है।

(१०) कोई व्यक्ति पापकर्म करता हुआ उसके फल का विचार नहीं करता। वह अकारण ही गृहपति या गृहपतिपुत्रों के कुण्डल, मणि, या मोती आदि को स्वयं चुरा लेता है, या दूसरों से चोरी करवाता है, अथवा जो चोरी करता है, उसे अच्छा समझता है।

(११) कोई (पापकर्म में धृष्ट) व्यक्ति स्वकृत दुष्कर्मों के फल का जरा भी विचार नहीं करता। वह अकारण ही (श्रमणादि-द्वेषी बन कर) श्रमणों या माहनों के छत्र, दण्ड, कमण्डलु, भण्डोपकरणों से लेकर चर्मछेदनक एवं चर्मकोश तक साधनों का स्वयं अपहरण कर लेता है, औरों से अपहरण करता है और जो अपहरण करता है, उसे अच्छा समझता है।

इस प्रकार की महती पापवृत्ति के कारण वह जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है।

(११) ऐसा कोई (पापसाहसी) व्यक्ति श्रमण और माहन को देख कर उनके साथ अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है और उस महान् पापकर्म के कारण उसकी प्रसिद्धि महापापी के रूप में हो जाती है। अथवा वह (मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति साधुदर्शन को अपशकुन मान कर साधु को अपने सामने से हटाने के लिए) चुटकी बजाता है अथवा (ओ ओदनमुण्ड! व्यर्थकाय-क्लेश-परायण! दुर्बुद्धे! हट सामने से) इस प्रकार के कठोर वचन बोलता है। भिक्षाकाल में भी अगर साधु उसके यहाँ दूसरे भिक्षुओं के पीछे भिक्षा के लिए प्रवेश करता है, तो भी वह साधु को स्वयं आहारादि नहीं देता दूसरा, कोई देता हो तो (विद्वेषवश) उसे यह कह कर भिक्षा देने से रोक देता है—ये पाखण्डी (घास और लकड़ी का) बोझा ढोते थे या नीच कर्म करते थे, कुटुम्ब के या बोझे के भार से (घबराए हुए) थे। ये बड़े आलसी हैं, ये शूद्र (वृषल) हैं, दरिद्र (कृपण, निकम्मे बेचारे एवं दीन) हैं, (कुटुम्ब पालन में असमर्थ होने से सुखलिप्सा से) ये श्रमण एवं प्रव्रजित हो गए हैं। वे (साधुद्रोही) लोग इस (साधुद्रोहमय) जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है, (उत्तम बता कर) उलटे इसकी प्रशंसा करते हैं। वे साधुद्रोहजीवी मूढ़ परलोक के लिए भी कुछ भी साधन नहीं करते; वे दुःख पाते हैं, वे शोक पाते हैं, वे पश्चात्ताप करते हैं, वे क्लेश पाते हैं, वे पीड़ावश छाती-माथा कूटते हैं, सन्ताप पाते हैं, वे दुःख, शोक पश्चात्ताप, क्लेश, पीड़ावश सिर पीटने आदि की क्रिया, संताप, वध, वन्धन आदि परिक्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते। वे महारम्भ और महासमारम्भ नाना प्रकार के पाप कर्मजनक कुकृत्य करके उत्तमोत्तम (उदार=प्रधान) मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते है। जैसे कि—वह आहार के समय (सरस स्वादिष्ट) आहार का, पीने के समय (उत्तम) पेय पदार्थों का, वस्त्र परिधान के समय वस्त्रों का, आवास के समय (सुन्दर सुसज्जित) आवासस्थान (भवन) का, शयन के समय (उत्तम—कोमल) शयनीय पदार्थों का उपभोग करते हैं। वह प्रातः काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल स्नान करते हैं फिर देव-पूजा के रूप में बलिकर्म करते चढ़ावा चढ़ाते हैं, देवता की आरती करके मंगल के लिए स्वर्ण, चन्दन, दही, अक्षत और दर्पण आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं, फिर प्रायश्चित्त के लिए शान्तिकर्म करते हैं। तत्पश्चात् सशीर्ष स्नान करके कण्ठ में माला धारण करते हैं। वह मणियों (रत्नों) और सोने (के आभूषणों) को अंगों में पहनता है, (फिर) सिर पर पुष्पमाला से युक्त मुकुट धारण करता है। (युवावस्था के कारण) वह शरीर से सुडौल एवं हृष्ट-पुष्ट होता है। वह कमर में करधनी (कन्दोरा) तथा वक्षस्थल पर फूलों की माला (गजरा) पहनता है। बिलकुल नया और स्वच्छ वस्त्र पहनता है। अपने अंगों पर चन्दन का लेप करता है। इस प्रकार सुसज्जित होकर अत्यन्त ऊंचे विशाल प्रासाद (कूटागारशाला) में जाता है। वहाँ वह बहुत बड़े भव्य सिंहासन पर बैठता है। वहाँ (शृंगारित व वस्त्राभूषणों से सुसज्जित) युवतियां (दासी आदि अन्य परिवार सहित) उसे घेर लेती हैं। वहाँ सारी रातभर दीपक आदि का प्रकाश जगमगाता रहता है। फिर वहाँ बड़े जोर से नाच, गान, वाद्य, वीणा, तल, ताल, त्रुटित, मृदंग तथा करतल आदि की, ध्वनि

होने लगती है। इस प्रकार उत्तमोत्तम (उदार) मनुष्यसम्बन्धी भोगों का उपभोग करता हुआ वह पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है। वह व्यक्ति जब किसी एक नौकर को आज्ञा देता है तो चार-पाँच मनुष्य विना कहे ही वहाँ आकर सामने खड़े हो जाते हैं, (और हाथ जोड़ कर पूछते हैं—) "देवों के प्रिय ! कहिये, हम आपकी क्या सेवा करें ? क्या लाएं, क्या भेंट करें ?, क्या-क्या कार्य करें ? आपको क्या हितकर है, क्या इष्ट (इच्छित) है ? आपके मुख को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट लगती है ? बताइए।"

उस पुरुष को इस प्रकार सुखोपभोगमग्न देख कर अनार्य (शुद्धधर्माचरण से दूर=अनाड़ी) लोग यों कहते हैं—यह पुरुष तो सचमुच देव है ! यह पुरुष तो देवों से भी श्रेष्ठ (स्नातक) है। यह मानव तो देवों का-सा जीवन जी रहा है (अथवा देवों के समान बहुत-से लोगों के जीवन का आधार है)। इसके आश्रय से अन्य लोग भी आनन्दपूर्वक जीते हैं।

किन्तु इस प्रकार (भोगविलास में डूबे हुए) उसी व्यक्ति को देख कर आर्य पुरुष (विवेकी=धर्मिष्ठ) कहते हैं—यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्मों में प्रवृत्त है, अत्यन्त धूर्त है (अथवा संसार-भ्रमणकारी धूर्तों=कर्मों से अतिग्रस्त है), अपने शरीर की यह बहुत रक्षा (हिफाजत) करता है, यह दक्षिणदिशावर्ती नरक के कृष्णपक्षी नारकों में उत्पन्न होगा। यह भविष्य में दुर्लभबोधि प्राणी होगा।

कई मूढ़ जीव मोक्ष के लिए उद्यत (साधुधर्म में दीक्षित) होकर भी इस (पूर्वोक्त) स्थान (विषय सुखसाधन) को पाने के लिए लालायित हो जाते हैं। कई गृहस्थ (अनुत्थित—संयम में अनुद्यत) भी इस (अतिभोगग्रस्त) स्थान (जीवन) को पाने की लालसा करते रहते हैं। कई अत्यन्त विषयसुखान्ध या तृष्णान्ध मनुष्य भी इस स्थान के लिए तरसते हैं।

(वस्तुतः) यह स्थान अनार्य (अनार्य आचरणमय होने से आर्यपुरुषों द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-रहित (या अशुद्ध) है, परिपूर्णसुखरहित (सद्गुण युक्त न होने से अपूर्ण—तुच्छ) है, सुन्याय-वृत्ति से रहित है, संशुद्धि-पवित्रता से रहित है, मायादि शल्य को काटने वाला नहीं है, यह सिद्धि (मोक्ष) मार्ग नहीं है, यह मुक्ति (समस्त कर्मक्षयरूप मुक्ति) का मार्ग नहीं है, यह निर्वाण का मार्ग नहीं है, यह निर्याण (संसारसागर से पार होने) का मार्ग नहीं है. यह सर्वदुःखों का नाशक मार्ग नहीं है, यह एकान्त मिथ्या और असाधु स्थान है।

यही अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विकल्प (विभंग) है, ऐसा (तीर्थंकरदेव ने) कहा है।

विवेचन—अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के विकल्पः—प्रस्तुत तीन लम्बे सूत्रपाठों (७०८ से ७१० तक) में शास्त्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से विस्तार-पूर्वक मुख्यतया पन्द्रह विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

(१) अधर्मपक्षीय लोगों द्वारा अपनाई जानेवाली सावद्य विद्याएँ।
(२) उनके द्वारा अपनाए जाने वाले पापमय व्यवसाय।
(३) उनके पापमय क्रूर आचार-विचार एवं व्यवहार।
(४) उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या।
(५) उनके विषय में अनार्यों एवं आर्यों के अभिप्राय।
(६) अधर्मपक्षीय अधिकारी और स्थान का स्वरूप।

सावद्य विद्याएँ—अधर्मपक्षीय लोग अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि या मनोवृत्ति के अनुसार भौम

से लेकर आयामिनी तक ६४ प्रकार की सावद्य (पापमय) विद्याओं का तथा उनके प्रतिपादक शास्त्रों, ग्रन्थों आदि का अध्ययन करते हैं ।[1]

पापमय व्यवसाय—कई अधर्मपक्षीय लोग अपने तथा परिवार आदि के लिए आनुगामिक से लेकर शौवान्तिक तक १४ प्रकार के व्यवसायिकों में से कोई एक बन कर अपना पापमय व्यवसाय चलाते हैं । वे इन पापमय व्यवसायों को अपनाने के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं ।

पापमय क्रूर आचार-विचार और व्यवहार—इन अधर्मपक्षीय लोगों के पापमय आचार विचार और व्यवहार के सम्बन्ध में सूत्रसंख्या ७१० में ग्यारह विकल्प प्रस्तुत किये हैं । वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) सभा में किसी पंचेन्द्रिय प्राणी को मारने का संकल्प करके उसे मारना, (२) किसी व्यक्ति से किसी तुच्छकारणवश रुष्ट होकर अनाज के खलिहान में आग लगा या लगवा कर जला देना, (३) असहिष्णु बनकर किसी के पशुओं को अंगभंग करना या करा देना, (४) अतिरौद्र बनकर किसी की पशुशाला को झाड़ियों से ढक कर आग लगा या लगवा देना । (५) कुपित होकर किसी के कुण्डल, मणि आदि बहुमूल्य पदार्थों का हरण करना-कराना (६) अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध न होने से क्रुद्ध होकर श्रमणों या माहनों के उपकरण चुराना या चोरी करवाना (७) अकारण ही किसी गृहस्थ की फसल में आग लगा या लगवा देना, (८) अकारण ही किसी के पशुओं का अंगभंग करना या करा देना । (९) अकारण ही किसी व्यक्ति की पशुशाला में कटीली झाड़ियों से ढक कर आग लगा या लगवा देना, (१०) अकारण ही किसी गृहस्थ के बहुमूल्य आभूषण या रत्न आदि चुरा लेना या चोरी करवाना, (११) साधु-द्रोही दुष्टमनोवृत्ति-वश साधुओं का अपमान, तिरस्कार करना, दूसरों के समक्ष उन्हें नीचा दिखाना, बदनाम करना आदि नीच व्यवहार करना, इन सब पापकृत्यों का भयंकर दुष्परिणाम उन्हें भोगना पड़ता है ।

उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या—इसी सूत्र (७१०) में उन अधर्मपक्षीय लोगों के प्रातःकाल से लेकर रात्रि के शयनकाल तक की भोगी-विलासी जीवनचर्या का वर्णन भी किया गया है ।

उनके विषय में अनार्यों और आर्यों का अभिप्राय—अनार्य लोग उनकी भोगमग्न जिंदगी देख कर उन्हें देवतुल्य देव से भी श्रेष्ठ, आश्रितों का पालक आदि बताते हैं, आर्यलोग उनकी वर्तमान विषय सुखमग्नता के पीछे हिंसा आदि महान् पापों का परिणाम देखकर इन्हें क्रूरकर्मा, धूर्त, शरीर-पोषक, विषयों के कीड़े आदि बताते हैं ।

अधर्मपक्ष के अधिकारी—शास्त्रकार ने तीन कोटि के व्यक्ति बताए हैं—(१) प्रव्रजित होकर इस विषयसुखसाधनमय स्थान को पाने के लिए लालायित, (२) इस भोगग्रस्त अधर्म स्थान को पाने की लालसा करनेवाले गृहस्थ और (३) इस भोगविलासमय जीवन को पाने के लिए तरसने वाले तृष्णान्ध या विषयसुखभोगान्ध व्यक्ति ।

अधर्मपक्ष का स्वरूप—इस अधर्मपक्ष को एकान्त अनार्य, अकेवल, अपरिपूर्ण आदि तथा एकान्त मिथ्या और अहितकर बताया गया है ।[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का सारांश

२. वही, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का निष्कर्ष

धर्मपक्ष नामक द्वितीय स्थान के विकल्प—

७११—अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे ह्रस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, एसो आलावगो तहा णेतव्वो जहा पोंडरीए[1] जाव सव्वोवसंता सव्वताए परिनिव्वुड त्ति बेमि। एस ठाणे आरिए केवले जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७११—इसके पश्चात् द्वितीय स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जैसे कि—कई आर्य होते हैं, कई अनार्य अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय, कई विशालकाय (लम्बे कद के) होते हैं, कई ह्रस्वकाय (छोटे-नाटे कद के) कई अच्छे वर्ण के होते हैं, कई खराब वर्ण के अथवा कई सुरूप (अच्छे डीलडौल के) होते हैं, कई कुरूप (बेडौल या अंगविकल)। उन मनुष्यों के खेत और मकान परिग्रह होते हैं। यह सब वर्णन जैसे 'पौण्डरीक' के प्रकरण में किया गया है, वैसा ही यहाँ (इस आलापक में) समझ लेना चाहिए। यहाँ से लेकर—'जो पुरुष समस्त कषायों से उपशान्त हैं, समस्त इन्द्रिय भोगों से निवृत्त हैं, वे धर्मपक्षीय हैं, ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ'—यहाँ तक उसी (पौण्डरीक प्रकरणगत) आलापक के समान कहना चाहिए। यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण हैं, (यहाँ से लेकर) 'समस्त दुःखों का नाश करनेवाला मार्ग है' (यावत्—तक)। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है।

इस प्रकार धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के विकल्प—प्रस्तुत सूत्र में धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के स्वरूप की झांकी दी गई है। तीन विकल्पों द्वारा इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है—

धर्मपक्ष के अधिकारी—इस सूत्र में सर्वप्रथम धर्मपक्ष के अधिकारीगण के कतिपय नाम गिनाए हैं, इन सबका निष्कर्ष यह है कि सभी दिशाओं, देशों, आर्य-अनार्यवंशों, समस्त रंग-रूप, वर्ण एवं जाति में उत्पन्न जन धर्ममक्ष के अधिकारी हो सकते हैं, । इस पर किसी एक विशिष्ट वर्ण, जाति, वंश, देश आदि का अधिकार नहीं है। हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि अनार्यदेशोत्पन्न या अनार्यवंशज व्यक्तियों में जो दोष बताये गए हैं, उन दोषों से रहित उत्तम आचार में प्रवृत्त, धर्मिष्ठजन ही धर्मपक्ष के अधिकारी होंगे।[3]

धर्मपक्षीय व्यक्तियों की अर्हताएँ—पौण्डरीक अध्ययन में जो अर्हताएँ दुर्लभ पुण्डरीक को

---

१. यहाँ 'जहा पोंडरीए' से 'परिग्गहियाणि भवंति'—से आगे पुण्डरीक अध्ययन के सूत्र संख्या ६६७ के 'तंजहा—'अप्पयरा वा भुज्जयरा वा' से लेकर सूत्र संख्या ६९१ के 'ते एवं सव्वोवरता' तक का सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

२. यहाँ 'जाव' शब्द से पडिपुणे से लेकर 'सव्वदुक्खपहीणमग्गे' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२६ के आधार पर।

प्राप्त करनेवाले भिक्षु की प्रतिपादित की गई हैं, वे सब अर्हताएँ धर्मपक्षीय साधक में होनी आवश्यक है। यहाँ तक कि उसके समस्त कषाय उपशान्त होते हैं, तथा वह समस्त इन्द्रियविषयों की आसक्ति से निवृत्त होता है।

धर्मपक्ष-स्थान का स्वरूप—यह पक्ष पूर्वोक्त अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान से ठीक विपरीत है। अर्थात्—यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, शल्यकर्तन, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग, निर्याणमार्ग, सर्वदुःख-प्रहीणमार्ग है। एकान्त सम्यक् है, श्रेष्ठ है।[1]

तृतीयस्थान : मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप—

७१२—अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—जे इमे भवंति आरण्णिया गामणियंतिया कण्हुइराहस्सिता जाव[2] ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव[3] असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिते।

७१२—इसके पश्चात् तीसरे स्थान मिश्रपक्ष का विकल्प (विभंग) इस प्रकार कहा जाता है—(इसके अधिकारी वे हैं) जो ये आरण्यक (वन में रहने वाले तापस) हैं, यह जो ग्राम के निकट झौंपड़ी या कुटिया बना कर रहते हैं, अथवा किसी गुप्त (रहस्यमय) क्रिया का अनुष्ठान करते हैं, या एकान्त में रहते हैं, यावत् (वे पूर्वोक्त आचार-विहार वाले शब्दादि काम-भोगों में आसक्त होकर कुछ वर्षों तक उन विषयभोगों का उपभोग करके आसुरी किल्विषी योनि में उत्पन्न होते हैं) फिर वहाँ से देह छोड़कर इस लोक में बकरे की तरह मूक के रूप में या जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एवं से अज्ञानान्ध) के रूप में आते (जन्म लेते) हैं। (वे जिस मार्ग का आश्रय लेते हैं, उसे 'मिश्रस्थान' कहते हैं।) यह स्थान अनार्य (आर्यपुरुषों द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-प्राप्ति से रहित है, यहाँ तक कि (पूर्वोक्त पाठानुसार) यह समस्त दुःखों से मुक्त करानेवाला मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार यह तीसरे मिश्रस्थान का विचार (विभंग) कहा गया है।

विवेचन—तृतीय स्थानः मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में मिश्रित पक्ष के स्वरूप तथा उसके अधिकारी का निरूपण किया गया है।

मिश्रपक्ष—इस स्थान को मिश्रपक्ष इसलिए कहा गया है कि इसमें न्यूनाधिक रूप में पुण्य और पाप दोनों रहते हैं। इस पक्ष में पाप की अधिकता, और पुण्य की यत्किञ्चित् स्वल्प मात्रा रहती है। वृत्तिकार कहते हैं कि यद्यपि इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि होते हैं, और वे अपनी दृष्टि के अनुसार हिंसा आदि से निवृत्ति करते हैं, तथापि मिथ्यात्व युक्त होने—अशुद्ध होने से ऊषर भूमि पर वर्षा की तरह या नये-नये पित्तप्रकोप में शर्करा-मिश्रित दुग्धपान की तरह विवक्षित अर्थ (मोक्षार्थ)

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२६ का सारांश
२. यहाँ 'जाव' शब्द से '**णोबहुसंजया**' से '**उववत्तारो भवंति**' तक का सारा पाठ सूत्र ७०६ के अनुसार समझें।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से '**अकेवले**' से लेकर '**असव्वदुक्खपहीणमग्गे**' तक का पाठ सूत्र ७१० के अनुसार समझें।

को सिद्ध नहीं करते, अतः उनकी निवृत्ति निरर्थक है। मिथ्यात्व के तीव्र प्रभाव के कारण मिश्रपक्ष को अधर्म ही समझना चाहिए।

अधिकारी--इसके अधिकारी कन्दमूलफलभोजी तापस आदि हैं। ये किसी पापस्थान से किञ्चित् निवृत्त होते हुए भी इनकी बुद्धि प्रबलमिथ्यात्व से ग्रस्त रहती है। इनमें से कई उपवासादि तीव्र कायक्लेश के कारण देवगति में जाते हैं, परन्तु वहाँ अधम आसुरी योनि में उत्पन्न होते हैं।[1]

प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम—

७१३—अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति महिच्छा महारंभा[2] महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया[3] अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहितपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया उक्कंचण-वंचण-माया-णियडि-कूड-कवड-सातिसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वता दुप्पडियाणंदा असाधू सव्वातो पाणातिवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो कोहातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो अप्पडिविरया, सव्वातो ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकारातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियं-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहण-भोग-भोयणपवित्थरविहीतो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो कय-विक्कय-मास-ऽद्धमास-रूवगसंववहाराओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया, सव्वातो कूडतुल-कूडमाणाओ अप्पडिविरया, सव्वातो आरंभसमारंभातो अप्पडिविरया सव्वातो करण-कारावणातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो पयण-पयावणातो अप्पडिविरया, सव्वातो कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बंधपरिकिलेसातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति ततो वि अप्पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहाणामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-पलिमंथ-गमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते तित्तिर-वट्टग-लावग-कवोत-कविंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सिरीसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति।

जा वि य से बाहिरिया परिसा भवति, तंजहा—दासे ति वा पेसे ति वा भयए ति वा भाइल्ले ति वा कम्मकरए ति वा भोगपुरिसे ति वा तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुसगंसि अवराहंसि सयमेव

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२७
२. देखिये दशाश्रुतस्कन्ध में उल्लिखित अक्रियावादी के वर्णन से तुलना—"महिच्छे महारम्भे"......आगमेस्साणं दुल्लभवोधिते यावि भवति, से तं अकिरियावादी भवति। —दशाश्रुत. अ. ६ प्रथम उपासक प्रतिमावर्णन
३. तुलना—'अधम्मिया अधम्माणुया......अधम्मेणा चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।' —औपपातिक सूत्र सं ४१

गरुयं दंडं निव्वत्तेई, तंजहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडियं करेह, इमं हत्थच्छिण्णयं करेह, इमं पायच्छिण्णयं करेह, इमं कण्णच्छिण्णयं[1] करेह, सीस-मुहच्छिण्णयं करेह, इमं नक्क-उट्ठच्छिण्णयं करेह, वेगच्छच्छिण्णयं करेह, हिययुप्पाडियय करेह, इमं णयणुप्पाडिययं करेह, इमं दसणुप्पाडिययं करेह, इमं वसणुप्पाडिययं करेह, जिब्भुप्पाडिययं करेह, ओलंबितयं करेह, उल्लंबिययं करेह, घंसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइअयं करेह, सूलाभिण्णयं करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, दब्भवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसहपुच्छियगं कडग्गिदड्ढयं कागणिमंस-खावितयं भत्तपाणनिरुद्धयं करेह, इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अण्णतरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह।

जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवति, तंजहा-माता ती वा पिता ती वा भाया ती वा भगिणी ति वा भज्जा ति वा पुत्ता इ वा धूता इ वा सुण्हा ति वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहु-सगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं गंडं वत्तेति, सीओदगवियडंसि ओबोलेत्ता भवति जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिते परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिड्डंति परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट(ड्ड)ण-परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसातो अपडिविरया भवंति।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता वहूणि कूराणि कम्माइं उस्सण्णं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोले ति वा सेलगोले ति वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धुन्नबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सण्णं तसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे णरगतलपतिट्ठाणे भवति।

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिता णिच्चंधकारतमसा ववगयगह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोतिसपहा मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा, असुभा णरएसु वेदणाओ, नो चेव णं नरएसु नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सायं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंति, ते णं तत्थ उज्जलं विपुलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णिरयवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

से जहाणामते रुक्खे सिया पव्वतग्गे जाते मूले छिन्ने अग्गे गरुए जतो निन्नं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, माराओ मारं, णरगातो णरगं, दुक्खातो दुक्खं, दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवंति,

---

१. तुलना—कण्णछिण्णका णक्कछिण्णका''''''णयणुप्पाडियगा''''। —औपपातिक सूत्र सं. ३८

एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। पढमस्स ठाणस्स अधम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१३—इसके पश्चात् प्रथम, स्थान जो अधर्मपक्ष है, उसका विश्लेषणपूर्वक विचार इस प्रकार किया जाता है—इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो (कौटुम्बिक जीवन बितानेवाले) गृहस्थ होते हैं, जिनकी बड़ी-बड़ी इच्छाएं (महत्त्वाकांक्षाएं) होती हैं, जो महारम्भी एवं महापरिग्रही होते हैं। वे अधार्मिक (अधर्माचरण करने वाले), अधर्म का अनुसरण करने या अधर्म की अनुज्ञा देने वाले, अधर्मिष्ठ (क्रूरतायुक्त अधर्म प्रधान, अथवा जिन्हें अधर्म ही इष्ट है), अधर्म की ही चर्चा करनेवाले, अधर्मप्रायः जीवन जीनेवाले, अधर्म को ही देखनेवाले, अधर्म-कार्यों में ही अनुरक्त, अधर्ममय शील (स्वभाव) और आचार (आचरण) वाले एवं अधर्म (पाप) युक्त धंधों से अपनी जीविका (वृत्ति) उपार्जन करते हुए जीवन-यापन करते हैं। (उदाहरणार्थ-वे सदैव इस प्रकार की आज्ञा देते रहते हैं—) इन (प्राणियों) को (डंडे आदि से) मारो, इनके अंग काट डालो, इनके टुकड़े-टुकड़े कर दो (या इन्हें शूल आदि में बींध दो)। वे प्राणियों की चमड़ी उधेड़ देते हैं, प्राणियों के खून से उनके हाथ रंगे रहते हैं, वे अत्यन्त चण्ड (क्रोधी), रौद्र (भयंकर) और क्षुद्र (नीच) होते हैं, वे पाप कृत्य करने में अत्यन्त साहसी होते हैं, वे प्रायः प्राणियों को ऊपर उछाल कर शूल पर चढ़ाते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, माया (छल-कपट) करते हैं, बकवृत्ति से दूसरों को ठगते हैं, दम्भ करते हैं (कहते कुछ और तथा करते कुछ और हैं), वे तौल-नाप में कम देते हैं, वे धोखा देने के लिए देश, वेष और भाषा बदल लेते हैं। 'वे दुःशील (दुराचारी या दुष्टस्वभाववाले), दुष्ट-व्रती (मांसभक्षण, मदिरापान आदि बुरे नियम वाले) और कठिनता से प्रसन्न किये जा सकने वाले (अथवा दुराचरण या दुर्व्यवहार करने में आनन्द मानने वाले) एवं दुर्जन होते हैं। जो आजीवन सब प्रकार की हिंसाओं से विरत नहीं होते यहाँ तक कि समस्त असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से जीवनभर निवृत्त नहीं होते। जो क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक अठारह ही पाप स्थानों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते। वे आजीवन समस्त स्नान, तैल-मर्दन, सुगन्धित पदार्थों का लगाना (वर्णक), सुगन्धित चन्दनादि का चूर्ण लगाना, विलेपन करना, मनोहर कर्ण शब्द, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपभोग करना पुष्पमाला एवं अलंकार धारण करना, इत्यादि सब (उपभोग-परिभोगों) का त्याग नहीं करते, जो समस्त गाड़ी (शकट), रथ, यान (जलयान आकाशयान—विमान, घोड़ागाड़ी आदि स्थलयान) सवारी, डोली, आकाश की तरह अधर रखी जाने वाली सवारी (पालकी) आदि वाहनों तथा शय्या, आसन, वाहन, भोग और भोजन आदि (परिग्रह) को विस्तृत करने (बढ़ाते रहने) की विधि (प्रक्रिया) के जीवन भर नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के क्रय-विक्रय तथा माशा, आधा माशा, और तोला आदि व्यवहारों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सोना, चांदी, धन, धान्य, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) आदि सब प्रकार के (बहुमूल्य पदार्थों के) संग्रह से जीवन भर निवृत्त नहीं होते, जो सब प्रकार के खोटे तौल-नाप (कम तोलने-कम नापने, खोटे बाँट या गज मीटर आदि रखने) को आजीवन नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों का जीवनभर त्याग नहीं करते। वे सभी प्रकार के (सावद्य=पापयुक्त) दुष्कृत्यों को करने-कराने से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सभी प्रकार की पचन-पाचन (स्वयं अन्नादि पकाने तथा दूसरों से पकवाने) आदि (सावद्य) क्रियाओं से आजीवन निवृत्त नहीं होते, तथा जो जीवनभर प्राणियों को कूटने, पीटने, धमकाने, प्रहार करने, वध करने और बाँधने तथा उन्हें सब प्रकार से

क्लेश (पीड़ा) देने से निवृत्त नहीं होते, ये तथा अन्य प्रकार के (परपीड़ाकारी) सावद्य कर्म हैं, जो बोधिबीजनाशक हैं, तथा दूसरे प्राणियों को संताप देने वाले हैं, जिन्हें क्रूर कर्म करनेवाले अनार्य करते हैं, उन (दुष्कृत्यों) से जो जीवनभर निवृत्त नहीं होते, (इन सब पुरुषों को एकान्त अधर्मस्थान में स्थित जानना चाहिए।)

जैसे कि कई अत्यन्त क्रूर पुरुष चावल, (या कलाई, गवार), मसूर, तिल, मूंग, उड़द, निष्पाव (एक प्रकार का धान्य या वालोर) कुलत्थी, चंवला, परिमंथक (धान्यविशेष, काला चना) आदि (के हरे पौधों या फसल) को अपराध के बिना (अकारण) व्यर्थ (निष्प्रयोजन) ही दण्ड देते (हनन करते) हैं। इसी प्रकार तथाकथित अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतर, बटेर (या वत्तख), लावक, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसे, सूअर, ग्राह (घड़ियाल या मगरमच्छ), गोह, कछुआ, सरीसृप (जमीन पर सरक कर चलने वाले) आदि प्राणियों को अपराध के बिना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं।

उन (क्रूर पुरुषों) की जो बाह्य परिषद् होती है, जैसे दास, या संदेशवाहक (प्रेष्य) अथवा दूत, वेतन या दैनिक वेतन पर रखा गया नौकर, (उपज का छठाभाग लेकर) बटाई (भाग) पर काम करने वाला अन्य काम-काज करने वाला (कर्मकर) एवं भोग की सामग्री देने वाला, इत्यादि।

इन लोगों में से किसी का जरा-सा भी अपराध हो जाने पर ये (क्रूरपुरुष) स्वयं उसे भारी दण्ड देते हैं। जैसे कि—इस पुरुष को दण्ड दो या डंडे से पीटो, इसका सिर मूंड दो, इसे डांटो—फटकारो, इसे लाठी आदि से पीटो, इसकी बाँहें पीछे को बाँध दो, इसके हाथ-पैरों में हथकड़ी और बेड़ी डाल दो, उसे हाडीबन्धन में दे दो, इसे कारागार में बंद कर दो, इसे हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़ कर इसके अंगों को सिकोड़कर मरोड़ दो, इसके हाथ काट डालो, इसके पैर काट दो, इसके कान काट लो, इसका सिर और मुंह काट दो, इसके नाक-ओठ काट डालो, इसके कंधे पर मार कर आरे से चीर डालो, इसके कलेजे का मांस निकाल लो, इसकी आँखें निकाल लो, इसके दाँत उखाड़ दो, इसके अण्डकोश उखाड़ दो, इसकी जीभ खींच लो, इसे उलटा लटका दो, इसे ऊपर या कुंए में लटका दो, इसे जमीन पर घसीटो, इसे (पानी में) डुबो दो या घोल दो, इसे शूली में पिरो दो, इसके शूल चुभो दो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, इसके अंगों को घायल करके उस पर नमक छिड़क दो, इसे मृत्युदण्ड दे दो, (या चमड़ी उधेड़ कर उसे बंट कर रस्सा-सा बना दो), इसे सिंह की पूंछ में बाँध दो (या चमड़ी काट कर सिंह पुच्छ काट बना दो) या उसे बैल की पूंछ के साथ बांध दो, इसे दावाग्नि में झौंक कर जला दो, (अथवा इसके चटाई लपेट कर आग से जला दो), इसका माँस काट कर कौओं को खिला दो, इस को भोजन-पानी देना बंद कर दो, इसे मार-पीट कर जीवनभर कैद में रखो, इसे इनमें से किसी भी प्रकार से बुरी मौत मारो, (या इसे बुरी तरह से मार-मार कर जीवनरहित कर दो)।

इन क्रूर पुरुषों की जो आभ्यन्तर परिषद होती है, वह इस प्रकार है जैसे कि—माता, पिता भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, अथवा पुत्रवधू आदि। इनमें से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर वे क्रूरपुरुष उसे भारी दण्ड देते हैं। वे उसे शर्दी के दिनों में ठंडे पानी में डाल देते हैं। जो-जो दण्ड मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में कहे गए हैं, वे सभी दण्ड वे इन्हें देते हैं। वे ऐसा करके स्वयं अपने परलोक का अहित करते (शत्रु बन जाने) हैं। वे (क्रूरकर्मा पुरुष) अन्त में दुःख पाते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, (या विलाप करते हैं), पीड़ित होते हैं, संताप पाते हैं, वे दुःख, शोक, विलाप (या पश्चात्ताप) पीड़ा, संताप, एवं वध-बंध आदि क्लेशों से निवृत्त (मुक्त) नहीं हो पाते।

इसी प्रकार वे अधार्मिक पुरुष स्त्रीसम्बन्धी तथा अन्य विषयभोगों में मूर्च्छित, गृद्ध, अत्यन्त आसक्त (रचे-पचे, या ग्रस्त) तथा तल्लीन हो कर पूर्वोक्त प्रकार से चार, पाँच या छह या अधिक से अधिक दस वर्ष तक अथवा अल्प या अधिक समय तक शब्दादि विषयभोगों का उपभोग करके प्राणियों के साथ वैर का पुंज बांध करके, बहुत-से क्रूरकर्मों का संचय करके पापकर्म के भार से इस तरह दब जाते हैं, जैसे कोई लोहे का गोला या पत्थर का गोला पानी में डालने पर पानी के तल (सतह) का अतिक्रमण करके भार के कारण (नीचे) पृथ्वीतल पर बैठ जाता है, इसी प्रकार (पापकर्मों के भार से दबा हुआ) अतिक्रूर पुरुष अत्यधिक पाप से युक्त पूर्वकृत कर्मों से अत्यन्त भारी, कर्मपंक से अतिमलिन, अनेक प्राणियों के साथ बैर बाँधा हुआ, (या कुविचारों से परिपूर्ण), अत्यधिक अविश्वासयोग्य, दम्भ से पूर्ण, शठता या वंचना में पूर्ण, देश, वेष एवं भाषा को बदल कर धूर्तता करने में अतिनिपुण, जगत् में अपयश के काम करने वाला, तथा त्रसप्राणियों के घातक; भोगों के दलदल में फंसा हुआ वह पुरुष आयुष्यपूर्ण होते ही मरकर रत्नप्रभादि भूमियों को लाँघ कर नीचे के नरकतल में जाकर स्थित होता है।

वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोन (चतुष्कोण) होते हैं, तथा नीचे उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। उनमें सदा घोर अन्धकार रहता है। वे ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिष्कमण्डल की प्रभा (प्रकाश) से रहित हैं। उनका भूमितल मेद, चर्बी, माँस, रक्त, और मवाद की परतों से उत्पन्न कीचड़ से लिप्त है। वे नरक अपवित्र, सड़े हुए मांस से युक्त, अतिदुर्गन्ध पूर्ण और काले हैं। वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले, कठोर स्पर्श वाले और दुःसह्य हैं। इस प्रकार नरक बड़े अशुभ हैं और उनकी वेदनाएं भी बहुत अशुभ हैं। उन नरकों में रहने वाले नैरयिक न कभी निद्रासुख प्राप्त करते हैं, न उन्हें प्रचलानिद्रा आती है, और न उन्हें श्रुति (धर्मश्रवण), रति (किसी विषय में रुचि) धृति (धैर्य) एवं मति (सोचने विचारने की बुद्धि) प्राप्त होती है। वे नारकीय जीव वहाँ कठोर, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, प्रचण्ड (उग्र), दुर्गम्य, दुःखद, तीव्र, दुःसह वेदना भोगते हुए अपना समय (आयुष्य) व्यतीत करते हैं।

जैसे कोई वृक्ष पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न हो, उसकी जड़ काट दी गई हो, वह आगे से भारी हो, वह जिधर नीचा होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है, इसी प्रकार गुरुकर्मा पूर्वोक्त पापिष्ठ पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है।

वह दक्षिणगामी नैरयिक, कृष्णपाक्षिक तथा भविष्य में दुर्लभ-बोधि होता है।

अतः यह अधर्मपक्षीय प्रथम स्थान अनार्य है, केवलज्ञानरहित है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या एवं बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विचार किया गया है।

विवेचन—प्रथमस्थानः अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में अधर्मपक्षी के अधिकारी—गृहस्थ की मनोवृत्ति, उसकी प्रवृत्ति और उसके परिणाम पर विचार प्रस्तुत किया है।

वृत्ति-प्रवृत्ति—अधर्मपक्ष के अधिकारी विश्व में सर्वत्र हैं। वे बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ रखते हैं, महारम्भी, महापरिग्रही एवं अधर्मिष्ठ होते हैं। अठारह ही पापस्थानों में लिप्त रहते हैं। स्वभाव

से निर्दय, दम्भी, धोखेबाज, दुराचारी, छलकपट-निपुण. अतिक्रोधी, अतिमानी, अतिसाहसी एवं अतिरौद्र होते हैं। छोटी-छोटी बात पर क्रुद्ध होकर अपने स्वजनों एवं अनुचरों को भयंकर बड़ा से बड़ा दण्ड दे बैठते हैं। वे पंचेन्द्रिय विषयों में गाढ आसक्त एवं काम-भोगों में लुब्ध रहते हैं।

परिणाम—वे इहलोक में सदा दुःख, शोक, संताप, मानसिक क्लेश, पीड़ा, पश्चात्ताप आदि से घिरे रहते हैं, तथा यहाँ अनेक प्राणियों के साथ वैर बाँध कर, अधिकाधिक विषयभोगों का उपभोग करके कूटकर्म संचित करके परलोक में जाते हैं। वहाँ नीचे की नरक भूमि में उनका निवास होता है, जहाँ निद्रा, धृति, मति, रति, श्रुति, बोधि आदि सब लुप्त हो जाती हैं। असह्य वेदनाओं और यातनाओं में ही उसका सारा लम्बा जीवन व्यतीत होता है। उसके पश्चात् भी चिरकाल तक वह संसार में परिभ्रमण करता है।[1]

द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सुपरिणाम—

७१४—अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वता सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए जाव जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहानामए[2] अणगारा भगवंतो इरियासमिता भासासमिता एसणासमिता आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिता उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिता मणसमिता वइसमिता कायसमिता मणगुत्ता वइगुत्ता कायगुत्ता[3] गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभचारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अगंथा छिन्नसोता निरुवलेवा कंसपाई व मुक्कतोया, संखो इव णिरंगणा, जीवो इव अप्पडिहयगती, गगणतलं पि व निरालंबणा, वायुरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुतहुयासणो विव तेयसा जलंता।

णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवति, से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए ति वा पोयए इ वा उग्गहिए ति वा पग्गहिए ति वा, जण्णं जण्णं दिसं इच्छंति तण्णं तण्णं दिसं अप्पडिबद्धा सुइब्भूया लहुब्भूया अणुप्पग्गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२८ से ३३१ तक का निष्कर्ष

२. तुलना—औपपातिक सूत्र में यह पाठ प्रायः समान है।—औप सू. १७

३. पाठान्तर—गुत्तागुत्तेंदिया गुप्तानि शब्दादिषु रागादिनिरोधात्, अगुप्तानि च आगमश्रवणेर्यासमित्यादिषु अनिरोधादिन्द्रियाणि येषां ते।'' अर्थात्-रागादि का निरोध होने से शब्दादि में जिनकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं, तथा आगमश्रवण, ईर्यासमिति आदि में निरोध न होने से जिनकी इन्द्रियाँ अगुप्त हैं।
—औपपातिक सू० वृत्ति पृ० ३५

तेसि णं भगवंता णं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा—चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमें भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चोद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तेमासिए भत्ते, चउम्मासिए भत्ते, पंचमासिए भत्ते, छम्मासिए भत्ते, अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा णिक्खित्तचरगा उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया अण्णातचरगा अन्नगिलातचरगा ओवणिहिता संखादत्तिया परिमितपिंडवातिया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी पुरिमड्ढिया आयंबिलिया निव्विगतिया अमज्ज-मंसासिणो णो णियामरसभोई ठाणादीता पडिमट्ठादी णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाईणो आयावगा अवाउडा अकंडुया अणिट्ठुहा धुतकेस-मंसु-रोम-नहा सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति।

ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, [बहूइं भत्ताइं] पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूणि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणगे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्ध-माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहिया-सिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाण-दंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, एगच्चा पुण एगे गंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढीएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महब्बलेसु महाणुभावेसु महासोक्खेसु, ते णं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइतवच्छा कडगतुडितथंभितभुया सं(अं ?)गयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणग-पवरवत्थपरिहिता कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासरबोंदी पलंबवणमालाधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठितिकल्लाणा आगमेस्सभद्दया[1] वि भवंति, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साधू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१४—इसके पश्चात् दूसरे धर्मपक्ष का विवरण इस प्रकार है—

इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई पुरुष ऐसे होते हैं, जो अनारम्भ

१. आगमेसि भद्दे ति-'आगमेसभवग्गहणे सिज्झंति'—भविष्य में मनुष्यभव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं।

—सू० चू० (मू. पा. टि.) पृ० १८८

(आरम्भरहित), अपरिग्रह (परिग्रहविरत) होते हैं, जो धार्मिक होते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं या धर्म की अनुज्ञा देते हैं, धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, या धर्मप्रधान होते हैं, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्ममयजीवी, धर्म को ही देखने वाले, धर्म में अनुरक्त, धर्मशील तथा धर्माचारपरायण होते हैं, यहाँ तक कि वे धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवनयापन करते हैं, जो सुशील, सुव्रती, शीघ्रसुप्रसन्न होने वाले (सदानन्दी) और उत्तम सुपुरुष होते हैं। जो समस्त प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जीवनभर विरत रहते हैं। जो स्नानादि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, समस्त गाड़ी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों से आजीवन विरत रहते हैं, क्रय-विक्रय पचन, पाचन सावद्यकर्म करने-कराने, आरम्भ-समारम्भ आदि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, स्वर्ण-रजत धनधान्यादि सर्वपरिग्रह से आजीवन निवृत्त रहते हैं, यहाँ तक कि वे परपीड़ाकारी समस्त सावद्य अनार्य कर्मों से यावज्जीवन विरत रहते हैं।

वे धार्मिक पुरुष अनगार (गृहत्यागी) भाग्यवान् होते हैं। वे ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पाँच समितियों से युक्त होते हैं, तथा मनःसमिति, वचनसमिति, कायसमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से भी युक्त होते हैं। वे अपनी आत्मा को पापों से गुप्त (सुरक्षित) रखते हैं, अपनी इन्द्रियों को विषयभोगों से गुप्त (सुरक्षित) रखते हैं, और ब्रह्मचर्य का पालन नौ गुप्तियों सहित करते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित होते हैं। वे शान्ति तथा उत्कृष्ट (बाहर भीतर की) शान्ति से युक्त और उपशान्त होते हैं। वे समस्त संतापों से रहित, आश्रवों से रहित, बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से रहित होते हैं, इन महात्माओं ने संसार के स्रोत (प्रवाह) का छेदन कर दिया है, ये कर्ममल के लेप से रहित होते हैं। वे जल के लेप से रहित कांसे की पात्री (वर्तन) की तरह कर्मजल के लेप से रहित होते हैं। जैसे शंख कालिमा (अंजन) से रहित होता है, वैसे ही ये महात्मा रागादि के कालुष्य से रहित होते हैं। जैसे जीव की गति कहीं नहीं रुकती, वैसे ही उन महात्माओं की गति कहीं नहीं रुकती। जैसे गगनतल बिना अवलम्बन के ही रहता है, वैसे ही ये महात्मा निरवलम्बी (किसी व्यक्ति या धन्धे का अवलम्बन लिये बिना) रहते हैं। जैसे वायु को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही, ये महात्मा भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित (अप्रतिबद्ध) होते हैं। शरद्काल के स्वच्छ पानी की तरह उनका हृदय भी शुद्ध और स्वच्छ होता है। कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से रहित होता है, वैसे ही ये भी कर्म मल के लेप से दूर रहते हैं, वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त-सुरक्षित रखते हैं। जैसे आकाश में पक्षी स्वतन्त्र (मुक्त) विहारी होता है, वैसे ही वे महात्मा समस्त ममत्त्वबन्धनों से रहित होकर आध्यात्मिक आकाश में स्वतन्त्रविहारी होते हैं। जैसे गेंडे का एक ही सींग होता है, वैसे ही वे महात्मा भाव से राग-द्वेष रहित अकेले ही होते हैं। वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त (प्रमादरहित) होते हैं। जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि कषायों को निर्मूल करने में शूरवीर एवं दक्ष होते हैं। जैसे बैल भारवहन करने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि संयम भार को वहन करने में समर्थ होते हैं। जैसे सिंह दूसरे पशुओं से दबता एवं हारता नहीं, वैसे ही वे महामुनि परीषहों और उपसर्गों से दबते और हारते नहीं। जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नहीं होता वैसे ही वे महामुनि कष्टों, उपसर्गों और भयों से नहीं कांपते। वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं, (हर्षशोकादि से व्याकुल नहीं होते।) उनकी प्रकृति (या मनोवृत्ति) चन्द्रमा के समान सौम्य एवं शीतल होती है;

उत्तम जाति के सोने में जैसे मल (दाग) नहीं लगता, वैसे ही उन महात्माओं के कर्ममल नहीं लगता। वे पृथ्वी के समान सभी (परीषह, उपसर्ग आदि के) स्पर्श सहन करते हैं। अच्छी तरह होम (अथवा प्रज्वलित) की हुई अग्नि के समान वे अपने तेज से जाज्वल्यमान रहते हैं। उन अनगार भगवन्तों के लिए किसी भी जगह प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं होता। वह प्रतिबन्ध चार प्रकार से होता है, जैसे कि—अण्डे से उत्पन्न होने वाले हंस, मोर आदि पक्षियों से (अथवा अण्डज यानी पट्सूत्रज—रेशमी वस्त्र का), पोतज (हाथी आदि के बच्चों से अथवा बच्चों का अथवा पोतक=वस्त्र का) अवग्रहिक (वसति, पट्टा—चौकी आदि का) तथा औपग्रहिक (दण्ड, आदि उपकरणों का) होता है। (उन महामुनियों के विहार में ये चारों ही प्रतिबन्ध नहीं होते)। वे जिस-जिस दिशा में विचरण करना चाहते हैं, उस-उस दिशा में अप्रतिबद्ध (प्रतिबन्ध रहित), शुचिभूत (पवित्र-हृदय अथवा श्रुतिभूत-सिद्धान्त प्राप्त) लघुभूत (परिग्रहरहित होने से हलके) अपनी त्यागवृत्ति के अनुरूप (औचित्य के अनुसार किन्तु अपुण्यवश नहीं) अणु (सूक्ष्म) ग्रन्थ (परिग्रह) से भी दूर (अथवा अनल्प-ग्रन्थ यानी विपुल आगमज्ञान-आत्मज्ञानरूप भावधन से युक्त) होकर संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित (सुवासित) करते हुए विचरण करते हैं।

उन अनगार भगवन्तों की इस प्रकार की संयम यात्रा के निर्वाहार्थ यह वृत्ति (प्रवृत्ति) होती है, जैसे कि—वे चतुर्थभक्त (उपवास) करते हैं, षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला), दशमभक्त (चौला) द्वादशभक्त (पचौला), चतुर्दश भक्त (छह उपवास) अर्द्धमासिक भक्त (पन्द्रह दिन का उपवास) मासिक भक्त (मासक्षमण), द्विमासिक (दो महीने का) तप, त्रिमासिक (तीन महीने का) तप, चातुर्मासिक (चार महीने का) तप, पंचमासिक (पांच मास का) तप; एवं षाण्मासिक (छह महीने का) तप, इसके अतिरिक्त भी कोई कोई निम्नोक्त अभिग्रहों में (से किसी अभिग्रह के धारक भी होते हैं) जैसे कई हंडिया (बर्तन) में से (एक बार में) निकाला हुआ आहार लेने की चर्या (उत्क्षिप्तचरक) वाले होते हैं, कई हंडिया (बर्तन) में से निकालकर फिर हंडिया या थाली आदि में रक्खा हुआ आहार लेने की चर्या वाले (निक्षिप्तचरक),;होते हैं, कई उत्क्षिप्त और निक्षिप्त (पूर्वोक्त) दोनों प्रकार से आहार ग्रहण करने की चर्या वाले (उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक) होते हैं, कोई शेष बचा हुआ (अन्त) आहार लेने के अभिग्रह वाले, कोई फैंक देने लायक (प्रान्त) आहार लेने के अभिग्रह वाले, कई रूक्ष आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले, कोई सामुदानिक (छोटे-बड़े अनेक घरों से सामुदायिक भिक्षाचरी करते हैं, कई भरे हुए (संसृष्ट) हाथ से दिये हुए आहार को ग्रहण करते हैं. कई न भरे हुए (असंसृष्ट) हाथ से आहार लेते हैं, कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो, उसी हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई देखे हुए आहार को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई पूछ कर ही आहार लेते हैं, और कई पूछे बिना आहार ग्रहण करते हैं। कोई भिक्षा की तरह की तुच्छ या अविज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं, और कोई अतुच्छ या ज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं। कोई अज्ञात-अपरिचित घरों से आहार लेते हैं, कोई आहार के बिना ग्लान होने पर ही आहार ग्रहण करते हैं। कोई दाता के निकट रखा हुआ आहार ही ग्रहण करते हैं, कई दत्ति की संख्या (गिनती) करके आहार लेते हैं, कोई परिमित आहार ग्रहण करते हैं; कोई शुद्ध (भिक्षा-दोषों से सर्वथा रहित) आहार की गवेषणा करके आहार लेते हैं, वे अन्ताहारी, प्रान्ताहारी होते हैं, कई अरसाहारी एवं कई विरसाहारी (नीरस-स्वादरहित वस्तु का आहार करने वाले) होते हैं, कई रूखा-सूखा आहार करने वाले तथा कई तुच्छ आहार करने वाले होते हैं।

कोई अन्त या प्रान्त आहार से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कोई पुरिमड्ढ तप (अपराह्न काल में आहार सेवन) करते हैं, कोई आयम्बिल तप-श्चरण करते हैं, कोई निर्विगयी (जिस तप में घी, दूध, दही, तेल, मीठा, आदि विगइयों का सेवन न किया जाए) तप करते हैं, वे मद्य और मांस का सेवन कदापि नहीं करते, वे अधिक मात्रा में सरस आहार का सेवन नहीं करते, कई कायोत्सर्ग (स्थान) में स्थित रहते हैं, कई प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्गस्थ रहते हैं, कई उत्कट आसन से बैठते हैं, कई आसनयुक्त भूमि पर ही बैठते हैं, कई वीरासन लगा कर बैठते हैं, कई डंडे की तरह आयत—लम्बे हो कर लेटते हैं, कई लगंडशायी होते हैं (लक्कड़ की तरह टेढ़े हो कर) सोते हैं। कई बाह्य प्रावरण (वस्त्रादि के आवरण) से रहित हो कर रहते हैं, कई कायोत्सर्ग में एक जगह स्थित हो कर रहते हैं (अथवा शरीर की चिन्ता नहीं करते)। कई शरीर को नहीं खुजलाते, वे थूक को भी बाहर नहीं फेंकते। (इस प्रकार औपपातिक सूत्र में अनगार के जो गुण बताए हैं, उन सबको यहां समझ लेना चाहिए)। वे सिर के केश, मूंछ, दाढ़ी, रोम और नख की काँटछांट (साज सज्जा) नहीं करते, तथा अपने सारे शरीर का परिकर्म (धोना, नहाना, तेलादि लगाना, संवारना आदि) नहीं करते।

वे महात्मा इस प्रकार उग्रविहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय का पालन करते हैं। रोगादि अनेकानेक बाधाओं के उपस्थित होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग करते हैं। वे अनेक दिनों तक भक्त प्रत्याख्यान (संथारा) करके उसे पूर्ण करते हैं। अनशन (संथारे) को पूर्णतया सिद्ध करके जिस प्रयोजन से उन महात्माओं द्वारा नग्नभाव, मुण्डित भाव, अस्नान भाव, अदन्तधावन (दाँत साफ न करना), छाते और जूते का उपयोग न करना, भूमिशयन, काष्ठफलक-शयन, केशलुंचन, ब्रह्मचर्य-वास (या ब्रह्मचर्य=गुरुकुल में निवास), भिक्षार्थ परगृह-प्रवेश आदि कार्य किये जाते हैं, तथा जिसके लिए लाभ और अलाभ (भिक्षा में कभी आहार प्राप्त होना, कभी न होना) मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, तर्जना (झिड़कियाँ), मार-पीट, (ताड़ना), धमकियाँ तथा ऊँची-नीची बातें, एवं कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन आदि बावीस प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग समभाव से सहे जाते हैं, (तथा जिस उद्देश्य से वे महामुनि साधुधर्म में दीक्षित हुए थे) उस उद्देश्य (लक्ष्य) की आराधना कर लेते हैं। उस उद्देश्य की आराधना (सिद्धि) करके अन्तिम श्वासोच्छ्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, (निराबाध), निरावरण, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। केवलज्ञान-केवल दर्शन उपार्जित करने के पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं; परिनिर्वाण (अक्षय शान्ति) को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं।

कई महात्मा एक ही भव (जन्म) में संसार का अन्त (मोक्ष प्राप्त) कर लेते हैं। दूसरे कई महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने के कारण मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त महायशस्वी, महान् बलशाली महाप्रभावशाली और महासुखदायी जो देवलोक हैं, उनमें वे देवरूप में उत्पन्न होते हैं, वे देव महाऋद्धि सम्पन्न, महाद्युतिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न होते हैं। उनके वक्षःस्थल हारों से सुशोभित रहते हैं, उनकी भुजाओं में कड़े, बाजूबन्द आदि आभूषण पहने होते हैं, उनके कपोलों पर अंगद और कुण्डल लटकते रहते हैं। वे कानों में कर्णफूल धारण किये होते हैं। उनके हाथ विचित्र आभूषणों से युक्त रहते हैं। वे सिर पर विचित्र मालाओं से सुशोभित मुकुट धारण

करते हैं। वे कल्याणकारी तथा सुगन्धित उत्तम वस्त्र पहनते हैं, तथा कल्याणमयी श्रेष्ठ माला और अंगलेपन धारण करते हैं। उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है। वे लम्बी वनमालाओं को धारण करने वाले देव होते हैं। वे अपने दिव्य रूप, दिव्य वर्ण, दिव्यगन्ध, दिव्य स्पर्श, दिव्य संहनन, दिव्य संस्थान, तथा दिव्य ऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया (कान्ति), अर्चा (वृत्ति) तेज और लेश्या से दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए, चमकाते हुए कल्याणमयी गति और स्थिति वाले तथा भविष्य में भद्रक होने वाले देवता बनते हैं।

यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, यावत् यह समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मार्ग है। यह स्थान एकान्त (सर्वथा) सम्यक् और बहुत अच्छा (सुसाधु) है।

इस प्रकार दूसरे स्थान—धर्मपक्ष का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष का अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और सुपरिणाम—प्रस्तुत सूत्र (७१४) में उत्तमोत्तम आचार विचारनिष्ठ अनगार को धर्मपक्ष का अधिकारी बता कर उसकी वृत्ति, प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करते हुए, अन्त में उसकी सुन्दर फलश्रुति दी गई है।

विशिष्ट अनगार की वृत्ति को २१ पदार्थों से उपमित किया गया है। जैसे कि (१) कांस्यपात्र (२) शंख, (३) जीव, (४) गगनतल, (५) वायु, (६) शारदसलिल, (७) कमलपत्र, (८) कच्छप, (९) विहग, (१०) खड्गी (गेंडे) का सींग, (११) भारण्डपक्षी, (१२) हाथी, (१३) वृषभ, (१४) सिंह, (१५) मन्दराचल, (१६) सागर, (१७) चन्द्रमा, (१८) सूर्य, (१९) स्वर्ण, (२०) पृथ्वी और (२१) प्रज्वलित अग्नि।

प्रवृत्ति—अनगारों की प्रवृत्ति के रूप में प्रारम्भिक साधना से लेकर अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक की तप, त्याग एवं संयम की साधना का विश्लेषण किया गया है। अप्रतिबद्धता, विविध तपश्चर्या; विविध अभिग्रहयुक्त भिक्षाचरी, आहार-विहार की उत्तमचर्या, शरीरप्रतिकर्म-विरक्ति और परीषहोपसर्गसहन, तथा अन्तिम समय में संल्लेखना-संथारा-पूर्वक आमरण अनशन; ये अनगार की प्रवृत्ति के मुख्य अंग हैं।

सुपरिणाम—धर्मपक्षीय अधिकारी की वृत्ति-प्रवृत्ति के दो सुपरिणाम शास्त्रकार ने अंकित किये हैं—(१) या तो वह केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं परिनिर्वृत्त होता है, (२) या फिर महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होता है।

तृतीय स्थान—मिश्रपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम—

७१५—अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू, एगच्चातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए एगच्चातो अप्पडिविरता, जाव जे यावऽण्णे तहप्पकारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि एगच्चातो पडिविरता एगच्चातो अप्पडिविरता।

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवा-ऽजीवा[1] उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिया-ऽहिकरण-बंध-मोक्खकुसला असहिज्जदेवा-[2]ऽसुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा[3] इणमो निग्गंथे पावयणे निस्संकिता निक्कंखिता निव्वितिगिंछा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छिट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगतट्ठा अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता 'अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' ऊसितफलिहा अवंगुतदुवारा अचियत्तंतेउरघरपवेसा[4] चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढ-फलग-सेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहितेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाधंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु महज्जुतिएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए ।

इसके पश्चात् तृतीय स्थान, जो मिश्रपक्ष है, उसका विभंग (विकल्प) इस प्रकार प्रतिपादित किया है—इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जैसे कि—वे अल्प इच्छा वाले, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते हैं । वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं (अथवा धर्म की अनुज्ञा देते हैं), यहाँ तक कि (यावत्) धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हुए जीवन-यापन करते हैं । वे सुशील, सुव्रती सुगमता से प्रसन्न हो जाने वाले और साधु (साधनाशील सज्जन) होते हैं । एक ओर वे किसी (स्थूल एवं संकल्पी) प्राणातिपात से जीवनभर विरत होते हैं तथा दूसरी

---

१. तुलना— अभिगमजीवाऽजीवा·······भावेमाणा विहरंति ।"
—भगवतीसूत्र श—२, उ.५, औपपातिक. सू. ४१

२. पाठान्तर—असंहज्जदेवा.····असंहरणिज्जा जधा वातेहिं मेरु न तु तधा वातपडागाणि सक्कंति विप्परिणावेतुं देवेहिं वि, किंपुण माणुसेहिं ? अर्थात्—जैसे प्रचण्ड वायु के द्वारा मेरु चलित नहीं किया जा सकता, वैसे ही वे (श्रमणोपासक) देवों के द्वारा भी विचलित नहीं किये जा सकते, मनुष्यों की तो बात ही क्या ? देखें भगवती ५।२ वृत्ति में—आपत्ति आदि में भी देव सहाय की अपेक्षा नहीं करने वाले ।

३. अणतिक्कमणिज्ज—जधा कस्सइ सुसीलस्स गुरु अणतिकमणिज्जे, एवं तेसिं अरहंता साधुणो सीलाई वा अणतिकमणिज्जाइं णिस्संकिताइं । जैसे किसी सुशील व्यक्ति का गुरु अपने सिद्धान्त का अतिक्रमण नहीं करता, वैसे ही उनके आर्हतोपासक श्रावक शील सिद्धान्त या निर्ग्रन्थ प्रवचन का अतिक्रमण नहीं करते ।
—सूत्र चू. (मू. पा. टि.) पृ. १८७, १८८

४. चियत्तंतेउरघरदारप्पवेसी—चियत्तोत्ति लोकानां प्रीतिकर एव अन्तः वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा,····अति धार्मिकतया सर्वत्राऽनाशंकनीयोऽसाविति भावः । अर्थात्—जिसका प्रवेश अन्तःपुर में, हर घर में, द्वार में लोगों को प्रीतिकर था । अर्थात्—वह सर्वत्र निःशंक प्रवेश कर सकता था । —औपपातिक वृत्ति ४०/१००

ओर किसी (सूक्ष्म एवं आरम्भी) प्राणातिपात से निवृत्त नहीं होते, (इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान मैथुन और परिग्रह से कथंचित् स्थूलरूप से) निवृत्त और कथंचित् (सूक्ष्म रूप से) अनिवृत्त होते हैं। ये और इसी प्रकार के अन्य बोधिनाशक एवं अन्य प्राणियों को परिताप देने वाले जो सावद्यकर्म (नरकादिगमन के कारणभूत यंत्रपीड़नादि कर्मादानरूप पापव्यवसाय) हैं उनसे निवृत्त होते हैं, दूसरी ओर कतिपय (अल्पसावद्य) कर्मों—व्यवसायों से वे निवृत्त नहीं होते।

जैसा कि उनके नाम से विदित हैं, (इस मिश्रस्थान के अधिकारी) श्रमणोपासक (श्रमणों के उपासक-श्रावक) होते हैं, जो जीव और अजीव के स्वरूप के ज्ञाता पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध किये हुए, तथा आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एवं मोक्ष के ज्ञान में कुशल होते हैं। वे श्रावक असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देव गणों (से सहायता की अपेक्षा नहीं रखते) और इन के द्वारा दबाव डाले जाने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लंघन नहीं करते। वे श्रावक इस निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशंकित, निष्कांक्षित, एवं निर्विचिकित्स (फलाशंका से रहित) होते हैं। वे सूत्रार्थ के ज्ञाता, उसे समझे हुए, और गुरु से पूछे हुए होते हैं, (अतएव) सूत्रार्थ का निश्चय किये हुए तथा भली भांति अधिगत किए होते हैं। उनकी हड्डियाँ और रगें (मज्जाएँ) उसके प्रति अनुराग से रंजित होती हैं। (किसी के पूछने पर वे श्रावक कहते हैं—'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार्थक (सत्य) है, परमार्थ है, शेष सब अनर्थक हैं।' वे स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हृदय वाले होते हैं (अथवा वे अपने घर में प्रवेश करने की टाटी (फलिया) खुली रखते हैं), उनके घर के द्वार भी खुले रहते हैं; उन्हें राजा के अन्तःपुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश अप्रीतिकर-अरुचिकर लगता है, वे श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा आदि पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए तथा श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, औषध, भैषज्य, पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक, तृण (घास) आदि भिक्षारूप में देकर वहुत लाभ लेते हुए, एवं यथाशक्ति यथारुचि स्वीकृत किये हुए बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, अणुव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास आदि तपःकर्मों द्वारा (बहुत वर्षों तक) अपनी आत्मा को भावित (वासित) करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

वे इस प्रकार के आचरणपूर्वक जीवनयापन (विचरण) करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय (श्रावकव्रतों का) पालन करते हैं। यों श्रावकव्रतों की आराधना करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर भी वहुत लम्बे दिनों तक का भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करते हैं। वे चिरकाल तक का भक्त प्रत्याख्यान (अनशन) करके उस अनशन-संथारे को पूर्ण (सिद्ध) करके करते हैं। उस अवमरण अनशन (संथारे) को सिद्ध करके अपने भूतकालीन पापों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधिप्राप्त होकर मृत्यु (काल) का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किन्हीं (विशिष्ट) देवलोकों में से किसी एक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। तदनुसार वे महाऋद्धि, महाद्युति, महावल, महायश यावत् महासुख वाले देवलोकों में महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होते हैं। शेष वातें पूर्वपाठानुसार जान लेनी चाहिए। यह (तृतीय मिश्रपक्षीय) स्थान आर्य (आर्यों द्वारा सेवित), एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

तीसरा जो मिश्रस्थान है, उसका विचार इस प्रकार निरूपित किया गया है।

७१६—अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जति, विरतिं पडुच्च पंडिते आहिज्जति, विरताविरतिं पडुच्च बालपंडिते आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरती एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, तत्थ तत्थ णं जा सा सव्वतो विरती एस ठाणे अणारंभ-ट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरता-विरती एस ठाणे आरंभाणारंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।

इस तृतीय स्थान का स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, विरति की अपेक्षा से पण्डित और विरता-विरति की अपेक्षा से बालपण्डित कहलाता है।

इन तीनों स्थानों में से समस्त पापों से अविरत होने का जो स्थान है, वह आरम्भस्थान है, अनार्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाश न करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है। इनमें से जो दूसरा स्थान है, जिसमें व्यक्ति सब पापों से विरत होता है, वह अनारम्भ स्थान एवं आर्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक है, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम है। तथा इनमें से जो तीसरा (मिश्र) स्थान है, जिसमें सब पापों से कुछ अंश में विरति और कुछ अंश में अविरति होती है, वह आरम्भ-नो आरम्भ स्थान है। यह स्थान भी आर्य है, यहाँ तक कि सर्वदुःखों का नाश करने वाला, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम (स्थान) है।

विवेचन—तृतीय स्थान—मिश्रपक्षः अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम—प्रस्तुत दो सूत्रों में तृतीय स्थान के अधिकारी के स्वरूप, एवं उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए अन्त में इसका परिणाम बताकर तीनों स्थानों की पारस्परिक उत्कृष्टता-निकृष्टता भी सूचित कर दी है।

अधिकारी—मिश्र स्थान का अधिकारी श्रमणोपासक होता है, जो सामान्यतया धार्मिक एवं धर्मनिष्ठ होने के साथ-साथ अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, अल्प इच्छा वाला, प्राणातिपात आदि पांचों पापों से देशतः विरत होता है।

वृत्ति—जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, मार्गानुसारी के गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति दृढ़ श्रद्धालु एवं धर्म सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञाता होता है। वह सरल स्वच्छ हृदय एवं उदार होता है।

प्रवृत्ति—पर्वतिथियों में परिपूर्ण पोषधोपवास करता है, यथाशक्ति व्रत, नियम, त्याग, तप प्रत्याख्यानादि अंगीकार करता है, श्रमणों को ग्राह्य एषणीय पदार्थों का दान देता है। चिरकाल तक श्रावकवृत्ति में जीवनयापन करके अन्तिम समय में संल्लेखना-संथारापूर्वक अनशन करता है, आलोचना, प्रतिक्रमण करके समाधिपूर्वक मृत्यु का अवसर आने पर शरीर का व्युत्सर्ग कर देता है।

परिणाम—वह विशिष्ट ऋद्धि, द्युति आदि से सम्पन्न देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होता है।

शास्त्रकार ने इसे भी द्वितीय स्थान की तरह आर्य एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान बताया है।[1]

दो स्थानों में सबका समावेश : क्यों, कैसे और दोनों की पहचान क्या ?

७१७—एवामेव समणुगम्ममाणा समणुगाहिज्जमाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोयरंति,

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३३५-३३६ का निष्कर्ष

तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते, तस्स णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावाउयसताइं भवंतीति अक्खाताइं, तं जहा—किरियावादीणं अकिरियावादीणं अण्णाणियवादीणं वेणइयवादीणं, ते वि निव्वाणमाहंसु, ते वि पलिमोक्खमाहंसु, ते वि लवंति सावगा,[1] ते वि लवंति सावइत्तारो।

७१७. (संक्षेप में) सम्यक् विचार करने पर ये तीनों पक्ष दो ही स्थानों में समाविष्ट हो जाते हैं—जैसे कि धर्म में और अधर्म में, उपशान्त और अनुपशान्त में। पहले जो अधर्मस्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमें इन ३६३ प्रावादुकों (मतवादियों) का समावेश हो जाता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है। वे (चार कोटि के प्रावादुक) इस प्रकार हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। वे भी 'परिनिर्वाण' का प्रतिपादन करते हैं; वे भी मोक्ष का निरूपण करते हैं; वे भी अपने श्रावकों को धर्मोपदेश करते हैं (उनसे आलाप करते हैं) वे भी अपने धर्म को सुनाते हैं।

७१८—ते सव्वे पावाउया[2] आदिकरा धम्माणं नाणापण्णा नाणाछंदा नाणासीला नाणादिट्ठी नाणारुई नाणारंभा नाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति, पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अयोमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं नाणापण्णे जाव नाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं णाणापण्णा जावऽज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ता तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तगं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो य हु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो य हु अग्गिथंभणियं कुज्जा[3], णो य हु साहम्मियवेयावडियं[4] कुज्जा, णो य हु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवन्ना[5] अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अओमएणं संडासतेणं गहाय पाणिसु णिसिरति, तते णं ते पावाउया आदिगरा धम्माणं नाणापन्ना जाव नाणा-

---

१. ते वि लवंति सावगा—चूर्णिकार प्रश्न उठाते हैं, लोग उनके पास क्यों सुनने व शरण लेने जाते हैं? इसका उत्तर है—मिथ्यापद के प्रभाव से। आदि तीर्थंकर (अपने मत प्रवर्तकत्व की दृष्टि से) कपिलादि श्रावकों को धर्मोपदेश देते हैं, उनके शिष्य भी परम्परा से धर्मश्रवण कराते हैं। धर्म श्रवण करने वाले 'श्रावक' या 'श्राव इतर' कहलाते हैं।

२. पावातिया-'शास्तार इत्यर्थः, तद्धि शास्तुं भृशं वदन्तीति प्रावादुकाः' प्रवदनशीला—सूत्र कृ. चूर्णि (सू.पा.टि.) पृ. १९०। अर्थात्—प्रावादिक का अर्थ है—शास्ता, वे अपने अनुयायियों पर शासन-अनुशासन करने के लिए बहुत बोलते हैं, इसलिए वे प्रावादुक हैं। अथवा प्रवदनशील होने से प्रावादिक हैं।

३. 'णो य अग्गिथंभणियं कुज्जा'—णो अग्गिथंभणविज्जाए आदिच्चमंतेहिं अग्गी थंभिज्जइ—अर्थात्—अग्निस्तम्भन विद्या से या आदित्यमंत्रों से अग्निस्तम्भन न करें।

४. 'णो····साधम्मियवेयावडियं'—'पासंडियस्स थंभेति, परपासंडितस्स वि परिचएण थंभेइ'—अर्थात्—'साधर्मिक स्वतीर्थिक व्रतधारी इस आग को न रोके, न ही परपाषण्डी (अन्यतीर्थिक व्रतधारी) परिचयवश उस अग्नि को रोके।

५. णिकायपडिवण्णा (पाठान्तर)—सवहसाविता इत्यर्थः। अर्थात्—शपथ लेकर प्रतिज्ञाबद्ध हुए।

—सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. १९१

ज्झवसाणसंजुत्ता पाणि पडिसाहरेंति, तते णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव णाणा-ज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणि पडिसाहरह ?, पाणी नो डज्झेज्जा दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं दुक्खं ति मण्णमाणा पडिसाहरह, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे।

७१८. वे (पूर्वोक्त ३६३) प्रावादुक अपने-अपने धर्म के आदि-प्रवर्त्तक हैं। नाना प्रकार की बुद्धि (प्रज्ञा), नाना अभिप्राय, विभिन्न शील (स्वभाव), विविध दृष्टि, नानारुचि, विविध आरम्भ, और विभिन्न निश्चय रखने वाले वे सभी प्रावादुक (स्वधर्मशास्ता) (किसी समय) एक स्थान में मंडलीबद्ध होकर बैठे हों, वहाँ कोई पुरुष आग के अंगारों से भरी हुई किसी पात्री (वर्तन) को लोहे की संडासी से पकड़ कर लाए, और नाना प्रकार की प्रज्ञा, अभिप्राय, शील, दृष्टि, रुचि, आरम्भ, और निश्चय वाले, धर्मों के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से कहे—"अजी ! नाना प्रकार की बुद्धि आदि तथा विभिन्न निश्चय वाले धर्मों के आदिप्रवर्तक प्रावादुको ! आप लोग आग के अंगारों से भरी हुई (इस) पात्री को लेकर थोड़ी-थोड़ी देर (मुहूर्त्त-मुहूर्त्त भर) तक हाथ में पकड़े रखें, (इस दौरान) संडासी की (बहुत) सहायता न लें, और न ही आग को बुझाएँ या कम करें, (इस आग से) अपने साधर्मिकों की (अग्निदाह को उपशान्त करने के रूप में) वैयावृत्य (सेवा या उपकार) भी न कीजिए, न ही अन्य धर्म वालों की वैयावृत्य कीजिए, किन्तु सरल और मोक्षाराधक (नियागप्रतिपन्न) बनकर कपट न करते हुए अपने हाथ पसारिए।' यों कह कर वह पुरुष आग के अंगारों से पूरी भरी हुई उस पात्री को लोहे की संडासी से पकड़कर उन प्रावादुकों के हाथ पर रखे। उस समय धर्म के आदि प्रवर्तक तथा नाना प्रज्ञा, शील अध्यवसाय आदि से सम्पन्न वे सब प्रावादुक अपने हाथ अवश्य ही हटा लेंगे।" यह देख कर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा, अध्यवसाय आदि से सम्पन्न, धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे—'अजी ! नाना प्रज्ञा और निश्चय आदि वाले, धर्म के आदिकर प्रावादुको ! आप अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं ?' "इसीलिए कि हाथ न जले !" (हम पूछते हैं—) हाथ जल जाने से क्या होगा ? यही कि दुःख होगा। यदि दुःख के भय से आप हाथ हटा लेते हैं तो यही बात आप सबके लिए अपने समान मानिए, यही (युक्ति) सबके लिए प्रमाण मानिए यही धर्म का सार-सर्वस्व समझिए। यही बात प्रत्येक के लिए तुल्य (समान) समझिए, यही युक्ति प्रत्येक के लिए प्रमाण मानिए, और इसी (आत्मौपम्य सिद्धान्त) को प्रत्येक के लिए धर्म का सार-सर्वस्व (समवसरण) समझिए।

७१९—तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जावेवं परूवेंति—'सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेतव्वा परिघेत्तव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा,' ते आगंतुं छेयाए, ते आगंतुं भेयाए, ते आगंतुं जाति-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइ-मरणाणं पितिमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जामरणाणं पुत्तमरणाणं धूयमरणाणं सुण्हा-मरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणस्साणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते नो सिज्झिस्संति नो बुज्झिस्संति जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे।

७१९. (परमार्थतः आत्मौपम्यमयी अहिंसा ही धर्म सिद्ध होने पर भी) धर्म के प्रसंग में जो श्रमण और माहन ऐसा कहते हैं, यावत ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करना चाहिए उन पर आज्ञा चलाना चाहिए, उन्हें दास-दासी आदि के रूप में रखना चाहिए, उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, उन्हें क्लेश देना चाहिए, उन्हें उपद्रवित (भयभीत) करना चाहिए। ऐसा करने वाले वे भविष्य में 'अपने शरीर को छेदन-भेदन आदि पीड़ाओं का भागी बनाते हैं। वे भविष्य में जन्म, जरा, मरण, विविध योनियों में उत्पत्ति फिर संसार में पुनः जन्म गर्भवास, और सांसारिक प्रपंच (अरहट्टघटिका न्यायेन संसारचक्र) में पड़कर महाकष्ट के भागी होंगे। वे घोर दण्ड के भागी होंगे। वे बहुत ही मुण्डन, तर्जन, ताड़न, खोड़ी बन्धन के यहाँ तक कि घोले (पानी में डुबोए) जाने के भागी होंगे। तथा माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि मरण दुःख के भागी होंगे। (इसी प्रकार) वे दरिद्रता, दुर्भाग्य, अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रियवियोग, तथा बहुत-से दुःखों और वैमनस्यों के भागी होंगे। वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घकालिक (या दीर्घमध्य वाले) चतुर्गतिक संसार रूप घोर जंगल में बार-बार परिभ्रमण करते रहेंगे। वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त नहीं होंगे, न ही बोध को प्राप्त होंगे, यावत् सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे। (जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही सावद्यानुष्ठानकर्ता स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, वे भी पूर्वोक्त अनेक दुःखों के भागी होते हैं। यह कथन सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है (कि दूसरों को पीड़ा देने वाले चोर, जार आदि प्रत्यक्ष ही दण्ड भोगते नजर आते हैं), (समस्त आगमों का) यही सारभूत विचार है। यह (सिद्धान्त) प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाण सिद्ध है, तथा प्रत्येक के लिए (आगमों का) यही सार-भूत विचार है।

७२०—तत्थ णं जे ते समण-माहणा एवं आइक्खंति जाव परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण उद्दवेयव्वा, ते णो आगंतुं छेयाए, ते णो आगंतुं भेयाए, ते णो आगंतुं जाइ-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणातियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति,[२] ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

७२०—परन्तु धर्म-विचार के प्रसंग में जो सुविहित श्रमण एवं माहन यह कहते हैं कि समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, उन्हें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना एवं उन्हें बलात् दास-दासी के रूप में पकड़ कर गुलाम नहीं बनाना चाहिए, उन्हें डराना-धमकाना या पीड़ित नहीं करना चाहिए, वे महात्मा भविष्य में छेदन-भेदन आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियों में जन्म-धारण, संसार में पुनः पुनः जन्म, गर्भवास तथा संसार के अनेकविध प्रपंच के कारण नाना दुःखों के भाजन नहीं होंगे। तथा वे आदि-अन्तरहित, दीर्घ कालिक मध्यरूप चतुर्गतिक संसाररूपी घोर वन में बारबार भ्रमण नहीं करेंगे। (अन्त में) वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर बुद्ध और मुक्त होंगे, तथा समस्त दुःखों का सदा के लिए अन्त करेंगे।

विवेचन—दो स्थानों में सबका समावेश : क्यों कैसे और दोनों की पहचान क्या ?—प्रस्तुत चार सूत्रों में धर्म और अधर्म दो स्थानों में पूर्वोक्त तीनों स्थानों का विशेषत: ३६३ प्रावादुकों का अधर्मपक्ष में युक्तिपूर्वक समावेश किया गया है, साथ ही अन्त में धर्म-स्थान और अधर्मस्थान दोनों की मुख्य पहचान बताई गई है।

धर्म और अधर्म दो ही पक्षों में सबका समावेश कैसे ?—पूर्वसूत्रों में उक्त तीन पक्षों का धर्म और अधर्म, इन दो पक्षों में ही समावेश हो जाता है, जो मिश्रपक्ष है, वह धर्म और अधर्म, इन दोनों से मिश्रित होने के कारण इन्ही दो के अन्तर्गत है। इसी शास्त्र में जिन ३६३ प्रावादुकों का उल्लेख किया गया था, उनका समावेश भी अधर्मपक्ष में हो जाता है, क्योंकि ये प्रावादुक धर्मपक्ष से रहित और मिथ्या हैं।

मिथ्या कैसे ? धर्मपक्ष से रहित कैसे ?—यद्यपि बौद्ध, सांख्य नैयायिक और वैशेषिक ये चारों मोक्ष या निर्वाण को एक या दूसरी तरह से मानते हैं, अपने भक्तों को धर्म की व्याख्या करके समझाते हैं, किन्तु वे सब बातें मिथ्या, थोथी एवं युक्तिरहित हैं। जैसे कि बौद्ध दर्शन की मान्यता है—ज्ञानसन्तति के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञानसन्तति का अस्तित्व कर्मसन्तति के प्रभाव से है, जो संसार कहलाता है। कर्मसन्तति के नाश के साथ ही ज्ञानसंतति का नाश हो जाता है। अत: मोक्षावस्था में आत्मा का कोई अस्तित्व न होने से ऐसे नि:सार मोक्ष या निर्वाण के लिए प्रयत्न भी वृथा है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, ऐसी स्थिति, में जीव के संसार और मोक्ष दोनों ही संगत नहीं होते, कूटस्थ आत्मा चातुर्गतिक संसार में परिणमन गमन (संसरण) कर नहीं सकती, न ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों (स्वभाव) में सदैव परिणमन रूप मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक की मोक्ष और आत्मा की मान्यता युक्तिहीन एवं एकान्ताग्रह युक्त होने से दोनों ही मिथ्या हैं।

इन प्रावादुकों को अधर्मस्थान में इसलिए भी समाविष्ट किया गया है कि इनका मत परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि वे सब प्रावादुक अपने-अपने मत के प्रति अत्याग्रही, एकान्तवादी होते हैं, इस कारण सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि मतवादियों का मत युक्तिविरुद्ध व मिथ्या है। आगे शास्त्रकार इन ३६३ मतवादियों के अधर्मपक्षीय सिद्ध हेतु शास्त्रकार धधकते अंगारों से भरा बर्तन हाथ में कुछ समय तक लेने का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे विभिन्न दृष्टि वाले प्रावादुक अंगारों से भरे बर्तन को हाथ में लेने से इसलिए हिचकिचाते हैं कि उससे उन्हें दु:ख होता है और दु:ख उन्हें प्रिय नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय एवं सुख प्रिय लगता है। ऐसी आत्मौपम्य रूप अहिंसा जिसमें हो, वही धर्म है। इस बात को सत्य समझते हुए भी देवपूजा, यज्ञयाग आदि कार्यों में तथा धर्म के निमित्त प्राणियों का वध करना (हिंसा करना) पाप न मान कर धर्म मानते हैं। इसी तरह श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का वध तथा देवयज्ञ में पशुवध करना धर्म का अंग मानते हैं। इस प्रकार हिंसा धर्म का समर्थन और उपदेश करने वाले प्रावादुक अधर्मपक्ष की ही कोटि में आते हैं। इन मुख्य कारणों से ये प्रावादुक तथाकथित श्रमण-ब्राह्मण धर्मपक्ष से रहित हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण-ब्राह्मण एकान्त धर्मपक्ष से युक्त हैं। क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मुख्य अंग है, जिसका वे सर्वथा सार्वत्रिक रूप से स्वयं पालन करते-कराते हैं दूसरों को उपदेश भी उसी का देते हैं। वे सब प्रकार की हिंसा का सर्वथा निषेध करते हैं। वे किसी के साथ भी वैरविरोध, घृणा, द्वेष, मोह या कलह नहीं रखते।

निष्कर्ष—जिस मत या मतानुयायी में अहिंसा धर्म नहीं है, हिंसा का प्रतिपादन धर्म आदि के नाम से है, वह अधर्म स्थान की कोटि में आता है, जब कि जिस मत या मतानुयायी में अहिंसा धर्म सर्वांग-रूप में व्याप्त है, हिंसा का सर्वथा निषेध है, वह धर्मस्थान की कोटि में आता है। यही धर्मस्थान और अधर्मस्थान की मुख्य पहचान है।

परिणाम—शास्त्रकार ने अधर्मस्थान और धर्मस्थान दोनों के अधिकारी व्यक्तियों को अपने-अपने शुभाशुभ विचार-अविचार से सदाचार-कदाचार सद्व्यवहार-दुर्व्यवहार आदि के इहलौकिक-पारलौकिक फल भी बताए हैं, एक अन्तिम लक्ष्य (सिद्धि, बोधि, मुक्ति, परिनिर्वाण सर्वदुःखनिवृत्ति) प्राप्त कर लेता है, जबकि दूसरा नहीं।

तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल—

७२१—इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिज्झिसु [नो] बुज्झिसु जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा। एतम्मि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइंसु सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा करेंति वा करिस्संति वा। एवं से भिक्खू आतट्ठी आतहिते आतगुत्ते[1] आयजोगी आतपरक्कमे आयरक्खिते आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्ति बेमि।

।। किरियाठाणः बितियं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

७२१—इन (पूर्वोक्त) बारह क्रियास्थानों में वर्तमान जीव अतीत में सिद्ध नहीं हुए, बुद्ध नहीं हुए, मुक्त नहीं हुए यावत् सर्व-दुःखों का अन्त न कर सके, वर्तमान में भी वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, यावत् सर्वदुःखान्तकारी नहीं होते और न भविष्य में सिद्ध बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदुःखान्तकारी होंगे। परन्तु इस तेरहवें क्रियास्थान में वर्तमान जीव अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वान्तकृत् हुए हैं, होते हैं और होंगे।

इस प्रकार (बारह क्रियास्थानों का त्याग करने वाला) वह आत्मार्थी, आत्महिततत्पर, आत्मगुप्त (आत्मा को पाप से बचाने वाला), आत्मयोगी, आत्मभाव में पराक्रमी, आत्मरक्षक (आत्मा की संसाराग्नि से रक्षा करने वाला), आत्मानुकम्पक (आत्मा पर अनुकम्पा करने वाला), आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला उत्तम साधक (भिक्षु) अपनी आत्मा को समस्त पापों से निवृत्त करे।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—क्रियास्थानों का प्रतिफल—प्रस्तुत सूत्र में इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने पूर्वोक्त १३ क्रियास्थानों का संक्षेप में प्रतिफल दिया है, ताकि हेय-हेय-उपादेय का साधक विवेक कर सके।

तेरहवाँ क्रियास्थान भी कब ग्राह्य, या त्याज्य भी ?—प्रस्तुत सूत्र में १२ क्रियास्थानों को

---

१. 'अप्पगुत्ता'-ण परपच्चएण। आत्मगुप्त—स्वतः आत्मरक्षा करने वाले की दृष्टि से प्रयुक्त है।—"आत्मनैव संजम-जोए जुंजति, सयमेवपरक्कमंति।" अर्थात्-अपने आप ही संयम योग में जुटाता, है, स्वयमेव पराक्रम करता है। —सू. चू. (मू. पा. टि.) पृ. १९३

संसार के तथा तेरहवें क्रियास्थान को मोक्ष का कारण बताने का आशय है—१२ क्रियास्थान तो मुमुक्षु के लिए त्याज्य और तेरहवाँ ग्राह्य समझा जाए। परन्तु सिद्धान्तानुसार तेरहवाँ क्रियास्थान ग्राह्य अन्त में होने पर भी एवंभूत आदि शुद्ध नयों की अपेक्षा से त्याज्य है। तेरहवें क्रियास्थान में स्थित जीव को सिद्धि, मुक्ति या निर्वाण पाने की बात औपचारिक है। वास्तव में देखा जाए तो, जब तक योग रहते हैं, (१३ वें गुणस्थान तक) तब तक भले ही ईर्यापथ क्रिया हो, जीव को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण या सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए, यहाँ १३ वें क्रियास्थान वाले को मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस कथन के पीछे शास्त्रकार का तात्पर्य यह कि १३ वाँ क्रियास्थान प्राप्त होने पर जीव को मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण आदि अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है। मोक्षप्राप्ति में १३ वाँ क्रियास्थान उपकारक है। जिन्होंने १२ क्रियास्थानों को छोड़कर १३ वें क्रियास्थान का आश्रय ले लिया, वे एक दिन अवश्य ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदुःखान्तकृत् बने हैं, बनते हैं, और बनेंगे, किन्तु १२ क्रियास्थानों का आश्रय लेने वाले कदापि सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हुए, न होते, न होंगे।[1]

॥ क्रियास्थान: द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३४१ का निष्कर्ष

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के तृतीय अध्ययन का नाम 'आहारपरिज्ञा' है।

☐ शरीरधारी प्राणी को आहार ग्रहण करना अनिवार्य होता है, उसके बिना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है। साधु-साध्वियों को भी आहार-ग्रहण करना आवश्यक होता है। वे दोषरहित शुद्ध कल्पनीय आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करें, अशुद्ध अकल्पनीय से नहीं; तथा कवलाहार के अतिरिक्त भी अन्य किस किस आहार से शरीर को पोषण मिलता है, अन्य जीवों के आहार की पूर्ति कैसे और किस प्रकार के आहार से होती है? इस प्रकार जीवों के आहार के सम्बन्ध में साधकों को विविध परिज्ञान कराने के कारण इस अध्ययन का नाम **'आहारपरिज्ञा'** रखा गया है।

☐ मुख्यतया आहार के दो भेद हैं—द्रव्याहार एवं भावाहार। **द्रव्याहार** सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार का है।

☐ प्राणिवर्ग क्षुधा वेदनीय कर्मोदय से जब किसी वस्तु का आहार करता है, वह **भावाहार** है। समस्त प्राणी तीन प्रकार से भावाहार ग्रहण करते हैं—**ओज-आहार, रोम-आहार** और **प्रक्षेपाहार**।

☐ जब तक औदारिक रूप में दृश्यमान शरीर उत्पन्न नहीं होता, (किन्हीं आचार्यों के मत से जब तक इन्द्रिय, प्राण, भाषा और मन की उत्पत्ति नहीं होती); तब तक तैजस-कार्मण एवं मिश्र शरीर द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **ओज-आहार** है। शरीर की रचना पूर्ण होने के बाद बाहर की त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से या रोमकूप से प्राणियों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **रोमाहार** या **लोमाहार** है। मुख-जिह्वा आदि द्वारा जो कवल (कौर), बूंद, कण, कतरे आदि के रूप में जो आहार ग्रहण किया जाता है, उसे **प्रक्षेपाहार** (कवलाहार) कहते हैं।

☐ अपर्याप्त जीवों का ओज आहार, देवों-नारकों का रोमाहार, तथा अन्य पर्याप्त जीवों का प्रक्षेपाहार होता है। केवली अनन्तवीर्य होते हुए भी उनमें पर्याप्तित्व, वेदनीयोदय, आहार को पचाने वाला तैजस् शरीर और दीर्घायुष्कता होने से उनका कवलाहार करना युक्तिसिद्ध है।

☐ चार अवस्थाओं में जीव आहार नहीं करता—(१) विग्रहगति के समय, (२) केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे, पांचवें समय में, (३) शैलेशी अवस्था प्राप्त अयोगी केवली, (४) सिद्धि प्राप्त आत्मा।

☐ बीजकायों के आहार की चर्चा से अध्ययन का प्रारम्भ होकर क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा त्रसजीवों में पंचेन्द्रिय देव-नारकों के आहार की चर्चा छोड़कर मनुष्य एवं तिर्यंच के आहार की चर्चा की गई है। साथ ही प्रत्येक जीव की उत्पत्ति, पोषण, संवर्द्धन आदि की पर्याप्त चर्चा की है।

☐ आहार प्राप्ति में हिंसा की सम्भावना होने से साधु वर्ग को संयम नियमपूर्वक निर्दोष शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर दिया गया है।[1]

☐ यह अध्ययन सूत्र ७२२ से प्रारम्भ होकर सूत्र ७४६ पर पूर्ण होता है।

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १६९ से १७३ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३४२ से ३४६ तक का सारांश

आहारपरिण्णा : तइयं अज्झयणं

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया--

७२२—सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु आहारपरिण्णा णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे-इह खलु पाईणं वा ४ सव्वातो सव्वावंति लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया।

७२२—आयुष्मन्! मैंने सुना है, उन भगवान् श्री महावीर स्वामी ने कहा था—इस तीर्थंकर देव के शासन (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) में आहारपरिज्ञा नामक एक अध्ययन है, जिसका अर्थ (भाव) यह है—इस समग्र लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा ऊर्ध्व आदि विदिशाओं में सर्वत्र चार प्रकार के बीज काय वाले जीव होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज।

७२३—(१) तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इह एगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा। तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कम्म[1] (वक्कमा) णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सतिसरीरं नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं[2] संतं सव्वप्पणताए आहारेंति। अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा नाणासंठाणसंठिया नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

(२) अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं, णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं सव्वप्पणाए आहारं आहारेंति। अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा

---

१. 'तत्थवक्कमा'—तत्रोत्पत्तिस्थान उपक्रम्य आगत्य—उस उत्पत्तिस्थान-योनि में आकर।

२. सारूविकडं ति समानरूवकडं, वृक्षत्वेन परिणामितमित्यर्थः—चूर्णि स्वरूपतां नीतं सत् तन्मयतां प्रतिपद्यते।

—शी. वृत्ति. सूत्र क्र. मू. पा. टि. पृ. १९५

णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता, ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा(मा) कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सतिसरीरं, नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारितं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं। अवरे वि य णं तेसिं रुक्ख-जोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

(४) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कम्मा(मा) रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सति०, नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा जाव नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया, ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

७२३—[१] उन बीज कायिक जीवों में जो जिस प्रकार के बीज से, जिस-जिस अवकाश (उत्पत्ति स्थान अथवा भूमि, जल, काल, आकाश और बीज के संयोग) से उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं, वे उस उस बीज से तथा उस-उस अवकाश में उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से कई बीज कायिक जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, पृथ्वी पर (उस बीज और अवकाश से) उत्पन्न होते हैं, उसी पर स्थित रहते हैं और उसी पर उनका विकास होता है।

इसलिए पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले और उसी पर स्थित रहने व बढ़ने वाले वे जीव (बीज-कायिक प्राणी) कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म के निदान (आदिकारण) से आकर्षित होकर वहीं (पृथ्वी पर ही) वृद्धिगत होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वियों पर वृक्ष रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति की योनियों वाली पृथ्वियों के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं। वे जीव (स्वशरीर सन्निकृष्ट) पृथ्वी शरीर अप्-शरीर (भौम या आकाशीय जल के शरीर) तेज:शरीर, (अग्नि की राख आदि) वायु शरीर और वनस्पति-शरीर का आहार करते हैं। तथा वे पृथ्वी जीव नाना-प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते हैं। वे आदि के अत्यन्त विध्वस्त (पूर्व जीव से मुक्त) उस शरीर को कुछ प्रासुक कुछ परितापित कर देते हैं, वे (वनस्पतिजीव) इन (पृथ्वीकायादि) के पूर्व-आहारित (पृथ्वीकायादि से उत्पत्ति के समय उनका जो आहार किया था, और स्वशरीर के रूप में परिणत) किया था, उसे अब भी (उत्पत्ति के बाद भी) त्वचास्पर्श द्वारा आहार करते हैं, तत्पश्चात् उन्हें स्वशरीर के रूप में विपरिणत करते हैं।

और उक्त विपरिणामित शरीर को स्व स्वरूप (स्वसमान रूप) कर लेते हैं। इस प्रकार वे सर्व दिशाओं से आहार करते हैं।

उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के दूसरे (मूल, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प फलादि के रूप में बने हुए) शरीर भी अनेक वर्ण, अनेक गन्ध, नाना रस, नाना स्पर्श के तथा नाना संस्थानों से संस्थित एवं नाना प्रकार के शारीरिक पुद्गलों (रस, वीर्य आदि) से विकुर्वित होकर बनते हैं। वे जीव कर्मों के उदय (एकेन्द्रिय जाति, स्थावरनाम, वनस्पति योग्य आयुष्य आदि कर्मों के उदय) के अनुसार स्थावरयोनि में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

[२] इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने पहले (वनस्पतिकाय का दूसरा भेद) बताया है, कि कई सत्त्व (वनस्पतिकायिक जीव) वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, अतएव वे वृक्षयोनिक होते हैं, वृक्ष में स्थित रह कर वहीं वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (पूर्वोक्त प्रकार से) वृक्षयोनिक, वृक्ष में उत्पन्न, उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्मों के उदय के कारण वे (वनस्पतिकाय के अंगभूत) जीव कर्म से आकृष्ट होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों से उनके स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर डालते हैं। वे परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए एवं पहले आहार किये हुए, तथा त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि शरीरों को विपरिणामित (पचा) कर अपने अपने समान स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। वे सर्व दिशाओं से आहार लेते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, अनेक प्रकार के संस्थानों (अवयवरचनाओं) से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं, जो अनेक प्रकार के शारीरिक (शरीरगत रस, वीर्य आदि) पुद्गलों से विकुर्वित (विरचित) होते हैं। वे जीव कर्म के उदय के अनुरूप ही पृथ्वीयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

[३] इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों का अन्य भेद बताया है। इसी वनस्पतिकायवर्ग में कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वृक्ष में उत्पन्न होने वाले, उसी में स्थित रहने और उसी में संवृद्धि पाने वाले वृक्षयोनिक जीव कर्म के वशीभूत होकर कर्म के ही कारण उन वृक्षों में आकर वृक्षयोनिक जीवों में वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते हैं। परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए तथा पहले आहार किये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को पचा कर अपने रूप में मिला लेते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे शरीर (मूल, कन्द, स्कन्धादि) होते हैं। वे जीव कर्मोदय वश वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह तीर्थकर देव ने कहा है।

[४] श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय-वर्ग में कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं, वृक्ष में ही संवर्द्धित होते रहते हैं। वे वृक्षयोनिक जीव उसी में उत्पन्न, स्थित एवं संवृद्ध होकर कर्मोदयवश

उन-उन कर्मों के कारण वृक्षों में आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल) शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के (सचित्त शरीर में से रस खींच कर उनके) शरीर को अचित्त कर देते हैं। फिर प्रासुक (परिविध्वस्त) हुए उनके शरीरों को पचा कर अपने समान रूप में परिणत कर डालते हैं। उन वृक्षयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज रूप जीवों के और भी शरीर होते हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस, एवं स्पर्श वाले तथा नाना प्रकार के पुद्गलों से बने हुए होते हैं। ये जीव कर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७२४—(१) अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झोरुहित्ताते विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

(२) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया[1] अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झोरुहेसु अज्झोरुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरहेसु अज्झोरुहित्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं [अज्झोरुहाणं] सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

(४) अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरुहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७२४—(१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के अन्य भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय जगत् में कई वृक्षयोनिक जीव वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते एवं बढ़ते हैं। इस प्रकार उसी में उत्पन्न, स्थित और संवर्धित होने वाले वे वृक्षयोनिक जीव कर्मोदयवश तथा कर्म के कारण ही वृक्षों में आकर उन वृक्षयोनिक वृक्षों में 'अध्यारूह' वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (अध्यारूह) जीव वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीर का भी आहार करते हैं। यहाँ तक कि वे उन्हें अचित्त, प्रासुक एवं

---

१. (क) अज्झारोहा—रुक्खस्स उवरिं अन्नो रुक्खो.......चूर्णि।
(ख) वृक्षेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यध्यारुहाः —शीलांक वृत्ति

परिणामित करके अपने स्वरूप में मिला लेते हैं। उन वृक्षयोनिक अध्यारूह वनस्पति के नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले तथा अनेकविध रचनावाले एवं विविध पुद्गलों से बने हुए दूसरे शरीर भी होते हैं। वे अध्यारूह वनस्पति जीव स्वकर्मोदयवश कर्मप्रेरित होकर ही वहाँ उस रूप में उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है। –

(२) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद कहे हैं। इस वनस्पतिकायजगत् में अध्यारूहयोनिक जीव अध्यारूह में ही उत्पन्न होते हैं, उसी में स्थित रहते, एवं संवर्द्धित होते हैं। वे जीव कर्मोदय के कारण ही वहां आकर वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में अध्यारूह के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक अध्यारूहों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पतिक के शरीर का आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त कर डालते हैं, फिर उनके परिविध्वस्त शरीर को पचा कर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वनस्पतियों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले, नाना संस्थानवाले, अनेकविध पुद्गलों से बने हुए और भी शरीर होते हैं, वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से ही अध्यारूहयोनिक अध्यारूहों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकर प्रभु ने कहा है।

(३) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का प्रतिपादन पहले किया है। इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई अध्यारूहयोनिक प्राणी अध्यारूह वृक्षों में ही उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में उनकी स्थिति और संवृद्धि होती है। वे प्राणी तथाप्रकार के कर्मोदयवश वहाँ आते हैं और अध्यारूहयोनिक वृक्षों में अध्यारूह रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं। तथा वे जीव त्रस और स्थावरप्राणियों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त प्रासुक एवं विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानों से युक्त, विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। स्वकृतकर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकर भगवान् ने कहा है।

(४) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का निरूपण किया है। इस वनस्पतिकायजगत् में कई जीव अध्यारूहयोनिक होते हैं। वे अध्यारूह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं में स्थित रहते हैं और बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर अध्यारूह वृक्षों में आते हैं और अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (पूर्वोक्त) जीव उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। तदतिरिक्त वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं। वे जीव त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त कर देते हैं। प्रासुक हुए उस शरीर को वे विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक के जीवों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त, अनेक प्रकार के पुद्गलों से रचित अन्य शरीर भी होते हैं। वे (पूर्वोक्त सभी जीव) स्व-स्वकर्मोदयवश ही इनमें उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।

७२५—(१) अहावरं पुरक्खातं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविह-

जोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(२) एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(३) एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(४) एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा जाव एवमक्खायं।

७२५—(१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई प्राणी पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में ही स्थित होकर उसी में संवर्धन पाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में ही उत्पन्न, स्थित एवं संवृद्ध वे जीव स्वकर्मोदयवश ही नाना प्रकार की जाति (योनि) वाली पृथ्वियों पर तृणरूप में उत्पन्न होते हैं। वे तृण के जीव उन नाना जाति वाली पृथ्वियों के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करते हैं। वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का आहार करते हैं। त्रस-स्थावर जीवों के शरीरों को अचित्त, प्रासुक एवं स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। वे जीव कर्म से प्रेरित होकर ही पृथ्वीयोनिक तृण के रूप में उत्पन्न होते हैं, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। यह सब श्रीतीर्थंकर प्रभु ने कहा है।

(२) इसी प्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव पृथ्वीयोनिक तृणों में तृण रूप से उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते, एवं संवृद्ध होते हैं। वे पृथ्वीयोनिक तृणों के शरीर का आहार करते हैं, इत्यादि समस्त वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(३) इसी तरह कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में (स्वकृतकर्मोदयवश) तृण-रूप में उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित एवं संवृद्ध होते हैं। वे जीव तृणयोनिक तृणों के शरीर का ही आहार ग्रहण करते हैं। शेष सारा वर्णन पहले की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

(४) इसीप्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीजरूप में (कर्मोदयवश) उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते एवं संवृद्ध होते हैं। वे उन्हीं तृणयोनिक तृणों का आहार करते हैं। इन जीवों का शेष समस्त वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२६—एवं ओसहीण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२६—इसी प्रकार औषधिरूप में उत्पन्न (वनस्पतिकायिक) जीवों के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियों में औषधि विविध अन्नादि की पकी हुई फसल के रूप में, (२) पृथ्वीयोनिक औषधियों में औषधि के रूप में, (३) औषधियोनिक औषधियों में औषध के रूप में, एवं (४) औषधियोनिक औषधियों में (मूल से लेकर बीज तक के रूप में उत्पत्ति) और उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२७—एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२७—इसी प्रकार हरितरूप में उत्पन्न वनस्पतिकायिक जीवों के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियों पर हरित के रूप में, (२) पृथ्वीयोनिक हरितों में हरित के रूप में,

(३) हरित योनिक हरितों में हरित (अध्यारूह) के रूप में, एवं (४) हरितयोनिक हरितों में मूल से लेकर वीज तक के रूप में] एवं उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२८—अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कुहणत्ताए[1] कंदुकत्ताए उव्वेहलियत्ताए निव्वेहलियत्ताए सछत्ताए सज्झत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयाणं जाव कुराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं, एक्को चेव आलावगो (१), सेसा तिण्णि नत्थि।

७२८—श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद वताए हैं। इस वनस्पतिकाय जगत् में कई जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही रहते और उसी पर ही विकसित होते हैं। वे पूर्वोक्त पृथ्वीयोनिक वनस्पतिजीव स्व-स्वकर्मोदयवश कर्म के कारण ही वहाँ आकर उत्पन्न होते हैं। वे नाना प्रकार की योनि (जाति) वाली पृथ्वियों पर आर्य, वाय, काय, कूहण, कन्दुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सछत्रक, छत्रक, वासानी एवं कूर नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (पूर्वोक्त) जीव उन नानाविध योनियों वाली पृथ्वियों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वीकाय आदि छहों काय के जीवों के शरीर का आहार करते हैं। पहले उनसे रस खींच कर वे उन्हें अचित्त-प्रासुक कर देते हैं, फिर उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन पृथ्वी-योनिक (विविध पृथ्वियों से उत्पन्न) आर्यवनस्पति से लेकर क्रूरवनस्पति तक के जीवों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आकार-प्रकार और ढांचे वाले तथा विविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। इन जीवों का एक ही आलापक होता है, शेष तीन आलापक नहीं होते।

७२९—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं, जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा [४] अज्झोरुहाण वि तहेव [४], तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के [४, ४, ४]।

७२९—श्रीतीर्थंकरप्रभु ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का निरूपण किया है। इस वनस्पतिकायजगत् में कई उदकयोनिक (जल में उत्पन्न होने वाली) वनस्पतियाँ होती हैं, जो जल में ही उत्पन्न होती हैं, जल में ही रहती और उसी में वढ़ती हैं। वे उदकयोनिक वनस्पति जीव पूर्वकृत कर्मोदयवश-कर्मों के कारण ही उनमें आते हैं और नाना प्रकार की योनियों (जातियों) वाले उदकों (जलकायों) में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नानाप्रकार के जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के शरीरों का भी

१. तुलना—"कुहणा अणेगविहा पन्नत्ता, तं० आए काए कुहणे....कुरए।" —प्रज्ञापना सूत्र प्रथम पद

आहार करते हैं। उन जलयोनिक वृक्षों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान वाले तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। वे जीव स्वकर्मोदयवश ही जलयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं। जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्ष के चार भेदों के प्रत्येक के चार-चार आलापक बताए गए थे, वैसे ही यहाँ जलयोनिक वृक्षों के भी चार भेदों (वृक्ष, अध्यारूह वृक्ष, तृण और हरित) के भी प्रत्येक के चार-चार आलापक कहने चाहिए।

७३०—अहावरं पुरक्खायं—इहेगत्तिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु[1] उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हढत्ताए कसेरुयत्ताए कच्छ०भाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुदत्ताए नलिणत्ताए सुभग० सोगंधियत्ताए पोंडरिय० महापोंडरिय० सयपत्त० सहस्सपत्त० एवं कल्हार० कोकणत० अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिस० भिसमुणाल०पुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं, एक्को चेव आलावगो [१]।

७३०—श्रीतीर्थंकर भगवान् ने वनस्पतिकाय के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय-जगत् में कई जीव उदकयोनिक होते हैं, जो जल में उत्पन्न होते हैं, वहीं रहते और वहीं संवृद्धि पाते हैं। वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही तथारूप वनस्पतिकाय में आते हैं और वहाँ वे अनेक प्रकार की योनि (जाति) के उदकों में उदक, अवक, पनक (काई), शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, भिस, मृणाल, पुष्कर, पुष्कराक्षिभग के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा पृथ्वीकाय आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन जलयोनिक वनस्पतियों के उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक जो नाम बताए गए हैं, उनके विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान (अवयवरचना) से युक्त एवं नानाविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। वे सभी जीव स्व-कृतकर्मानुसार ही इन जीवों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है। इसमें केवल एक ही आलापक होता है।

७३१—[१] अहावरं पुरक्खायं-इहेगतिया सत्ता तेहिं चेव पुढवि-जोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], रुक्खजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], पुढविजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं ओसहीहिं तिण्णि आलावगा [३], एवं हरिएहिं वि तिण्णि आलावगा [३], पुढविजोणिएहिं आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं [१], उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं

१. तुलना—"जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तं—उदए अवए पणए····पोक्खलत्थिभए····।"
—प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद

अज्झोरुहेहिं वि तिण्णि [३], तणेहिं वि तिण्णि आलावगा [३], ओसहीहिं वि तिण्णि [३], हरितेहिं वि तिण्णि [३], उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिभएहिं [१] तसपाणत्ताए विउट्टंति ।

[२] ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झोरुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुराणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सिणेहमारेंति । ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ।

७३१—[१] श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवों के अन्य भेद भी बताए हैं—इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई जीव-पृथ्वीयोनिक वृक्षों में, कई वृक्षयोनिक वृक्षों में, कई वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कई वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में, कई अध्यारूह योनिक अध्यारूहों में कई अध्यारूह-योनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कई पृथ्वीयोनिक तृणों में, कई तृणयोनिक तृणों में, कई तृणयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, इसी तरह औषधि और हरितों के सम्बन्ध में तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, (कई उनमें); कई पृथ्वीयोनिक आर्य, काय से लेकर कूट तक के वनस्पति-कायिक अवयवों में, 'कई उदकयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, तथा' वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, इसी तरह अध्यारूहों, तृणों, औषधियों और हरितों में (पूर्वोक्तवत् तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, (उनमें), तथा कई उदकयोनिक उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभगों में त्रस-प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं ।

[२] वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, जलयोनिक वृक्षों के, अध्यारूहयोनिक वृक्षों के, एवं तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष, अध्यारूह, तृण, औषधि, हरित, एवं मूल से लेकर बीज तक के, तथा आर्य, काय से लेकर कूट वनस्पति तक के एवं उदक अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग वनस्पति तक के स्नेह का आहार करते हैं । वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं । उन वृक्षयोनिक, अध्यारूहयोनिक, तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक, मूल योनिक, कन्दयोनिक, से लेकर बीजयोनिक पर्यन्त, तथा आर्य, काय से लेकर कूटयोनिकपर्यन्त, एवं अवक अवकयोनि से लेकर पुष्कराक्षिभगयोनिकपर्यन्त त्रसजीवों के[1] नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं । ये सभी जीव स्वस्वकर्मानुसार ही अमुक-अमुक रूप में अमुकयोनि में उत्पन्न होते हैं । ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है ।

विवेचन—अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत दस सूत्रों (७२२ से ७३१ तक) में शास्त्रकार ने वनस्पतिकाय जीव के बीज, वृक्ष आदि भेदों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि तथा आहार की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है ।

---

१. देखें विवेचन—

वनस्पतिकायिक जीवों के मुख्य प्रकार—वनस्पतिकायिक जीवों के यहाँ मुख्यतया निम्नोक्त भेदों का उल्लेख है—वोजकायिक, पृथ्वीयोनिकवृक्ष वृक्षयोनिकवृक्ष, वृक्षयोनिकवृक्षों में वृक्ष, वृक्ष-योनिक वृक्षों से उत्पन्न मूल आदि से लेकर बीज तक, वृक्षयोनिक वृक्षों से उत्पन्न अध्यारूह, वृक्ष-योनिक अध्यारूहों में उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिकों में उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिक अध्या-रूहों में उत्पन्न मूल से लेकर बीज तक अवयव, अनेकविध पृथ्वीयोनिक तृण, पृथ्वीयोनिक तृणों में उत्पन्न तृण, तृणयोनिक तृणों में उत्पन्न तृण, तृणयोनिक तृणों के मूल से लेकर बीज तक अवयव, तथा औषधि हरित, अनेकविध पृथ्वी में उत्पन्न आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति, उदकयोनिक वृक्ष, (अध्यारूह, तृण औषधि तथा हरित आदि), अनेकविधउदकयोनि में उत्पन्न उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक की वनस्पति आदि।

बीजकायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—अग्रबीज (जिसके अग्रभाग में बीज हो, जैसे—तिल, ताल, आम, गेहूँ, चावल आदि), मूलवीज (जो मूल से उत्पन्न होते हैं, जैसे—अदरक आदि), पर्ववीज (जो पर्व से उत्पन्न होते हैं, जैसे—ईख आदि) और स्कन्धबीज (जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं, जैसे सल्लकी आदि)।

उत्पत्ति के कारण—पूर्वोक्त विविध प्रकार की वनस्पतियों की योनि (मुख्य उत्पत्तिस्थान) भिन्न-भिन्न हैं। पृथ्वी, वृक्ष, जल बीज आदि में से जिस वनस्पति की जो योनि है, वह वनस्पति उसी योनि से उत्पन्न कहलाती है। वृक्षादि जिस वनस्पति के लिए जो प्रदेश उपयुक्त होता है, उसी प्रदेश में वह (वृक्षादि वनस्पति) उत्पन्न होती है, अन्यत्र नहीं, तथा जिसकी उत्पत्ति के लिए जो काल, भूमि, जल, आकाशप्रदेश और बीज आदि अपेक्षित है, उनमें से एक के भी न होने पर वह उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वनस्पतिकायिक विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के लिए भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल, वीज आदि तो वाह्य निमित्त कारण हैं ही, साथ ही अन्तरंग कारण कर्म भी एक अनिवार्य कारण है। कर्म से प्रेरित हो कर ही विविध वनस्पतिकायिक जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होता है। कभी यह पृथ्वी से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी पृथ्वी से उत्पन्न हुए वृक्ष से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी वृक्षयोनिक वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, और कभी वृक्षयोनिक वृक्षों से मूल, कन्दफल, मूल, त्वचा, पत्र, वीज, शाखा, बेल, स्कन्ध आदि रूप में उत्पन्न होती है। इसी तरह कभी वृक्षयोनिक वृक्ष से अध्यारूह आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है। कभी नानायोनिक पृथ्वी से तृणादि चार रूपों में, कभी औषधि आदि चार रूपों में, तथा कभी हरित आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है। कभी वह विविधयोनिक पृथ्वी से सीधे आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है। कभी वह उदकयोनिक उदक में वृक्ष आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है, कभी उदक से सीधे ही उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग नामके वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है। यद्यपि पहले जिन के चार-चार आलापक बताए गए थे, उनके अन्तिम उपसंहारात्मक सूत्र (७३१) में तीन-तीन आलापक वताए गए हैं। इसका तत्त्व केवलिगम्य है।

अध्यारूह—वृक्ष आदि के ऊपर एक के वाद एक चढ़ कर जो उग जाते है,[1] उन्हें अध्यारूह

---

१. (क) सूत्रकृ. शी. वृत्ति, पत्रांक ३४९ से ३५२ तक का निष्कर्ष
(ख) 'रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु अज्झारुहत्ताए....'—रुहं जन्मनि, अहियं आरुहंति ति अज्झारोहा। रुक्खस्स उवरिं अन्नो रुक्खो।'—चूर्णि। वृक्षेपु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीति अध्यारूहा:, वृक्षोपरिजातावृक्षा इत्यभिधीयन्ते।—शी. वृत्ति.

कहते हैं इन अध्यारूहों की उत्पत्ति वृक्ष, तृण, औषधि एवं हरित आदि के रूप में यहाँ बताई गई है।

स्थिति, संवृद्धि, एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्रों में पूर्वोक्त विविध वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं संवृद्धि का वर्णन किया गया है, उसका प्रधान प्रयोजन है—इनमें जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध करना। यद्यपि बौद्ध दर्शन में इन स्थावरों को जीव नहीं माना जाता, तथापि जीव का जो लक्षण है—उपयोग, वह इन वृक्षादि में भी परिलक्षित होता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि जिधर आश्रय मिलता है, उसी ओर लता जाती है। तथा विशिष्ट अनुरूप आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और न मिलने पर कृशता-म्लानता आदि देखी जाती है। इन सब कार्यकलापों को देखते हुए वनस्पति में जीवत्व सिद्ध होता है। चूंकि आहार के बिना किसी जीव की स्थिति एवं संवृद्धि (विकास) हो नहीं सकते। इसलिए आहार की विविध प्रक्रिया भी बताई है। जो वनस्पतिकायिक जीव जिस पृथ्वी आदि की योनि में उत्पन्न होता है वह उसी में स्थित रहता है, और उसी से संवर्धन पाता है। मुख्यतया वह उसी के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करता है। इसके अतिरिक्त वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पतिकाय के शरीर का आहार करता है। पूर्वोक्त वनस्पतिकायिक जीव जब अपने से संसृष्ट या सन्निकट किसी त्रस या स्थावर जीवों का आहार करते हैं, तब वे पूर्वभुक्त त्रस या स्थावर के शरीर को उसका रस चूस कर परिविध्वस्त (अचित्त) कर डालते हैं।[1] तत्पश्चात् त्वचा द्वारा भुक्त पृथ्वी आदि या त्रस शरीर को वे अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। यही समस्त वनस्पतिकायिक जीवों के आहार की प्रक्रिया है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि जो वनस्पति जिस प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श वाले जल, भूमि आदि का आहार लेती है, उसी के अनुसार उसका वर्णादि बनता है, या आकार-प्रकार आदि बनता है। जैसे आम एक ही प्रकार की वनस्पति होते हुए भी विभिन्न प्रदेश की मिट्टी, जल, वायु एवं बीज आदि के कारण विभिन्न प्रकार के वर्णादि से युक्त, विविध आकार-प्रकार से विशिष्ट नाना शरीरों को धारण करता है। इसी प्रकार अन्य वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

स्नेह—प्रस्तुत प्रकरण में स्नेह शब्द का अर्थ शरीर का सार, या स्निग्धतत्व। जिसे अमुक-अमुक वनस्पतिकायिक जीव पी लेता है, या ग्रहण कर लेता है।[2]

नानाविध मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७३२—अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं मणुस्साणं, तंजहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए एत्थ णं मेहुणवत्तिए नामं संयोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो वि सिणेहं[3] संचिणंति,

१. इस प्रकार के अनेक वृक्ष व वनस्पतियां पाई जाती हैं जो मनुष्य व अन्य त्रस प्राणियों को अपने निकट आने पर खींच कर उनका आहार कर लेते हैं।

२ 'सिणेहो णाम सरीरसारो, तं आपिबंति'—चूर्णि : स्नेहं स्निग्धभावमाददते।—शी. वृत्ति सूत्र. मू. पा. टिप्पण, पृ. १९५।

३. 'ते दुहतो वि सिणेहं'—सिणेहो नामा अन्योऽन्यगात्र संस्पर्शः। यदा पुरुषस्नेहः शुक्रान्तः नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह संयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्णं 'संचिणति' गृह्णातीत्यर्थः।' अर्थात्—स्नेह का अर्थ पुरुष और स्त्री के परस्पर गात्रसंस्पर्श से जनित पदार्थ।..... जब पुरुष का स्नेह—शुक्र नारी के उदर में प्रविष्ट होकर नारी के ओज (रज) के साथ मिलता है, तब वह स्नेह दूध और पानी की तरह परस्पर एकरस हो जाता है, उसी स्नेह को गर्भस्थ जीव सर्वप्रथम ग्रहण करता है। —सूत्र कृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २०२

संचिणित्ता तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा मातुओयं पितुसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति, ततो पच्छा जं से माता णाणाविहाओ रसविगईओ[1] आहारमाहारेति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुचिन्ना ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं वेगता जणयंति णपुंसगं वेगता जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा मातुं खीरं सप्पिं आहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३२—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के मनुष्यों का स्वरूप बतलाया है। जैसे कि—कई मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न होते हैं, कई अकर्मभूमि में और कई अन्तर्द्वीपों (५६ अन्तर्द्वीपों) में उत्पन्न होते हैं। कोई आर्य हैं, कोई म्लेच्छ (अनार्य)। उन जीवों की उत्पति अपने अपने बीज और अपने-अपने अवकाश के अनुसार होती है। इस उत्पत्ति के कारणरूप पूर्वकर्मनिर्मित योनि में स्त्री पुरुष का मैथुनहेतुक संयोग उत्पन्न होता है। (उस संयोग के होने पर) उत्पन्न होने वाले वे जीव तैजस् और कार्मण शरीर द्वारा) दोनों के स्नेह का आहार (ग्रहण) करते हैं, तत्पश्चात् वे जीव वहाँ स्त्रीरूप में, पुरुषरूप में और नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम (वहां) वे जीव माता के रज (शोणित) और पिता के वीर्य (शुक्र) का, जो परस्पर मिले हुए (संसृष्ट) कलुष (मलिन) और घृणित होते हैं, ओज-आहार करते हैं। उसके पश्चात् माता, जिन अनेक प्रकार की सरस वस्तुओं का आहार करती है, वे जीव उसके एकदेश (अंश) का ओज आहार करते हैं। क्रमशः (गर्भ की) वृद्धि एवं परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से निकलते हुए कोई स्त्रीरूप में, कोई पुरुषरूप में और कोई नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव बालक होकर माता के दूध और घी का आहार करते हैं। क्रमशः बड़े हो कर वे जीव चावल, कुल्माष (उड़द या थोड़ा भीजा हुआ मूंग) एवं त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। फिर वे उनके शरीर को अचित करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, आर्य और म्लेच्छ आदि अनेकविध मनुष्यों के शरीर नानावर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श एवं संस्थान वाले नाना पुद्गलों से रचित होते हैं। ऐसा तीर्थंकर-देव ने कहा है।

विवेचन—मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्र में अनेक प्रकार के मनुष्यों की उत्पत्ति, आदि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

नारक और देव से पहले मनुष्यों के आहारादि का वर्णन क्यों?—त्रस जीवों के ४ भेद हैं—नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इन चारों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसके अतिरिक्त

---

१. रसविगईओ—'रसविगई थीखीरादिआओ णव विगइओ।' अर्थात् माता के दूध आदि ९ विगई (विकृतियाँ) कहलाती हैं। भगवती सूत्र (१/७/६१) में कहा है—'जंसे माया नाणाविहाओ रसविगइओ आहार माहारेइ'—वह माता नाना प्रकार की रसविकृतियाँ आहार के रूप में ग्रहण करती है।

—सूत्र कृ. चू. (मू. पा. टि) पृ. २०२

देव और नारक अल्पज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, अनुमान—आगम से जाने जाते हैं, इस कारण देव एवं नारक को छोड़ कर यहाँ सर्वप्रथम मनुष्य के आहारादि का वर्णन किया गया है।

देव और नारकों का आहार—नारक जीव अपने पापकर्मो का फल भोगने वाले जीव हैं, जबकि देव प्रायः अपने शुभकर्मों का फल भोगने वाले जीव हैं। नारकजीवों का आहार एकान्त अशुभपुद्गलों का होता है, जबकि देवों का आहार शुभपुद्गलों का होता है। देव और नारक दोनों ही ओज आहार को ग्रहण करते हैं, कवलाहार नहीं करते। ओज-आहार दो प्रकार का होता है—पहला अनाभोगकृत, जो प्रतिसमय होता रहता है, दूसरा आभोगकृत, जो जघन्य चतुर्थभक्त से लेकर उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष में होता है।

मनुष्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया—जब स्त्री और पुरुष का सुरतसुखेच्छा से संयोग होता है, तब जीव अपने कर्मानुसार स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होता है। वह संयोग उस जीव की उत्पत्ति का कारण उसी तरह होता है, जिस तरह दो अरणि की लकड़ियों का संयोग (घर्षण) अग्नि की उत्पत्ति का कारण होता है। उत्पन्न होने वाला जीव कर्मप्रेरित होकर तेजस-कार्मणशरीर के द्वारा पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित (रज) के आश्रय से उत्पन्न होता है।

स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की उत्पत्ति का रहस्य—शास्त्रकार ने इसके रहस्य के लिए दो मुख्य कारण बताए हैं—यथाबीज एवं यथावकाश। इसका आशय बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं—बीज कहते हैं—पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज को। सामान्यतया स्त्री, पुरुष या नपुंसक की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न बीज के अनुसार होती है। स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य दोनों अविध्वस्त हो, यानी संतानोत्पत्ति की योग्यता वाले हों—दोषरहित हों, और रज की अपेक्षा वीर्य की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की, रज की मात्रा अधिक और वीर्य की मात्रा कम हो तो स्त्री की, एवं दोनों समान मात्रा में हों तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है।

५५ वर्ष से कम उम्र की स्त्री की एवं ७० वर्ष से कम उम्र के पुरुष की अविध्वस्तयोनि संतानोत्पत्ति का कारण मानी जाती है। इसके अतिरिक्त शुक्र-शोणित भी १२ मुहूर्त तक ही संतानोत्पत्ति की शक्ति रखते हैं, तत्पश्चात् वे शक्तिहीन एवं विध्वस्तयोनि हो जाते हैं।

इस भिन्नता का दूसरा कारण बताया है—'*यथावकाश*' अर्थात्—माता के उदर, कुक्षि आदि के अवकाश के अनुसार स्त्री, पुरुष या नपुंसक होता है। सामान्यतया माता की दक्षिण कुक्षि से पुरुष की एवं वामकुक्षि से स्त्री की तथा दोनों ही कुक्षि से नपुंसक की उत्पत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त स्त्री, पुरुष या नपुंसक होने का सबसे प्रधान कारण प्राणी का स्वकृत कर्म है। ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि स्त्री मरकर अगले जन्म में स्त्री ही हो, पुरुष मर कर पुरुष ही हो। यह सब कर्माधीन है। कर्मानुसार ही वैसे बीज और वैसे अवकाश का संयोग मिलता है।[1]

स्थिति, वृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट होकर वह प्राणी स्त्री द्वारा आहार किये हुए पदार्थों के स्नेह का आहार करता है। उस स्नेह के रूप में प्राप्त माता के आहारांश का आहार करता हुआ, वह बढ़ता है। माता के गर्भ (उदर) से निकल कर वह बालक पूर्वजन्म के अभ्यासवश आहार लेने की इच्छा से माता का स्तनपान करता है। उसके पश्चात् वह

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३५३-३५४ का सारांश।

कुछ और बड़ा होने पर स्तनपान छोड़ कर दूध, दही, घृत, चावल, रोटी आदि पदार्थों का आहार करता है। इसके बाद अपने आहार के योग्य त्रस या स्थावर प्राणियों का आहार करता है। भुक्त-पदार्थों को वह पचाकर अपने रूप में मिला लेता है। मनुष्यों के शरीर में जो रस, रक्त मांस, मेद (चर्बी), हड्डी, मज्जा और शुक्र में सात धातु पाए जाते हैं, वे भी उनके द्वारा किये गए आहारों से उत्पन्न होते हैं; जिनसे मनुष्यों के नाना प्रकार के शरीर बनते हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७३३—अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—मच्छाणं[1] जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्म० तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुचिण्णा ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा अंडं वेगता जणयंति, पोयं वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३३—इसके पश्चात् तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जलचरों का वर्णन इस प्रकार किया है, जैसे कि—मत्स्यों से लेकर सुंसुमार तक के जीव पंचेन्द्रियजलचर तिर्यञ्च हैं। वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर स्व-स्वकर्मानुसार पूर्वोक्त प्रकार के गर्भ में उत्पन्न (प्रविष्ट) होते हैं। फिर वे जीव गर्भ में माता के आहार के एकदेश को (आंशिक रूप से) ओज-आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हो कर गर्भ के परिपक्व होने (गर्भावस्था पूर्ण होने) पर माता की काया से बाहर निकल (पृथक् हो) कर कोई अण्डे के रूप में होते हैं, तो कोई पोत के रूप में होते हैं। जब वह अंडा फूट जाता है तो कोई स्त्री (मादा) के रूप में, कोई पुरुष (नर) के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जलचर जीव बाल्यावस्था में आने पर जल के स्नेह (रस) का आहार करते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः बड़े होने पर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (इसके अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं, एवं उन्हें पचा कर क्रमशः अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन मछली, मगरमच्छ, कच्छप, ग्राह और घड़ियाल आदि सुंसुमार तक के जलचर पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवों के दूसरे भी नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, नाना आकृति एवं अवयव रचना वाले तथा नाना पुद्गलों से रचित अनेक शरीर होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

७३४—अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य

---

१. तुलना—जलचर पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया ·····मच्छा, कच्छपा ·······सुंसुमारा।"—प्रज्ञापना सूत्र पद १.

कम्म० जाव मेहुणपत्तिए नामं संजोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो सिणेहं [संचिणंति, संचिणित्ता] तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माउं ओयं पिउं सुक्कं एवं जहा मणुस्साणं जाव इत्थिं वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा मातुं खीरं सप्पिं आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं।

७३४—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेकजाति वाले स्थलचर चतुष्पद (चौपाये) तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में बताया है, जैसे कि—कई स्थलचर चौपाये पशु एक खुर वाले, कई दो खुर वाले, कई गण्डीपद (हाथी आदि) और कई (सिंह आदि) नखयुक्त पद वाले होते हैं। वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं। स्त्री-पुरुष (मादा और नर) का कर्मानुसार परस्पर सुरत-संयोग होने पर वे जीव चतुष्पद स्थलचरजाति के गर्भ में आते हैं। वे माता और पिता दोनों के स्नेह का पहले आहार करते हैं। उस गर्भ में वे जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक के रूप में होते हैं। वे जीव (गर्भ में) माता के ओज (रज) और पिता के शुक्र का आहार करते हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् मनुष्य के समान समझ लेनी चाहिए। इनमें कोई स्त्री (मादा) के रूप में, कभी नर के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव बाल्यावस्था में माता के दूध और घृत का आहार करते हैं। क्रमशः बड़े होकर वे वनस्पतिकाय का तथा दूसरे त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्राणी पृथ्वी आदि के शरीर का भी आहार करते हैं। फिर वे आहार किये हुए पदार्थों को पचा कर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अनेकविध जाति वाले स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक चतुष्पद जीवों के विविध वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं रचना वाले दूसरे अनेक शरीर भी होते हैं, यह श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३५—अहावरं पुरक्खाय—नाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिस० जाव एत्थ णं मेहुण० एतं चेव, नाणत्तं अंडं वेगता जणयंति, पोयं वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरतिरिक्खपंचिदिय० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं।

७३५—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले उरपरिसर्प (छाती के बल सरक कर चलने वाले), स्थलचर, पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्चयोनिक जीवों का वर्णन किया है। जैसे कि सर्प, अजगर, आशालिक (सर्पविशेष) और महोरग (बड़े सांप) आदि उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव हैं। वे जीव अपने-अपने उत्पत्तियोग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इन प्राणियों में भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक संयोग होता है, उस संयोग के होने पर कर्मप्रेरित प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी नियत योनि में उत्पन्न होते हैं। शेष बातें पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। उनमें से कई अंडा देते हैं, कई बच्चा (पोत द्वारा) उत्पन्न

करते है। उस अंडे के फूट जाने पर उसमें से कभी स्त्री (मादा) होती है, कभी नर पैदा होता है, और कभी नपुंसक होता है। वे जीव बाल्यावस्था में वायुकाय (हवा) का आहार करते हैं। क्रमशः बड़े होने पर वे वनस्पतिकाय तथा अन्य त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी के शरीर से लेकर वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं, फिर उन्हें पचा कर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन (पूर्वोक्त) उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श, आकृति एवं संस्थान (रचना) वाले अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३६—अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा–[1]"गोहाणं नउलाणं सेहाणं सरडाणं सल्लाणं संरथाणं खोराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मूसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चाउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिदियथलयरतिरिक्खाणं तं गोहाणं जाव मक्खातं।

७३६—इसके पश्चात् भुजा के सहारे से पृथ्वी पर चलने वाले (भुजपरिसर्प) अनेक प्रकार के स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों के विषय में श्री तीर्थंकर भगवान् ने कहा है। जैसे कि—गोह, नेवला, सेह, सरट, सल्लक, सरथ, खोर, गृहकोकिला (घरोली-छिपकली), विषम्भरा, मूषक (चूहा), मंगुस, पदलातिक, विडालिक, जोध और चातुष्पद आदि भुजपरिसर्प हैं। उन जीवों की उत्पत्ति भी अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है। उरःपरिसर्पजीवों के समान ये जीव भी स्त्री पुरुष-संयोग से उत्पन्न होते हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिए। ये जीव भी अपने किये हुए आहार को पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। गोह से लेकर चातुष्पद तक (पूर्वोक्त) उन अनेक जाति वाले भुजपरिसर्प स्थलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों के नाना वर्णादि को ले कर अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७३७—अहावरं पुरक्खातं—णाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, नाणत्तं ते जीवा डहरगा समाणा माउं-गात्तसिणेहं[2] आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव मक्खातं।

७३७—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले आकाशचारी (खेचर)

---

१. तुलना—भुजपरिसप्पा अणेगविहा····नउला सेहा·······जाहा चउप्पाइया····।"—प्रज्ञापना सूत्र पद १

२. "माउगात्तसिणेहं"—"सीपक्खिणी अंडगाणि ···काएण पेल्लिऊए अच्छति। एवं गातुम्हाए फुसंति, सरीरं च निव्वत्तेति।" अर्थात्—वह पक्षिणी (मादा पक्षी) अण्डों पर अपने पंखों को फैला कर बैठती है, और अपने शरीर की उष्मा (गर्मी) के स्पर्श से आहार देकर बच्चे (अण्डे) को सेती है, जिससे वह क्रमशः बढ़ता है—परिपक्व होता है। —सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि) २०५.

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के विषय में कहा है। जैसे कि—चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गपक्षी तथा विततपक्षी आदि खेचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय होते हैं। उन प्राणियों की उत्पत्ति भी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के अनुसार होती है और स्त्री-पुरुष (मादा और नर) के संयोग से इनकी उत्पत्ति होती है। शेष बातें उर:परिसर्प जाति के पाठ के अनुसार जान लेनी चाहिए। वे प्राणी गर्भ से निकल कर बाल्यावस्था प्राप्त होने पर माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हैं। फिर क्रमशः बड़े होकर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते हैं। इन अनेक प्रकार की जाति वाले चर्मपक्षी आदि आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के और भी अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं अवयवरचना वाले शरीर होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

विवेचन—पंचेन्द्रियतिर्यंचों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत पांच सूत्रों में पांच प्रकार के तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के ५ प्रकार ये हैं—जलचर, स्थलचर, उर:परिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर। इन पांचों के प्रत्येक के कतिपय नाम भी शास्त्रकार ने बताए हैं। शेष सारी प्रक्रिया प्रायः मनुष्यों की उत्पत्ति आदि की प्रक्रिया के समान है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक की उत्पत्ति अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है, तथा प्रथम आहार-ग्रहण में अन्तर है—

(१) जलचर जीव सर्वप्रथम जन्म लेते ही अप्काय का स्नेह का आहार करते हैं।

(२) स्थलचर जीव सर्वप्रथम माता-पिता के स्नेह का (ओज) आहार करते हैं।

(३) उर:परिसर्प जीव सर्वप्रथम वायुकाय का आहार करते हैं।

(४) भुजपरिसर्प जीव उर:परिसर्प के समान वायुकाय का आहार करते हैं।

(५) खेचर जीव माता के शरीर की गर्मी (स्निधता) का आहार करते हैं।

शेष सब प्रक्रिया प्रायः मनुष्यों के समान है[1]

स्थलचर—एक खुरवाले घोड़े गधे आदि, दो खुर वाले—गाय भैंस आदि, गंडीपद (फलकवत् पैर वाले) हाथी गैंडा आदि, नखयुक्त पंजे वाले—सिंह बाघ आदि होते हैं।

खेचर—चर्मपक्षी-चमचेड़, वल्गूली आदि, रोमपक्षी-हंस, सारस, वगुला आदि, विततपक्षी और समुद्र पक्षी-ढाई द्वीप से बाहर पाये जाते हैं।[2]

विकलेन्द्रिय त्रसप्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया—

७३८—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहाण तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३५५-३५६ का सारांश

२. सूत्रकृ. शी. वृत्ति पत्रांक ३५५

तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि त णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अणुसूयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खातं।

एवं दुरूवसंभवत्ताए।[1] एवं खुरुदुगत्ताए[2]। अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता नाणाविह० जाव कम्म० खुरुदुगत्ताए वक्कमंति।

७३८—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने (अन्य जीवों की उत्पत्ति और आहार के सम्बन्ध में) निरूपण किया है। इस जगत् में कई प्राणी नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। वे अनेक प्रकार की योनियों में स्थित रहते हैं, तथा विविध योनियों में आकर संवर्द्धन पाते हैं। नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न, स्थित और संवृद्धित वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मानुसार उन कर्मों के ही प्रभाव से विविध योनियों में आकर (विकलेन्द्रिय त्रस के रूप में) उत्पन्न होते हैं। वे प्राणी अनेक प्रकार के त्रस स्थावर-पुद्गलों के सचित्त या अचित्त शरीरों में उनके आश्रित होकर रहते हैं। वे जीव अनेकविध त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावर योनियों से उत्पन्न, और उन्ही के आश्रित रहने वाले प्राणियों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, विविध संस्थान (आकार तथा रचना) वाले और भी अनेक प्रकार के शरीर होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

इसी प्रकार विष्ठा और मूत्र आदि में कुरूप विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय भैंस आदि के शरीर में चर्मकीट उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—विकलेन्द्रिय त्रस प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया- प्रस्तुत सूत्र में विकलेन्द्रिय प्राणियों की स्थिति आदि के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति के स्रोत—मनुष्यों एवं तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों के सचित्त शरीर में पसीने आदि में जूं, लीख, चींचड़ (चर्मकील) आदि सचित्त शरीर संस्पर्श से खटमल आदि पैदा होते हैं, तथा मनुष्य के एवं विकलेन्द्रिय प्राणियों के अचित्त शरीर (कलेवर) में कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सचित्त अग्निकाय तथा वायुकाय से भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वर्षाऋतु में गर्मी के कारण जमीन से कुथुंआ आदि संस्वेदज तथा मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जल से भी अनेक विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वनस्पतिकाय से भ्रमर आदि

---

१. दुरुवसंभवत्ताए—जिनका विरूप रूप हो, ऐसे कृमि आदि के रूप में। अथवा पाठान्तर है—'दुरूतत्ताए विउट्टंति'—दुरूतंनाम मुत्तपुरीसादी सरीरावयवा तत्थ सचित्तेसु मणुस्साण ताव पोट्टेसु समिगा, गंडोलगा, कोट्ठाओ अ संभवन्ति संजायन्ते....भणिता दुरूतसंभवा' दुरूत कहते हैं मूत्र-मल आदि शरीर निःसृत अंगभूत तत्त्वों को तथा सचित्त मनुष्यों के पेट में तथा अन्य अवयवों में गिंडोलिए, केंचुए, कृमि, कोष्ठ आदि उत्पन्न होते हैं। —सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २०६

२. खुरुदुगताए—...खुरूड्डगा नाम जीवंताण चेव गोमहिसादीणं चम्मस्स अंतो सम्मुच्छंति। अर्थात्—खुरूदुग या खुरुड्डग उन्हें कहते हैं, जो जीवित गाय-भैंसों की चमड़ी पर सम्मूर्च्छिमरूप से उत्पन्न होते हैं। —सूत्र कृ. चूर्णि, (मू. पा. टि.) पृ. २०६

विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। पंचेन्द्रिय प्राणियों के मलमूत्र, मवाद आदि में भी विकलेन्द्रिय जीव पैदा हो जाते हैं। सचित्त-अचित्त वनस्पतियों में भी घुण, कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ये जीव जहां-जहां उत्पन्न होते हैं, वहां-वहां के पार्श्ववर्त्ती या आश्रयदायी सचित्त या अचित्त प्राणियों के शरीरों से उत्पन्न मल, मूत्र, पसीना, रक्त, जल, मवाद, आदि का ही आहार करते हैं।[1]

अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण—

७३९—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थव-क्कमा नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वातसंसिद्धं वातसंगहितं वा वातपरिगतं उड्ढं वातेसु उड्ढभागी भवइ अहे वातेसु अहेभागी भवइ तिरियं वाएसु तिरियभागी भवइ, तंजहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए। ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावर जोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं।

७३९—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्यान्य प्राणियों के आहारादि का प्रतिपादन किया है। इस जगत् में नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर कर्म से प्रेरित वायुयोनिक जीव अप्काय में आते हैं। वे प्राणी वहाँ अप्काय में आ कर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अप्कायरूप में उत्पन्न होते हैं। वह अप्काय वायु से बना हुआ (संसिद्ध) या वायु से संग्रह किया हुआ अथवा वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है। अतः वह (जल) ऊपर का वायु हो तो ऊपर, नीचे का वायु हो तो नीचे और तिरछा वायु हो तो तिरछा जाता है। उस अप्काय के कुछ नाम ये हैं—ओस, हिम (बर्फ), मिहिका (कोहरा या धुंध), ओला (गड़ा), हरतनु और शुद्ध जल। वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। तथा पूर्वभुक्त त्रस स्थावरीय आहार को पचा कर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनि समुत्पन्न अवश्याय (ओस) से लेकर शुद्धोदकपर्यन्त जलकायिक जीवों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आकार-प्रकार आदि के और भी अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।[1]

७४०—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा तस-थावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तस-थावर जोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७४०—इसके अनन्तर श्रीतीर्थंकरप्रभु ने अप्काय से उत्पन्न होने वाले विविध जलकायिक जीवों का स्वरूप बताया है। इस जगत् में कितने ही प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, जल में ही रहते

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३५७ का सारांश

हैं, और जल में ही बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृतकर्म के प्रभाव से जल में आते हैं और जल में जलरूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन त्रस-स्थावर योनिको जलों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं; तथा उन्हें पचा कर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक उदकों के अनेक वर्णादि वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७४१—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४१—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जलयोनिक जलकाय के स्वरूप का निरूपण किया है। इस जगत् में कितने ही जीव उदकयोनिक उदकों में अपने पूर्वकृत कर्मों के वशीभूत होकर आते हैं। तथा उदकयोनिक उदकजीवों में उदकरूप में जन्म लेते हैं। वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि शरीरों को भी आहार ग्रहण करते हैं और उन्हें अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन उदकयोनिक उदकों के अनेक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श एवं संस्थान वाले और भी शरीर होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है।

७४२—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदगेसु तसपाणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४२—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने पहले उदकयोनिक त्रसकाय के स्वरूप का निरूपण किया था कि इस संसार में अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से उदकयोनिक उदकों में आकर उनमें त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन उदकयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन उदकयोनिक त्रसप्राणियों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, यह तीर्थंकर-प्रभु ने बताया है।

७४३—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं। सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

७४३—इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में अन्य बातों की

भी प्ररूपणा की है। इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में (कृतकर्मवश) नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए कर्मोदयवशात् नाना प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन विभिन्न प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्निकायों के दूसरे और भी शरीर बताये गये हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान आदि के होते हैं। शेष तीन आलापक (बोल) उदक के आलापकों के समान समझ लेने चाहिए।

७४४—अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मणिदाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा चत्तारि गमा।

७४४—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्य (जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में) कुछ बातें बताई हैं। इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नाना प्रकार की योनियों में आकर वहाँ किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी वायुकाय के सम्बन्ध में शेष बातें तथा चार आलापक अग्निकाय के आलापकों के समान कह देने चाहिए।

७४५—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए, इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे।[1]
अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य॥ १॥

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय बादरकाए मणिविहाणा॥ २॥

गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदणीले य॥ ३॥

चंदण गेरुय हंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोधव्वे।
चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य॥ ४॥

एताओ एतेसु भाणियव्वाओ गाहासु (गाहाओ) जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं

१. तुलना करें—'पुढवी य सक्करा...सूरकंतेय। एए खरपुढवीए नामा छत्तीसइं होंति।'
—आचारांग निर्युक्ति गाथा ७३ से ७६ तथा प्रज्ञापना पद १
—उत्तराध्ययन अ. ३६। गा. ७३ से ७६ तक

णाणाविधाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति, पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

७४५—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर भगवान् ने (इस सम्बन्ध में) और भी बातें बताई हैं। इस संसार में कितने ही जीव नानाप्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर उनमें अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस-स्थावरप्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में पृथ्वी, शर्करा (कंकर) या वालू के रूप में उत्पन्न होते हैं। इस विषय में इन गाथाओं के अनुसार इसके भेद जान लेने चाहिए—

पृथ्वी, शर्करा (कंकर) वालू (रेत), पत्थर, शिला (चट्टान), नमक, लोहा, रांगा (कथीर), तांबा, चांदी, शीशा, सोना और वज्र (हीरा), तथा हड़ताल, हींगलू, मनसिल, सासक, अंजन, प्रवाल (मूंगा), अभ्रपटल (अभ्रक), अभ्रवालुका, ये सव पृथ्वीकाय के भेद हैं। गोमेदक रत्न, रुचकतरत्न, अंकरत्न, स्फटिकरत्न, लोहिताक्षरत्न, मरकतरत्न, मसारगल्ल, भुजपरिमोचकरत्न तथा इन्द्रनीलमणि, चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त, एवं सूर्यकान्त, ये मणियों के भेद हैं। इन (उपर्युक्त) गाथाओं में उक्त जो मणि, रत्न आदि कहे गए हैं, उन (पृथ्वी से ले कर सूर्यकान्त तक की योनियों) में वे जीव उत्पन्न होते हैं। (उस समय) वे जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (इसके अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस और स्थावरों से उत्पन्न पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्तमणि-पर्यन्त प्राणियों के दूसरे शरीर भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि की अपेक्षा से वताए गए हैं। शेष तीन आलापक जलकायिक जीव के आलापकों के समान ही समझ लेने चाहिए।[1]

विवेचन—अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण—प्रस्तुत ७ सूत्रों (७३९ से ७४५ तक) में वनस्पतिकाय के अतिरिक्त शेष चार स्थावरजीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

अप्काय के चार आलापक—अप्कायिक जीवों के शास्त्रकार ने चार आलापक बताकर उनकी उत्पत्ति, आहार आदि की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् रूप से बताई है। जैसे कि—

(१) **वायुयोनिक अप्काय**—मेंढक आदि त्रस तथा नमक और हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त-अचित्त नानाविध शरीरों में वायुयोनिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं। इनकी स्थिति, संवृद्धि और प्राथमिक आहारग्रहण का आधार वायुकाय है।

(२) **अप्योनिक अप्काय**—जो पूर्वकृतकर्मानुसार एक अप्काय में ही दूसरे अप्काय के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे अप्योनिक अप्काय कहलाते हैं। जैसे शुद्ध पानी से वर्फ के रूप में अप्काय उत्पन्न होता है। शेष सव प्रक्रिया पूर्ववत् है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५७-३५८ का सारांश

(३) **त्रसस्थावरयोनिक अप्काय**—ये प्राणी त्रस और स्थावरों में उत्पन्न होते हैं। इनकी भी शेष समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(४) **उदकयोनिक उदकों में उत्पन्न त्रसकाय**—उदकयोनिक उदक पानी, वर्फ आदि में कीड़े आदि के रूप में कई जीव उत्पन्न हो जाते हैं। वे उसी प्रकार के होते हैं।

अग्निकाय और वायुकाय की उत्पत्ति के चार-चार आलापक—(१) त्रसस्थावरयोनिक अग्निकाय (२) वायुयोनिक अग्निकाय, (३) अग्नियोनिक अग्निकाय, और (४) अग्नियोनिक अग्नि में उत्पन्न त्रसकाय। इसी प्रकार (१) त्रसस्थावरयोनिक वायुकाय, (२) वायुयोनिक वायुकाय, (३) अग्नियोनिक वायुकाय एवं (४) वायुयोनिक वायुकाय में उत्पन्न त्रसकाय।

त्रसस्थावरों के सचित्त-अचित्त शरीरों से अग्निकाय की उत्पत्ति—हाथी, घोड़ा, भैंस आदि परस्पर लड़ते हैं, तब उनके सींगों में से आग निकलती दिखाई देती है। तथा अचित्त हड्डियों की रगड़ से तथा सचित्त-अचित्त वनस्पतिकाय एवं पत्थर आदि में से अग्नि की लपटें निकलती देखी जाती हैं।

पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के चार आलापक—पृथ्वीकाय के यहाँ मिट्टी से लेकर सूर्यकान्त रत्न तक अनेक प्रकार बताए हैं। पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार आलापक—(१) त्रस-स्थावर-प्राणियों के शरीर में उत्पन्न पृथ्वीकाय (२) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय, (३) वनस्पतियोनिक-पृथ्वीकाय, और (४) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय में उत्पन्न त्रस।

समुच्चयरूप से सब जीवों की आहारादि प्रक्रिया और आहारसंयम-प्रेरणा—

७४६—अहावरं पुरक्खातं—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहवक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनिदाणा कम्मगतिया कम्मठितिया कम्मुणा चेव विप्परियासुवेंति।

७४६—इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में और भी बातें कही हैं। समस्त प्राणी, सर्व भूत, सर्व सत्त्व और सर्व जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं, वहीं वे स्थिति रहते हैं, वहीं वृद्धि पाते हैं। वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही रहते हैं, तथा शरीर में ही बढ़ते हैं, एवं वे शरीर का ही आहार करते हैं। वे अपने-अपने कर्म का ही अनुसरण करते हैं, कर्म ही उस-उस योनि में उनकी उत्पत्ति का प्रधान निमित्त कारण है। उनकी गति और स्थिति भी कर्म के अनुसार होती है। वे कर्म के ही प्रभाव से सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए दुःख के भागी होते हैं।

७४७—सेवमायाणह, सेवमायाणित्ता आहारगुत्ते समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि।

७४७—हे शिष्यो! ऐसा ही जानो, और इस प्रकार जान कर सदा आहारगुप्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्रसहित, समितियुक्त एवं संयमपालन में सदा यत्नशील बनो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—समुच्चयरूप से सर्वजीवों की आहारादि प्रक्रिया एवं आहार-संयम प्रेरणा—प्रस्तुत सूत्र द्वय में अध्ययन का उपसंहार करते हुए समुच्चयरूप से सभी जीवों के आहारादि का निरूपण किया गया है। मुख्यतया उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि, आहार-आदि का मुख्य कारण कर्म है। सभी जीव अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं, ईश्वर, काल आदि की प्रेरणा से नहीं। अतः साधक को आहार के सम्बन्ध में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम एवं आत्माराधना की दृष्टि से विचार करके निर्दोष आहार-सेवन करना उचित है।[1]

।। आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन समाप्त ।।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३५९ का सार

प्रत्याख्यान–क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यानक्रिया' है।

☐ आत्मा किसी देव, भगवान् या गुरु की कृपा से अथवा किसी धर्मतीर्थ को स्वीकार करने मात्र से पापकर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। केवल त्याग-प्रत्याख्यान के विधि-विधानों की बातें करने मात्र से या कोरा आध्यात्मिक ज्ञान बघारने से भी व्यक्ति पाप कर्म से मुक्त नहीं हो सकता। समस्त पापकर्मों के बन्धन को रोकने एवं मुक्त होने का अचूक उपाय है—'प्रत्याख्यानक्रिया।

☐ 'प्रत्याख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का प्रतिषेध (निषेध) या त्याग करना है। परन्तु यह एक पारिभाषिक शब्द होने से अपने गर्भ में निम्नोक्त विशिष्ट अर्थों को लिये हुए है—

(१) त्याग करने का नियम (संकल्प=निश्चय) करना।

(२) परित्याग करने की प्रतिज्ञा करना।

(३) निन्द्यकर्मों से निवृत्ति करना।

(४) अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना।[1]

☐ प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान। किसी द्रव्य का अविधिपूर्वक निरुद्देश्य छोड़ना या किसी द्रव्य के निमित्त प्रत्याख्यान करना द्रव्यप्रत्याख्यान है। आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से मूलगुण-उत्तरगुण में बाधक हिंसादि का मन-वचन-काया से यथाशक्ति त्याग करना भावप्रत्याख्यान है। भावप्रत्याख्यान के दो भेद हैं—अन्तःकरण से शुद्ध साधु या श्रावक का मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

☐ 'प्रत्याख्यान' के साथ 'क्रिया' शब्द जुड़ जाने पर विशिष्ट अर्थ हो जाते हैं—(१) गुरु या गुरुजन से (समाज या परिवार में बड़े) या तीर्थंकर भगवान् की साक्षी से विधिपूर्वक त्याग या नियम स्वीकार करना। अथवा (२) हिंसा आदि निन्द्यकर्मों के त्याग या व्रत, नियम, तप का संकल्प करते समय मन में धारण करना, वचन से 'वोसिरे-वोसिरे' बोलना' और काया से तदनुकूल व्यवहार होना। (३) मूलोत्तरगुणों की साधना में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण,

---

१. (क) पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ५०७ (ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा. १ पृ. १६२

आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा (गुरुसाक्षी से) तथा व्युत्सर्ग करना। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की भावप्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम अप्रत्याख्यानी आत्मा के पाप के द्वार खुले रहने के कारण सतत पापकर्म का बन्ध होना बताया है, और उसे असंयत, अविरत, पापकर्म का प्रतिघात एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, एकान्त बाल, हिंसक आदि बताया है। अन्त में प्रत्याख्यानी आत्मा कौन और कैसे होता है? इस पर प्रकाश डाला गया है।[2]

---

१. (क) सूत्रकृतांग शी. वृत्ति पत्रांक ३६० (ख) सूत्र कृ. निर्युक्ति गा. १७९,१८०
(ग) आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

२. सूत्रकृतांग शी. वृत्ति पत्रांक ३६०

पच्चक्खाणकिरिया : चउत्थं अज्झयणं

प्रत्याख्यान-क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

अप्रत्यख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार—

७४७—सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु पच्चक्खाणकिरिया नामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिए यावि भवति, आया एगंतदंडे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमण-वयस-काय-वक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे से कम्मे कज्जति।

७४७—आयुष्मन् ! उन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था,—मैंने सुना है। इस निर्ग्रन्थप्रवचन में प्रत्याख्यानक्रिया नामक अध्ययन है। उसका यह अर्थ (भाव) (उन्होंने) बताया है कि आत्मा (जीव) अप्रत्याख्यानी (सावद्यकर्मों का त्याग न करने वाला) भी होता है; आत्मा अक्रियाकुशल (शुभक्रिया न करने में निपुण) भी होता है; आत्मा मिथ्यात्व (के उदय) में संस्थित भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से दूसरे प्राणियों को दण्ड देने वाला भी होता है; आत्मा एकान्त (सर्वथा) बाल (अज्ञानी) भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से सुषुप्त भी होता है; आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) पर विचार न करने वाला (अविचारी) भी होता है। और आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत—घात एवं प्रत्याख्यान नहीं करता। इस जीव (आत्मा) को भगवान् ने असंयत (संयमहीन), अविरत (हिंसा आदि से अनिवृत्त), पापकर्म का घात (नाश) और प्रत्याख्यान (त्याग) न किया हुआ, क्रियासहित, संवररहित, प्राणियों को एकान्त (सर्वथा) दण्ड देने वाला, एकान्त बाल, एकान्तसुप्त कहा है। मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) के विचार से रहित वह अज्ञानी, चाहे स्वप्न भी न देखता हो अर्थात् अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान से युक्त हो, तो भी वह पापकर्म करता है।

विवेचन—अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार और उसके स्वरूप का निरूपण किया है।

'जीव' के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग क्यों ? मूलपाठ में 'जीव' शब्द के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करने के पीछे प्रथम आशय यह है कि अप्रत्याख्यानी जीव लगातार एक भव से दूसरे भव में नानाविध गतियों और योनियों में भ्रमण करता रहता है, इस बात को जीव शब्द की अपेक्षा

'आत्मा' शब्द बहुत शीघ्र और अचूक रूप से प्रकट कर सकता है, क्योंकि आत्मा की व्युत्पत्ति है—'जो विभिन्न योनियों-गतियों में सतत गमन करता है।'[1]

दूसरा आशय है—बौद्धदर्शन सम्मत आत्मासम्बन्धी मान्यता का निराकरण करना, क्योंकि बौद्धदर्शन में आत्मा क्षणिक (स्थितिहीन) होने से उसका प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं हो सकता।

तीसरा आशय है—सांख्यदर्शन में मान्य आत्मा सम्बन्धी मन्तव्य का खण्डन। सांख्य-दर्शनानुसार आत्मा उत्पत्ति-विनाश से रहित, स्थिर (कूटस्थ) एवं एकस्वभाव वाला है। ऐसा कूटस्थ स्थिर आत्मा न तो अनेक योनियों में गमन कर सकता है, न ही किसी प्रकार का प्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार—(१) प्रत्याख्यान से सर्वथा रहित, (२) शुभक्रिया करने में अकुशल, (३) मिथ्यात्व से ग्रस्त, (४) एकान्त प्राणिदण्ड (घात) देने वाला, (५) एकान्त बाल, (६) एकान्त सुप्त, (७) मन, वचन, शरीर और वाक्य (किसी विशेष अर्थ का प्रतिपादक पदसमूह) का प्रयोग करने में विचारशून्य एवं (८) पापकर्म के विघात एवं प्रत्याख्यान (त्याग) से रहित आत्मा अप्रत्याख्यानी है।

अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप—वह असंयमी, हिंसादि से अविरत, पापकर्म का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, अहर्निशदुष्क्रियारत, संवररहित, एकान्त हिंसक (दण्डदाता), एकान्तबाल एवं एकान्तसुप्त (सुषुप्तचेतनावाला) होता है। ऐसा बालकवत् हिताहितभावरहित एकान्त प्रमादी जीव मन, वचन, काया और वाक्य की किसी प्रवृत्ति में प्रयुक्त करते समय जरा भी विचार नहीं करता कि मेरी इस प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की क्या दशा होगी? ऐसा जीव चाहे स्वप्न न भी देखे, यानी उनका विज्ञान (चैतन्य) इतना अव्यक्त- गाढ़ सुषुप्त हो, तो भी वह पापकर्म करता रहता है—अर्थात् उसके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

पारिभाषिक शब्दों के भावार्थ—**असंयत**—वर्तमान में सावद्यकृत्यों में निरंकुश प्रवृत्त, **अविरत**—जो अतीत और अनागतकालीन हिंसादि पापों से निवृत्त हो, **अप्रतिहतपापकर्मा**—पूर्वकृत पापकर्मों की स्थिति और अनुभाग को वर्तमान में तप आदि द्वारा कम करके जो उन्हें नष्ट नहीं कर पाता। **अप्रत्याख्यात पापकर्मा**—भावी पापकर्मों का प्रत्याख्यान न करने वाला, **सक्रिय**—सावद्यक्रियाओं से युक्त, **असंवृत**—जो आते हुए कर्मों के निरोधरूप व्यापार से रहित हो। **सुप्त**—भावनिद्रा में सोया हुआ, हिताहित प्राप्ति परिहार के भाव से रहित। **प्रत्याख्यान**—पूर्वकृत दोषों (अतिचारों) की निन्दा (पश्चात्ताप) एवं गर्हा करके भविष्य में उक्तपाप को न करने का संकल्प करना।

किसी समय प्रत्याख्यानी भी—अनादिकाल से जीवमिथ्यात्वादि के संयोग के कारण अप्रत्याख्यानी अवस्था में रहता चला आ रहा है, किन्तु कदाचित् शुभकर्मों के निमित्त से प्रत्याख्यानी भी होता है, इसे प्रकट करने के लिए मूल पाठ में 'अवि' (अपि) शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

---

१. 'अतति सततं (विभिन्न गतिषु योनिषु च) गच्छतीति आत्मा'।

२. (क) सूत्रकृतांगसूत्र शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६१

(ख) आवश्यकसूत्र चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

प्रत्याख्यानक्रियारहित सदैव पापकर्मबन्धकर्ता : क्यों और कैसे ?

७४८—तत्थ चोदए पण्णवगं एवं वदासि—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे नो कज्जति।

कस्स णं तं हेउं ? चोदग एवं ब्रवीति—अण्णयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरीए वतीए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ। हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुणं-जातीयस्स पावे कम्मे कज्जति।

पुणरवि चोदग एवं ब्रवीति—तत्थ णं जे ते एवमाहंसु 'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति', जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु।

७४८—इस विषय में प्रेरक (प्रश्नकर्ता) ने प्ररूपक (उदेशक) से इस प्रकार कहा—पापयुक्त मन न होने पर, पापयुक्त वचन न होने पर, तथा पापयुक्त काया न होने पर जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता, जो अमनस्क है, जिसका मन, वचन, शरीर और वाक्य हिंसादि पापकर्म के विचार से रहित है, जो पापकर्म करने का स्वप्न भी नहीं देखता—अर्थात् जो अव्यक्तविज्ञान (चेतना) युक्त है, ऐसे जीव के पापकर्म का बन्ध नहीं होता। किस कारण से उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता ? प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता स्वयं) इस प्रकार कहता है—किसी का मन पापयुक्त होने पर ही मानसिक (मन-सम्बन्धी) पापकर्म किया जाता है, तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वाचिक (वचन द्वारा) पापकर्म किया जाता है, एवं पापयुक्त शरीर होने पर ही कायिक (काया द्वारा) पापकर्म किया जाता है। जो प्राणी हिंसा करता है, हिंसायुक्त मनोव्यापार से युक्त है, जो जान-बूझ कर (विचारपूर्वक) मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता है, जो स्पष्ट (व्यक्त) विज्ञानयुक्त (वैसा स्वप्नद्रष्टा) भी है। इस प्रकार के गुणों (विशेषताओं) से युक्त जीव पापकर्म करता (बांधता) है।

पुनः प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता) इस प्रकार कहता है—'इस विषय में जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन पापयुक्त न हो, वचन भी पापयुक्त न हो, तथा शरीर भी पापयुक्त न हो, किसी प्राणी का घात न करता हो, अमनस्क हो, मन, वचन, काया और वाक्य के द्वारा भी (पाप) विचार से रहित हो, स्वप्न में भी (पाप) न देखता हो, यानी अव्यक्तविज्ञान वाला हो, तो भी (वह) पापकर्म करता है।" जो इस प्रकार कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं।"

७४९—तत्थ पण्णवगे चोदगं एवं वदासी—जं मए पुव्वुत्तं 'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति' तं सम्मं। कस्स णं तं हेउं ? आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया। इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तंजहा—पाणाइवाए

जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता वहए दिट्ठंते पण्णत्त, से जहानामए वहए सिया गाहावतिस्स वा गाहावतिपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे, से किं नु हु नाम से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे[1] दिया वा राम्रो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविम्रोवातचित्तदंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति।

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामीति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे एवामेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सत्ताणं पिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविम्रोवातचित्तदंडे, तं० पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए अस्संजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवति, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जति। जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा राम्रो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविम्रोवातचित्तदंडे भवति, एवामेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते जाव चित्तदंडे भवइ।

७४९—इस सम्बन्ध में प्रज्ञापक (उत्तरदाता) ने प्रेरक (प्रश्नकार) से इस प्रकार कहा—जो मैंने पहले कहा था कि मन पाप युक्त न हो, वचन भी पापयुक्त न हो, तथा काया भी पापयुक्त न हो, वह किसी प्राणी की हिंसा भी न करता हो, मनोविकल हो, चाहे वह मन, वचन, काया और वाक्य का समझ-बूझकर (विचारपूर्वक) प्रयोग न करता हो, और वैसा (पापकारी) स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात् अव्यक्त विज्ञान (चेतना) वाला हो, ऐसा जीव भी पापकर्म करता (बांधता) है, वही सत्य है। ऐसे कथन के पीछे कारण क्या है ? आचार्य (प्रज्ञापक) ने कहा—इस विषय में श्री तीर्थंकर भगवान् ने षट्जीवनिकाय कर्मबन्ध के हेतु के रूप में वताए हैं। वे षड्जीवनिकाय पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त हैं। इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिस आत्मा ने (तपश्चर्या आदि करके) नष्ट (प्रतिहत) नहीं किया, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोका नहीं, बल्कि सदैव निष्ठुरतापूर्वक प्राणियों की घात में चित्त लगाए रखता है, और उन्हें दण्ड देता हैं तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापस्थानों से निवृत्त नहीं होता है, (वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, अवश्यमेव पापकर्म का बन्ध करता है, यह सत्य है।)

(इस सम्बन्ध में) आचार्य (प्ररूपक) पुन: कहते हैं—इसके विषय में भगवान् महावीर ने वधक (हत्यारे) का दृष्टान्त बताया है—कल्पना कीजिए—कोई हत्यारा हो, वह गृहपति की अथवा

१. नागार्जुनीय सम्मत पाठ—'अप्पणो अक्खणयाए तस्स वा पुरिसस्स छिद्दं अलभमाणे णो वहेइ,....मे से पुरिसे अवसं वहेयव्वे भविस्सइ एवं मणो पहारेमाणे....' चूर्णि०—सूत्रकृ. वृत्ति पत्रांक ३६४

गृहपति के पुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है। (वह इसी ताक में रहता है कि) अवसर पाकर मैं घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही (उस पर) प्रहार करके हत्या कर दूंगा। "उस गृहपति की, या गृहपतिपुत्र की, अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करने हेतु अवसर पाकर घर में प्रवेश करूंगा, और अवसर पाते ही प्रहार करके हत्या कर दूंगा;" इस प्रकार (सतत संकल्प-विकल्प करने और मन में निश्चय करने वाला) वह हत्यारा दिन को या रात को, सोते या जागते प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहता है, जो उन सबका अमित्र-(शत्रु) भूत है, उन सबसे मिथ्या (प्रतिकूल) व्यवहार करने में जुटा हुआ (संस्थित) है, जो चित्त रूपी दण्ड में सदैव विविध प्रकार से निष्ठुरतापूर्वक घात का दुष्ट विचार रखता है, क्या ऐसा व्यक्ति उन पूर्वोक्त व्यक्तियों) का हत्यारा कहा जा सकता है, या नहीं ?

आचार्यश्री के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) समभाव (माध्यस्थ्य-भाव) के साथ कहता है—"हाँ, पूज्यवर ! ऐसा (पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट) पुरुष हत्यारा (हिंसक) ही है।"

आचार्य ने (पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करने हेतु) कहा—जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र को अथवा राजा या राजपुरुष को मारना चाहने वाला वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं अवसर पा कर इसके मकान (या नगर) में प्रवेश करूंगा और मौका (या छिद्र अथवा सुराग) मिलते ही इस पर प्रहार करके वध कर दूंगा; ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाये रहता है, सदा उनका शत्रु (अमित्र) बना रहता है, मिथ्या (गलत) कुकृत्य करने पर तुला हुआ है, विभिन्न प्रकार से उनके घात (दण्ड) के लिए नित्य शठतापूर्वक दुष्टचित्त में लहरें चलती रहती है, (वह चाहे घात न कर सके, परन्तु है वह घातक ही।) इसी तरह (अप्रत्याख्यानी) बाल (अज्ञानी) जीव भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी (अमित्र) बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवों को नित्य निरन्तर शठतापूर्वक हनन करने (दण्ड देने) की बात चित्त में जमाए रखता है, क्योंकि वह (अप्रत्याख्यानी बाल जीव) प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में ओतप्रोत रहता है। इसीलिए भगवान् ने ऐसे जीव के लिए कहा है कि वह असंयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, पापक्रिया से युक्त, संवररहित, एकान्तरूप से प्राणियों को दण्ड देने (हनन करने) वाला, सर्वथा बाल (अज्ञानी) एवं सर्वथा सुप्त भी होता है। वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का विचारपूर्वक (पापकर्म में) प्रयोग न करता हो, भले ही वह (पापकर्म करने का) स्वप्न भी न देखता हो, यानी उसकी चेतना (ज्ञान) बिलकुल अस्पष्ट ही क्यों न हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म का बन्ध करता रहता है। जैसे वध का विचार करने वाला घातक पुरुष उस गृहपति या गृहपतिपुत्र की अथवा राजा या राजपुरुष की प्रत्येक की अलग-अलग हत्या करने का दुर्विचार चित्त में लिये हुए अहर्निश, सोते या जागते उसी धुन में रहता है, वह उनका (प्रत्येक का) शत्रु-सा बना रहता है, उसके दिमाग में धोखे देने के दुष्ट (मिथ्या) विचार घर किये रहते हैं, वह सदैव उनकी हत्या करने की धुन में रहता है, शठतापूर्वक प्राणि-दण्ड के दुष्ट विचार ही चित्त में किया करता है, इसी तरह (अप्रत्याख्यानी भी) समस्त प्राणों, भूतों-जीवों और सत्त्वों के, प्रत्येक के प्रति चित्त में निरन्तर हिंसा के भाव रखने वाला और प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ ही पापस्थानों से अविरत, अज्ञानी जीव दिन-रात, सोते या जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु-सा

वना रहता है, उन्हें धोखे से मारने का दुष्ट विचार करता है, एवं नित्य उन जीवों के शठतापूर्वक (दण्ड) घात की वात चित्त में घोटता रहता है।

स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नहीं करते, तव तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नहीं होते, इसलिए उनके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

विवेचन—प्रत्याख्यान क्रियारहितः सदैव पापकर्मबन्धकर्ता, क्यों और कैसे ? प्रस्तुत दो सूत्रों में प्रेरक द्वारा अप्रत्याख्यानी के द्वारा सतत पापकर्मबन्ध के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का प्ररूपक द्वारा सदृष्टान्त समाधान किया गया है। संक्षेप में प्रश्न और उत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न—जिस प्राणी के मन-वचन-काया पापयुक्त हों, जो समनस्क हो, जो हिंसा-युक्त मनो-व्यापार से युक्त हो, हिंसा करता हो, जो विचारपूर्वक, मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता हो, जो व्यक्तचेतनाशील हो, वैसा प्राणी ही पापकर्म का वन्ध करता है, मगर इसके विपरीत जो प्राणी अमनस्क हो एवं जिसके मन-वचन-काया पापयुक्त न हों, जो विचारपूर्वक इनका प्रयोग न करता हो, अव्यक्त चेतनाशील हो वह भी पापकर्मबन्ध करता है, ऐसा कहना कैसे उचित हो सकता है ?

उत्तर—सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्वोक्त मन्तव्य ही सत्य है, क्योंकि षड्जीवनिकाय की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिसने तप आदि द्वारा नष्ट नहीं किया, न भावी पाप को प्रत्याख्यान द्वारा रोका, वह जीव चाहे कैसी भी अवस्था में हो, चाहे उसके मन, वचन, काया पापयुक्त न हों वह अमनस्क हो, अविचारी हो, अस्पष्ट चेतनाशील हो तो भी अप्रत्याख्यानी होने के कारण उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

जैसे कोई हत्यारा किसी व्यक्ति का वध करना चाहता है, सोते-जागते, दिन-रात इसी फिराक में रहता है कि कब मौका मिले और कब मैं उसे मारूं। ऐसा शत्रु के समान प्रतिकूल व्यवहार करने को उद्यत हत्यारा चाहे अवसर न मिलने से उस व्यक्ति की हत्या न कर सके, परन्तु कहलाएगा वह हत्यारा ही। उसका हिंसा का पाप लगता रहता है। इसी प्रकार एकान्त अप्रत्याख्यानी जीव द्वारा भी किसी जीव को न मारने का, या पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया होने से, भले ही अमनस्क हो, मन-वचन-काया का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, सुषुप्त चेतनाशील हो, तव भी उसके अठारह ही पापस्थान तथा समस्त जीवों की हिंसा खुली होने से, उसके पापकर्म का वन्ध होता रहता है। प्रत्याख्यान न करने के कारण वह सर्वथा असंयत, अविरत, पापों का तप आदि से नाश एवं प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला, संवररहित, एकान्त प्राणिहिंसक, एकान्त वाल एवं सर्वथा सुप्त होता है।[1]

फलितार्थ—जिन प्राणियों का मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से आवृत होता है, उनका अन्य समस्त प्राणियों के प्रति दूषित भाव रहता है। इन दूषित भावों से जव तक विरति नहीं होती, तब तक वे प्रत्याख्यान क्रिया नहीं कर पाते, और प्रत्याख्यानक्रिया के अभाव में, वे सभी (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के) प्राणियों का द्रव्य से चाहे (अवसर न मिलने के कारण या अन्य कारणों से) घात न कर पाते हों, किन्तु भाव से तो घातक ही हैं, अघातक नहीं, वे भाव से उन प्राणियों के वैरी हैं।[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६३-३६४ का सारांश

२. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३६४ के अनुसार

संज्ञी-असंज्ञी अप्रत्याख्यानी : सदैव पापकर्मरत

७५०—णो इणट्ठे समट्ठे—चोदगो। इह खलु बहवे पाणा जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा नो सुया वा नाभिमता वा विण्णाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तं०—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले।

७५०—प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता) ने (इस सम्बन्ध में) एक प्रतिप्रश्न उठाया—(आपकी) पूर्वोक्त बात मान्य नहीं हो सकती। इस जगत् में बहुत-से ऐसे प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हैं, (जो इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि हम जैसे अर्वाग्दर्शी पुरुषों ने) उनके शरीर के प्रमाण को न कभी देखा है, न ही सुना है, वे प्राणी न तो अपने अभिमत (इष्ट) हैं, और न वे ज्ञात हैं। इस कारण ऐसे समस्त प्राणियों में से प्रत्येक प्राणी के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन-रात, सोते या जागते उनका अमित्र (शत्रु बना रहना, तथा उनके साथ मिथ्या व्यवहार करने में संलग्न रहना, एवं सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना, सम्भव नहीं है, इसी तरह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों (पापस्थानों) में ऐसे प्राणियों का लिप्त रहना भी सम्भव नहीं है।

७५१—आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं जहा—सन्निदिट्ठंते य असण्णिदिट्ठंते य।

[१] से किं तं सण्णिदिट्ठंते? सण्णिदिट्ठंते जे इमें सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं०—पुढविकायं जाव तसकायं, से एगतिओ पुढविकाएण किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति इमेण वा इमेण वा, से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करेइ वा कारवेइ वा, से य ताओ पुढविकायातो असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकायातो त्ति भाणियव्वं, से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति—एवं खलु छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति—इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेति वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय अविरय-अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो पावे य कम्मे से कज्जति।

से त्तं सण्णिदिट्ठंतेणं।

(२) से किं तं असण्णिदिट्ठंते? असण्णिदिट्ठंते जे इमे असण्णिणो पाणा, तं०—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का ति वा सण्णा ति वा पण्णा इ वा मणो ति वा वई ति वा सयं वा करणाए अण्णेहिं वा कारवेत्तए करेंतं वा समणुजाणित्तए ते वि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिता निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, इच्चेवं जाण,

णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणताए जूरणताए तिप्पणताए पिट्टणताए परितप्पणताए ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति। इति खलु ते असण्णिणो वि संता अहोनिसं पाणातिवाते उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति।

७५१—आचार्य ने (पूर्वोक्त प्रतिप्रश्न का समाधान करते हुए) कहा—इस विषय में भगवान महावीर स्वामी ने दो दृष्टान्त कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—एक संज्ञिदृष्टान्त और दूसरा असंज्ञिदृष्टान्त।

[१] (प्रश्न—) यह संज्ञी का दृष्टान्त क्या है?

(उत्तर—) संज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—जो ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमें पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवों में से यदि कोई पुरुष पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता है, कराता है, तो उसके मन में ऐसा विचार होता है कि मैं पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूँ और कराता भी हूँ (या अनुमोदन करता हूँ), उसे उस समय ऐसा विचार नहीं होता (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी (काय) से ही कार्य करता है, कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वी से नहीं। (उसके सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि) वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और कराता है। इसलिए वह व्यक्ति पृथ्वीकाय का असंयमी, उससे अविरत, तथा उसकी हिंसा का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। इसी प्रकार त्रसकाय तक के जीवों के विषय में कहना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति छहकाया के जीवों से कार्य करता है, कराता भी है, तो वह यही विचार करता (या कहता) है कि मैं छह काया के जीवों से कार्य करता हूँ, कराता भी हूँ। उस व्यक्ति को ऐसा विचार नहीं होता, (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जाता) कि वह इन या इन (अमुक-अमुक) जीवों से ही कार्य करता और कराता है, (सबसे नहीं); क्योंकि वह सामान्यरूप से उन छहों जीवनिकायों से कार्य करता है और कराता भी है। इस कारण (यही कहा जाता है कि) वह प्राणी उन छहों जीवनिकायों के जीवों की हिंसा से असंयत, अविरत है, और उनकी हिंसा आदि से जनित पापकर्मों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। इस कारण वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के सभी पापों का सेवन करता है। तीर्थंकर भगवान् ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश तथा प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला कहा है। चाहे वह प्राणी स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात्—अव्यक्तचेतनाशील हो, तो भी वह पापकर्म (का बन्ध) करता है।

यह है, संज्ञी का दृष्टान्त!

[२] (प्रश्न—) 'वह असंज्ञिदृष्टान्त क्या है?'

(उत्तर—) असंज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—'पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों तक पाँच स्थावर एवं छठे जो त्रससंज्ञक अमनस्क जीव हैं, वे असंज्ञी हैं, जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न मन (मनन करने का साधन) है, न वाणी है, और जो न तो स्वयं कर सकते हैं और न ही दूसरे से करा सकते हैं, और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं;

तथापि वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के दिन-रात सोते या जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हें धोखा देने में तत्पर रहते हैं, उनके प्रति सदैव हिंसात्मक (भावमनोरूप—) चित्तवृत्ति रखते हैं, इसी कारण वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में सदा लिप्त रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि असंज्ञी जीवों के मन (द्रव्यमन) नहीं होता, और न ही वाणी होती है, तथापि वे (अप्रत्याख्यानी होने से) समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप कराने, रुलाने, पीड़ा देने, वध करने, तथा परिताप देने अथवा उन्हें एक ही साथ (सामूहिकरूप से) दुःख, शोक, विलाप, रुदन, पीड़न, संताप वध-बन्धन, परिक्लेश आदि करने से विरत नहीं होते, अपितु पापकर्म में सदा रत रहते हैं। इस प्रकार वे प्राणी असंज्ञी होते हुए भी अहर्निश प्राणातिपात में प्रवृत्त कहे जाते हैं, तथा मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह तक में तथा मिथ्यादर्शनशल्य तक के समस्त पापस्थानों में प्रवृत्त कहे जाते हैं।

७५२—सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सण्णिणो होच्चा असण्णियो होंति, असण्णिणो होच्चा सण्णिणो होंति, होज्ज सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अविविंचिया अविधूणिया असमुच्छिया अणणुताविया सण्णिकायाओ सण्णिकायं संकमंति १, सण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति २, असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति ३, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति ४।

जे एते सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवता अक्खाते असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के, सुविणमवि अपासओ पावे य से कम्मे कज्जति।

७५२—सभी योनियों के प्राणी निश्चितरूप से संज्ञी होकर असंज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं, तथा असंज्ञी होकर संज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं। वे संज्ञी या असंज्ञी होकर यहाँ पापकर्मों को अपने से अलग (पृथक्) न करके, तथा उन्हें न झाड़कर (तप आदि से उनकी निर्जरा न करके), (प्रायश्चित्त आदि से) उनका उच्छेद न करके तथा (आलोचना-निन्दना-गर्हणा आदि से) उनके लिए पश्चात्ताप न करके वे संज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में आते (जन्म लेते) हैं, अथवा संज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में संक्रमण करते (आते) हैं, अथवा असंज्ञीकाय से संज्ञीकाय में संक्रमण करते हैं अथवा असंज्ञी की काया से असंज्ञी की काया में आते (संक्रमण करते) हैं।

जो ये संज्ञी अथवा असंज्ञी प्राणी होते हैं, वे सब मिथ्याचारी और सदैव शठतापूर्ण हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं। अतएव वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पाप-स्थानों का सेवन करने वाले हैं। इसी कारण से ही भगवान् महावीर ने इन्हें असंयत, अविरत, पापों का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान न करने वाले, अशुभक्रियायुक्त, संवररहित, एकान्त हिंसक (प्राणियों को दण्ड देने वाले), एकान्त बाल (अज्ञानी) और एकान्त (भावनिद्रा में) सुप्त कहा है। वह अज्ञानी (अप्रत्याख्यानी) जीव भले ही मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, तथा (हिंसा का) स्वप्न भी न देखता हो,—(अव्यक्तविज्ञानयुक्त हो) फिर भी पापकर्म (का बन्ध) करता रहता है।

विवेचन—असंज्ञी-संज्ञी दोनों प्रकार अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव पापरत—प्रस्तुत तीन सूत्रों में शास्त्रकार ने प्रत्याख्यानरहित सभी प्रकार के प्राणियों को सदैव पापकर्मबन्ध होते रहने का सिद्धान्त दृष्टान्तपूर्वक यथार्थ सिद्ध किया है। इस त्रिसूत्री में से प्रथम सूत्र में प्रश्न उठाया गया है, जिसका दो सूत्रों द्वारा समाधान किया गया है।

प्रेरक द्वारा नये पहलू से उठाया गया प्रश्न—सभी अप्रत्याख्यानी जीव सभी प्राणियों के शत्रु हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं जँचता; क्योंकि संसार में ऐसे बहुत-से प्राणी हैं, जो देश, काल एवं स्वभाव से अत्यन्त दूर, अतिसूक्ष्म एवं सर्वथा अपरिचित हैं, न तो वे आंखों से देखने में आते हैं, न ही कानों से उनके नाम सुनने में आते हैं, न वे इष्ट होते हैं न ज्ञात होते है।' अतः उनके साथ कोई सम्बन्ध या व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसे बनी रह सकती है? इस दृष्टि से अप्रत्याख्यानी जीव समस्त प्राणियों का घातक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों के विषय में सर्वथा अज्ञात हैं, वे उन पापों से कैसे लिप्त हो सकते हैं?

यथार्थ समाधान—दो दृष्टान्तों द्वारा—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं, वह वध्य प्राणी भले ही देश-काल से दूर, सूक्ष्म, अज्ञात एवं अपरिचित हो; तो भी, अप्रत्याख्यानी प्राणी उसका घातक ही कहा जायगा। उसकी चित्त वृत्ति उनके प्रति हिंसक ही है। इसी प्रकार जो हिंसादि पापों से विरत नहीं, वह चाहे उन पापों से अज्ञात हो, फिर भी अविरत कहलाएगा, इसलिए उसके उन सब पापकर्मों का बन्ध होता रहेगा। ग्रामघातक व्यक्ति ग्राम से दूर चले गये प्राणियों का भले ही घात न कर पाए, किन्तु है वह उनका घातक ही, क्योंकि उसकी इच्छा समग्र ग्राम के घात की है। अतः अप्रत्याख्यानी प्राणी ज्ञात-अज्ञात सभी प्राणियों का हिंसक है, समस्त पापों में लिप्त है, भले ही वह १८ पापस्थानों में से एक पाप करता हो।

प्रथम दृष्टान्त—एक संज्ञी प्राणी है, उसने पृथ्वीकाय से अपना कार्य करना निश्चित किया है। शेष सब कार्यों के आरम्भ का त्याग कर दिया है। यद्यपि वह पृथ्वीकाय में भी देश-काल से दूरवर्ती समग्र पृथ्वीकाय का आरम्भ नहीं करता, एक देशवर्ती अमुक पृथ्वी विशेष का ही आरम्भ करता है, किन्तु उसके पृथ्वीकाय के आरम्भ या घात का प्रत्याख्यान न होने से समग्र पृथ्वीकाय की हिंसा (आरम्भ) का पाप लगता है, वह अमुक दूरवर्ती पृथ्वीकाय का अनारम्भक या अघातक नहीं, आरम्भक एवं घातक ही कहा जाएगा। इसी प्रकार जिस संज्ञी जीव ने छहों काया के प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह अमुक काय के जीव की या देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों की हिंसा न करता हुआ भी प्रत्याख्यान न होने से षट्कायिक जीवों का हिंसक या घातक ही है। इसी प्रकार १८ पापस्थानों का प्रत्याख्यान न करने पर उसे १८ ही पापस्थानों का कर्त्ता माना जाएगा, भले ही वह उन पापों को मन, वचन, काया व वाक्य से समझबूझ कर न करता हो।

दूसरा दृष्टान्त—असंज्ञी प्राणियों का है—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक तथा कोई कोई त्रसकाय (द्वीन्द्रिय आदि) तक के जीव असंज्ञी भी होते हैं, वे सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट चेतना, या द्रव्य मन से रहित होते हैं। ये सुप्त प्रमत्त या मूर्च्छित के समान होते हैं। इनमें तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, वस्तु की आलोचना करके पहचान करने, मनन करने, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने तथा शरीर से स्वयं करने, कराने या अनुमोदन करने की शक्ति नहीं होती, इनमें मन, वचन, काय का विशिष्ट

व्यापार नहीं होता। फिर भी ये असंज्ञी प्राणी प्राणिहिंसा एवं अठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान न होने से दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं, दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी हिंसात्मक दुष्ट आशय इनमें रहता है, ये प्राणियों को दुःख, शोक, संताप एवं पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं कहे जा सकते। पाप से विरत न होने से ये सतत अठारह ही पापस्थानों में लिप्त या प्रवृत्त कहे जाते हैं।

निष्कर्ष—यह है कि प्राणी चाहे संज्ञी यो या असंज्ञी, जो प्रत्याख्यानी नहीं है, वह चाहे जैसी अवस्था में हो, वध्य प्राणी चाहे देश-काल से दूर हो, चाहे वह (वधक) प्राणी स्वयं किसी भी स्थिति में मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी की घात न कर सकता हो, स्वप्न में भी घात की कल्पना न आती हो, सुषुप्त चेतनाशील हो या मूर्च्छित हो, तो भी सब प्राणियों के प्रति दुष्ट आशय होने से तथा अठारह पापस्थानों से निवृत्त न होने से उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।[1]

संज्ञी-असंज्ञी का संक्रमण : एक सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण—शास्त्रकार ने सूत्र ७५२ में इस मान्यता का खण्डन किया है कि संज्ञी मर कर संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी असंज्ञी ही। जीवों की गति या योनि कर्माधीन होती है। अतः कर्मों की विचित्रता के कारण—(१) संज्ञी से असंज्ञी भी हो जाता है, (२) असंज्ञी से भी संज्ञी हो जाता है (३) कभी संज्ञी मर कर संज्ञी बन जाता है, (४) और कभी असंज्ञी मर कर पुनः असंज्ञी हो जाता है। इस दृष्टि से देवता सदा देवता ही बने रहेंगे, नारकी सदा नारकी है, यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।[2]

संयत, विरत पापकर्म प्रत्याख्यानी कौन और कैसे ?

७५३—चोदकः—से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवति ?।

आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकायाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया, से जहानामए मम अस्सातं डंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा जाव उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते समेच्च लोगं खेत्तण्णेहिं पवेदिते। एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो। से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, नो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणित्तं पि आइते। से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे।

एस खलु भगवता अक्खाते संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिते यावि भवति त्ति बेमि।

॥ पच्चक्खाणकिरिया चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३६६ से ३६८ का सारांश

२. वही, पत्रांक ३६९ का सारांश

७५३—(प्रेरक ने पुनः अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—) मनुष्य क्या करता हुआ, क्या कराता हुआ तथा कैसे संयत, विरत, तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ?

आचार्य ने (समाधान करते हुए) कहा—इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने षड् जीवनिकायों को (संयम अनुष्ठान का) कारण बताया है। वे छह प्राणिसमूह इस प्रकार हैं—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव। जैसे कि किसी व्यक्ति द्वारा डंडे से, हड्डियों से, मुक्कों से. ढेले से या ठीकरे से मैं ताड़न किया जाऊं या पीड़ित (परेशान) किया जाऊं, यहाँ तक कि मेरा केवल एक रोम उखाड़ा जाए तो मैं हिंसाजनित दुःख, भय और असाता का अनुभव करता हूँ, इसी तरह जानना चाहिए कि समस्त प्राणी यावत् सभी सत्त्व डंडे आदि से लेकर ठीकरे तक से मारे जाने पर एवं पीड़ित किये जाने पर, यहाँ तक कि एक रोम भी उखाड़े जाने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं। ऐसा जानकर समस्त प्राणियों यावत् सभी सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, यहाँ तक कि उन्हें पीड़ित (उपद्रवित) नहीं करना चाहिए। यह (अहिंसा) धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, तथा लोक के स्वभाव को सम्यक् जानकर खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ तीर्थंकरदेवों द्वारा प्रतिपादित है। यह जान कर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है। वह साधु दाँत साफ करने वाले काष्ठ आदि से दांत साफ न करे; तथा नेत्रों में अंजन (काजल) न लगाए, न दवा लेकर वमन करे, और न ही धूप के द्वारा अपने वस्त्रों या केशों को सुवासित करे। वह साधु सावद्य-क्रियारहित, हिंसारहित, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित, उपशान्त एवं पाप से निवृत्त होकर रहे।

ऐसे त्यागी प्रत्याख्यानी साधु को तीर्थंकर भगवान् ने संयत, विरत, (हिंसादि पापों से निवृत्त पापकर्मों का प्रतिघातक, एवं प्रत्याख्यानकर्ता, अक्रिय (सावद्य क्रिया से रहित), संवृत (संवरयुक्त) और एकान्त (सर्वथा) पण्डित (होता है, यह) कहा है।

(सुधर्मास्वामी बोले-) (जो भगवान् ने कहा है) 'वही मैं कहता हूं।'

विवेचन—संयत, विरत एवं पापकर्मप्रत्याख्यानी कौन और कैसे ? प्रस्तुत सूत्र में प्रेरक के द्वारा सुप्रत्याख्यानी के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का आचार्यश्री द्वारा दिया गया समुचित समाधान अंकित है।

प्रश्न—कौन व्यक्ति, किस उपाय से, क्या करके संयत, विरत, तथा पापकर्मनाशक एवं प्रत्याख्यानी होता है ?

समाधान के पांच मुद्दे—(१) समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य जानकर उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, न कराए, और न ही उसका अनुमोदन करे (२) प्राणातिपात से मिथ्या-दर्शन शल्य तक के अठारह पापों से विरत हो, (३) दन्तमंजन, अंजन, वमन, धूपन आदि अनाचारों का सेवन न करे। (४) वह साधक सावद्यक्रियारहित, अहिंसक, क्रोधादिरहित, उपशांत और पापपरि-निवृत्त होकर रहे। (५) ऐसा साधु ही संयत, विरत, पापकर्मनाशक, पाप का प्रत्याख्यानी, सावद्य-क्रियारहित, संवरयुक्त एवं एकान्त पण्डित होता है, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।[1]

।। प्रत्याख्यान क्रिया : चतुर्थ अध्ययन समाप्त।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३७० का सारांश

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के पंचम अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' है।

☐ किन्हीं आचार्यों के मतानुसार इस अध्ययन का नाम 'अनगारश्रुत' भी है।[1]

☐ जब तक साधक समग्र अनाचारों (अनाचरणीय बातों) का त्याग करके शास्त्रोक्त ज्ञानाचारादि पंचविध आचारों में स्थिर हो कर उनका पालन नहीं करता, तब तक वह रत्नत्रयरूप मोक्ष-मार्ग का सम्यक् आराधक नहीं हो सकता। जो बहुश्रुत, गीतार्थ, जिनोपदिष्ट सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञाता नहीं है, वह अनाचार और आचार का विवेक नहीं कर सकता, फलतः आचार विराधना कर सकता है। आचारश्रुत का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। किन्तु उक्त आचार का सम्यक् परिपालन हो सके, इसके लिए अनाचार का निषेधात्मक रूप से वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। इसी हेतु से इस अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' रखा गया है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में दृष्टि, श्रद्धा, प्ररूपणा, मान्यता, वाणी-प्रयोग, समझ आदि से सम्बन्धित अनाचारों का निषेधात्मक निर्देश करते हुए इनसे सम्बन्धित आचारों का भी वर्णन किया गया है।

☐ सर्वप्रथम लोक-अलोक, जीव की कर्मविच्छेदता, कर्मबद्धता, विसदृशता, आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि से कर्मलिप्तता, पंचशरीर सदृशता आदि के सम्बन्ध में एकान्त मान्यता या प्ररूपणा को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है, तत्पश्चात् जीव-अजीव, पुण्य-पापादि की नास्तित्व प्ररूपणा या श्रद्धा को अनाचार बताकर आचार के सन्दर्भ में इनके अस्तित्व की श्रद्धा-प्ररूपणा करने का निर्देश किया गया है। अन्त में साधु के द्वारा एकान्तवाद प्रयोग, मिथ्या-धारणा आदि को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है।[3]

☐ इस अध्ययन का उद्देश्य है—साधु आचार-अनाचार का सम्यग्ज्ञाता होकर अनाचार के त्याग और आचार के पालन में निपुण हो, तथा कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर चलने वाले पथिक की तरह समस्त अनाचार-मार्गों से दूर रहकर आचारमार्ग पर चल कर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करे।

☐ यह अध्ययन सूत्र गा. सं. ७५४ से प्रारम्भ होकर ७८६ में—३३ गाथाओं में समाप्त होता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक टीका—अनगारश्रुतमेत्येतन्नामभवति

२. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १८२, १८३

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७०-३७१

अणायारसुतं : पंचमं अज्झयणं

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

अनाचरणीय का निषेध—

७५४—आदाय बंभचेरं च, आसुपण्णे इमं वयिं ।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥१॥

७५४—आशुप्रज्ञ (सत्-असत् को समझने में कुशाग्रबुद्धि) साधक इस अध्ययन के वाक्य तथा ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आत्मा से सम्बन्धित आचार-विचार में विचरण) को धारण करके इस (वीतरागप्ररूपित सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूप) धर्म में अनाचार (मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप अनाचरणीय बातों) का आचरण कदापि न करे ।

विवेचन—अनाचरणीय का निषेध—प्रस्तुत सूत्रगाथा में शास्त्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के सारभूत चार तथ्यों की ओर साधकों का ध्यान खींचा है । वे चार तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) वीतरागप्ररूपित रत्नत्रयरूप धर्म में प्रव्रजित साधक सत्यासत्य को समझने में कुशाग्र-बुद्धि हो ।

(२) प्रस्तुत अनाचारश्रुत अध्ययन के वाक्यों को हृदयंगम करे ।

(३) ब्रह्मचर्य (आत्मा से सम्बन्धित आचार-विचार) को जीवन में धारण करे ।

(४) मिथ्यादर्शनादित्रयरूप अनाचरणीय बातों का आचरण कदापि न करे ।[1]

ब्रह्मचर्य—प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ फलित होते हैं—

(१) सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह एवं सर्वभूतदया, ये चारों ब्रह्म हैं, इनमें विचरण करना ।[2]

(२) आत्मा से सम्बन्धित चर्या—आचारविचार ।

(३) ब्रह्म (वीतराग परमात्मा) द्वारा प्ररूपित आगमवचन या प्रवचन अर्थात् (जैनेन्द्र-प्रवचन) ।

अनाचार—प्रस्तुत प्रसंग में अनाचार का अर्थ केवल सम्यक् चारित्रविरुद्ध आचरण ही नहीं है, अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के विरुद्ध आचरण करना अनाचार है ।

धर्म—वीतरागप्ररूपित एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के उपदेशक जैनेन्द्रप्रवचन को ही प्रस्तुत प्रसंग में धर्म समझना चाहिए ।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७१ ।

२. वही, पत्रांक ३७१ में उद्धृत—

सत्यं ब्रह्म, तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया ब्रह्म, एतद् ब्रह्मलक्षणम् ।

अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र—

७५५—अणादीयं परिण्णाय, अणवदग्गे ति वा पुणो ।
सासतमसासते यावि, इति दिट्ठि न धारए ।।२।।
७५६—एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।।३।।

७५५-७५६—'यह (चतुर्दशरज्ज्वात्मक एवं धर्माधर्मादिपट्द्रव्यरूप) लोक अनादि (आदि-रहित) और अनन्त है,' यह जान कर विवेकी पुरुष यह लोक एकान्त नित्य (शाश्वत) है, अथवा एकान्त अनित्य (अशाश्वत) है; इस प्रकार की दृष्टि, एकान्त (आग्रहमयी बुद्धि) न रखे ।

इन दोनों (एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य) पक्षों (स्थानों) से व्यवहार (शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार) चल नहीं सकता । अतः इन दोनों एकान्त पक्षों के आश्रय को अनाचार जानना चाहिए ।

७५७—समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठीगा वा भविस्संति, सासयं ति च णो वदे ।।४।।
७५८—एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणई ।।५।।

७५७-७५८—प्रशास्ता (शासनप्रवर्तक तीर्थंकर तथा उनके शासनानुगामी सभी भव्य जीव) (एकदिन) भवोच्छेद (कालक्रम से मोक्षप्राप्ति) कर लेंगे। अथवा सभी जीव परस्पर विसदृश (एक समान नहीं) हैं, या सभी जीव कर्मग्रन्थि से वद्ध (ग्रन्थिक) रहेंगे, अथवा सभी जीव शाश्वत (सदा स्थायी एकरूप) रहेंगे, अथवा तीर्थंकर, सदैव शाश्वत (स्थायी) रहेंगे, इत्यादि एकान्त वचन नहीं वोलने चाहिए ।

क्योंकि इन दोनों (एकान्तमय) पक्षों से (शास्त्रीय या लौकिक) व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तपक्षों के ग्रहण को अनाचार समझना चाहिए ।

७५९—जे केति खुड्डगा पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहिं वेरं ति, असरिसं ति य णो वदे ।।६।।
७६०—एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ।।७।।

७५९—७६०—(इस संसार में) जो (एकेन्द्रिय आदि) क्षुद्र (छोटे) प्राणी हैं, अथवा जो महाकाय (हाथी, ऊँट, मनुष्य आदि) प्राणी हैं, इन दोनों प्रकार के प्राणियों (की हिंसा से, दोनों) के साथ समान ही वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता; ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

क्योंकि इन दोनों ('समान वैर होता है या समान वैर नहीं होता';) एकान्तमय वचनों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तवचनों को अनाचार जानना चाहिए ।

७६१—अहाकडाइं भुंजंति अण्णमण्णे[1] सकम्मुणा ।
उवलित्ते ति जाणेज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥८॥

७६२—एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥९॥

७६१—७६२—आधाकर्म दोष युक्त आहारादि का जो साधु उपभोग करते हैं, वे दोनों (आधाकर्मदोष युक्त आहारादिदाता तथा उपभोक्ता) परस्पर अपने (पाप) कर्म से उपलिप्त होते हैं, अथवा उपलिप्त नहीं होते, ऐसा जानना चाहिए।

इन दोनों एकान्त मान्यताओं से व्यवहार नहीं चलता है, इसलिये इन दोनों एकान्त मन्तव्यों का आश्रय लेना अनाचार समझना चाहिए।

७६३—जमिदं उरालमाहारं, कम्मगं च तमेव य ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥

७६४—एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥११॥

७६३-७६४—यह जो (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) औदारिक शरीर है, आहारक शरीर है, और कार्मण शरीर है, तथैव वैक्रिय एवं तैजस शरीर है; ये पांचों (सभी) शरीर एकान्ततः भिन्न नहीं हैं, (एक ही हैं) अथवा ये पांचों सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं, ऐसे एकान्तवचन नहीं कहने चाहिए। तथा सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति (वीर्य) विद्यमान है, अथवा सब पदार्थों में सबकी शक्ति नहीं ही है; ऐसा एकान्तकथन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन दोनों प्रकार के एकान्त विचारों से व्यवहार नहीं होता। अतः इन दोनों एकान्तमय विचारों का प्ररूपण करना अनाचार समझना चाहिए।

विवेचन—आचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्बन्धी अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र प्रस्तुत किये हैं। अनाचार का मूल कारण एकान्त एकपक्षाग्रही दृष्टि, वचन, ज्ञान, विचार या मन्तव्य है; क्योंकि एकान्त एकपक्षाग्रह से लोक व्यवहार या शास्त्रीय व्यवहार नहीं चलता। इन सब विवेकसूत्रों के फलितार्थ है—अनेकान्तवाद का आश्रय लेने का निर्देश।

वे निषेधरूप नौ विवेकसूत्र-इस प्रकार हैं—

(१) लोक एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य, ऐसी एकान्त दृष्टि।

---

१. अण्णमण्णे—अन्योन्य का अर्थ चूर्णिकार की दृष्टि से—अन्य इति असंयतः, तस्मादन्यः संयतः। अर्थात् अन्य का अर्थ-असंयत-गृहस्थ और उससे अन्य संयत-साधु। दोनों एक दूसरे को लेकर (पाप) कर्म से लिप्त होते हैं या नहीं होते हैं। —सू. कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २१८

(२) सभी प्रशास्ता या भव्य एक दिन भवोच्छेद करके मुक्त हो जाएँगे, (संसार भव्य जीव शून्य हो जाएगा), ऐसा वचन ।
(३) सभी जीव एकान्ततः विसदृश हैं, ऐसा वचन ।
(४) सभी जीव सदा कर्मग्रन्थि से बद्ध रहेंगे, ऐसा एकान्त वचन ।
(५) सभी जीव या तीर्थंकर सदा शाश्वत रहेंगे, ऐसा एकान्त वचन ।
(६) एकेन्द्रियादि क्षुद्र प्राणी की या हाथी आदि महाकाय प्राणी की हिंसा से समान वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता, ऐसा एकान्त वचन ।
(७) आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोक्ता और दाता एकान्त रूप से परस्पर पाप कर्म से लिप्त होता है, अथवा सर्वथा लिप्त नहीं होता, ऐसा एकान्त वचन ।
(८) औदारिक आदि पांचों शरीर परस्पर अभिन्न हैं, अथवा भिन्न हैं, ऐसा एकान्त कथन ।
(९) सब पदार्थों में सबकी शक्ति है, अथवा नहीं है, ऐसा एकान्त कथन ।

एकान्त दृष्टि या एकान्त कथन से दोष—(१) प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप[1] से नित्य है, किन्तु पर्यायरूप (विशेषतः) से अनित्य है । एकान्त नित्य या अनित्य मानने पर लोक व्यवहार नहीं होता, जैसे 'लोक में कहा जाता है, यह वस्तु नई है, यह पुरानी है, यह वस्तु अभी नष्ट नहीं हुई, यह नष्ट हो गई है ।' आध्यात्मिक व्यवहार भी नहीं हो सकता है, जैसे—आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ) मानने पर उसके बन्ध और मोक्ष का तथा विभिन्न गतियों में भ्रमण और एकदिन चतुर्गतिरूप संसार से मुक्त होने का व्यवहार नहीं हो सकता, तथा एकान्त अनित्य (क्षणिक) मानने पर धर्माचरण या साधना का फल किसी को न मिलेगा, यह दोषापत्ति होगी । लोक के सभी पदार्थों को कथंचित् नित्यानित्य मानना ही अनेकान्त सिद्धान्त सम्मत आचार है, जैसे सोना, सोने का घड़ा और स्वर्णमुकुट तीन पदार्थ हैं । सोने के घट को गलवा कर राजकुमार के लिए मुकुट बना तो उसे हर्ष हुआ, किन्तु राजकुमारी को घड़ा नष्ट होने से दुःख; लेकिन मध्यस्थ राजा को दोनों अवस्थाओं में सोना बना रहने से न हर्ष हुआ, न शोक; ये तीनों अवस्थाएँ कथञ्चित् नित्यानित्य मानने पर बनती हैं ।[2]

(२) भविष्यकाल भी अनन्त है और भव्यजीव भी अनन्त हैं, इसलिए भविष्यकाल की तरह भव्य जीवों का सर्वथा उच्छेद कदापि नहीं हो सकता । किसी भव्यजीव विशेष का संसारोच्छेद होता भी है ।

(३) भवस्थकेवली प्रवाह की अपेक्षा से महाविदेह क्षेत्र में सदैव रहते हैं, इसलिए शाश्वत किन्तु व्यक्तिगतरूप से सिद्धि को प्राप्त होते हैं, इस अपेक्षा से वे शाश्वत नहीं हैं । ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है ।

(४) सभी जीव समानरूप से उपयोग वाले, असंख्यप्रदेशी और अमूर्त हैं, इस अपेक्षा से वे कथंचित् सदृश हैं, तथा भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर आदि से युक्त होते हैं, इस अपेक्षा से कथंचित् विसदृश भी हैं ।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७२ से ३७३ तक का सारांश

२. "घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पाद-स्थितिस्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥"

(५) कोई अधिक वीर्यसम्पन्न जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन कर देते हैं, कोई अल्पपराक्रमी जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन नहीं कर पाते। अतः एकान्ततः सभी जीवों को कर्मग्रन्थि से बद्ध कहना अनुचित है; शास्त्रविरुद्ध है।

(६) हिंस्य प्राणी बड़े शरीर वाला हो तो उसकी हिंसा से अधिक कर्मबन्ध होता है और क्षुद्र शरीर वाला हो तो कर्मबन्ध अल्प होता है, यह कथन युक्त नहीं है। कर्मबन्ध की तरतमता हिंसक प्राणी के परिणाम पर निर्भर है। अर्थात् हिंसक प्राणी का तीव्रभाव, महावीर्यता, अल्पवीर्यता की विशेषता से कर्मबन्धजनित वैरबन्ध में विसदृशता (विशेषता) मानना ही न्यायसंगत है। वैरबन्ध का आधार हिंसा है, और हिंसा आत्मा के भावों की तीव्रता-मंदता के अनुसार कर्मबन्ध का कारण बनती है। इसलिए, जीवों की संख्या या क्षुद्रता-विशालता वैरबन्ध का कारण नहीं है। घातक प्राणियों के भावों की अपेक्षा से वैर (कर्म) बन्ध में सादृश्य या असादृश्य होता है।[1]

(७) आधाकर्मी आहार का सेवन एकान्ततः पापकर्म का ही कारण है, ऐसा एकान्तकथन शास्त्रविरुद्ध है। इस सम्बन्ध में आचार्यों का चिन्तन यह है कि "किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध और कल्पनीय पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र, भैषज आदि भी अशुद्ध एवं अकल्पनीय हो जाते हैं, और ये ही अशुद्ध एवं अकल्पनीय पिण्ड आदि किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध एवं कल्पनीय हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि किसी विशिष्ट अवस्था में न करने योग्य कार्य भी कर्त्तव्य और करने योग्य कार्य भी अकर्त्तव्य हो जाता है।" किसी देशविशेष या कालविशेष में अथवा किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध (दोषरहित) आहार न मिलने पर आहार के अभाव में कई अनर्थ पैदा हो सकते हैं, क्योंकि वैसी दशा में भूख और प्यास से पीड़ित साधक ईर्यापथ का शोधन भलीभांति नहीं कर सकता, लड़खड़ाते हुए चलते समय उससे जीवों का उपमर्दन भी सम्भव है, यदि वह क्षुधा-पिपासा या व्याधि की पीड़ा से मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो त्रसजीवों की विराधना अवश्यम्भावी है, अगर ऐसी स्थिति में वह साधक अकाल में ही कालकवलित हो जाए तो संयम या विरति का नाश हो सकता है, आर्तध्यानवश दुर्गति भी हो सकती है। इसलिए आगम में विधान किया गया—"साधक को हर हालत में किसी भी मूल्य पर संयम की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु संयम से भी बढ़कर (संयमपालन के साधनभूत) स्वशरीर की रक्षा करना आवश्यक है।" इसलिए आधाकर्मी आहारादि का सेवन एकान्ततः पापकर्म का कारण है, ऐसा एकान्तकथन नहीं करना चाहिए, तथैव आधाकर्मी आहार आदि के सेवन से पापकर्म का बन्धन नहीं ही होता है, ऐसा एकान्त कथन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि आधाकर्मी आहारादि के बनाने में प्रत्यक्ष ही षट्कायिक जीवों की विराधना होती है, उससे पापकर्म का बन्ध होता है।

अतः आधाकर्मी आहारादि-सेवन से किसी अपेक्षा से पापबन्ध होता है और किसी अपेक्षा से नहीं भी होता, ऐसा अनेकान्तात्मक कथन ही जैनाचारसम्मत है।

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७२, ३७३

२. (क) किञ्चच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वा, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः, शय्या, वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥

(ख) "उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥

(ग) "सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा।" —सूत्र कृ. शी. वृत्ति प. ३७४ से उद्धृत

(८) औदारिक आदि पांचों शरीरों के कारणों तथा लक्षणादि में भेद होने से उनमें एकान्त अभेद नहीं है। जैसे कि औदारिक शरीर के कारण उदारपुद्गल हैं, कार्मण शरीर के कार्मण वर्गणा के पुद्गल तथा तैजस्शरीर के कारण तेजसवर्गणा के पुद्गल हैं। अतः इसके कारणों में भिन्नता होने से ये एकान्त अभिन्न नहीं हैं, तथैव औदारिक आदि शरीर तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही उपलब्ध होते हैं तथा सभी शरीर सामान्यतः पुद्गल परमाणुओं से निर्मित हैं इन कारणों से भी इनमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार उनमें एकान्त भेद भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि सभी शरीर एक पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं। अतः अनेकान्त दृष्टि से इन शरीरों में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना ही व्यावहारिक राजमार्ग है; शास्त्रसम्मत आचार है।

(९) सांख्यदर्शन का मत है—जगत् के सभी पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, अतः प्रकृति ही सबका उपादान कारण है, और वह एक ही है, इसलिए सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं, सब पदार्थों में सबकी शक्ति विद्यमान है, यह एक कथन है। दूसरे मतवादियों का कथन है कि देश, काल, एवं स्वभाव का भेद होने से सभी पदार्थ सबसे भिन्न हैं, अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं, उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण है, अतः सब पदार्थों में सबकी शक्ति नहीं है। इस प्रकार दोनों एकान्त कथन हैं, जो उचित नहीं है। वस्तुतः सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, वे ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं, इसलिए अस्तित्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म की दृष्टि से भी पदार्थ कथञ्चित् एक हैं, तथा सबके कार्य, गुण, स्वभाव, नाम एवं शक्ति एक दूसरे से भिन्न हैं, इसलिए सभी पदार्थ कथंचित् परस्पर भिन्न भी हैं। अतएव द्रव्य-पर्यायदृष्टि से कथञ्चित् अभेद एवं भेद रूप अनेकान्तात्मक कथन करना चाहिए।

इन विषयों में अथवा अन्य पदार्थों के विषय में एकान्तदृष्टि रखना या एकान्त कथन करना अनाचार है, दोष है।[1]

नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान सूत्र—

७६५—णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१२॥

७६५—लोक नहीं है या अलोक नहीं है ऐसी संज्ञा (बुद्धि—समझ नहीं रखनी चाहिए) अपितु) लोक है और अलोक (आकाशास्तिकायमात्र) है, ऐसी संज्ञा रखनी चाहिए।

७६६—णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१३॥

७६६—जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु जीव और अजीव पदार्थ हैं, ऐसी संज्ञा (बुद्धि) रखनी चाहिए।

७६७—णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१४॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३७५-३७६।

७६७—धर्म-अधर्म नहीं है, ऐसी मान्यता नही रखनी चाहिए, किन्तु धर्म भी है और अधर्म भी है ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७६८—णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१५॥

७६८—बन्ध और मोक्ष नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए, अपितु बन्ध है और मोक्ष भी है, यही श्रद्धा रखनी चाहिए।

७६९—णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१६॥

७६९—पुण्य और पाप नहीं है, ऐसी बुद्धि रखना उचित नहीं, अपितु पुण्य भी है और पाप भी है, ऐसी बुद्धि रखना चाहिए।

७७०—णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१७॥

७७०—आश्रव और संवर नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु आश्रव भी है, संवर भी है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७७१—णत्थि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१८॥

७७१—वेदना और निर्जरा नहीं हैं, ऐसी मान्यता रखना ठीक नहीं है किन्तु वेदना और निर्जरा है, यह मान्यता रखनी चाहिए।

७७२—नत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१९॥

७७२—क्रिया और अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रिया भी है, अक्रिया भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७३—नत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२०॥

७७३—क्रोध और मान नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रोध भी है, और मान भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७४—नत्थि माया व लोभे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२१॥

७७४—माया और लोभ नहीं हैं, इस प्रकार की मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु माया है और लोभ भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७५—णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सण्णं निवेसए।।२२।।

७७५—राग और द्वेष नहीं है, ऐसी विचारणा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु राग और द्वेष हैं, ऐसी विचारणा रखनी चाहिए।

७७६—णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सण्णं निवेसए।।२३।।

७७६—चार गति वाला संसार नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु चातुर्गतिक संसार (प्रत्यक्षसिद्ध) है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७७७—णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सण्णं निवेसए।।२४।।

७७७—देवी और देव नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु देव-देवी हैं, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७८—नत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सण्णं निवेसए।।२५।।

७७८—सिद्धि (मुक्ति) या असिद्धि (अमुक्तिरूप संसार) नहीं है, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए, अपितु सिद्धि भी है और असिद्धि (संसार) भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए।

७७९—नत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सण्णं निवेसए।।२६।।

७७९—सिद्धि (मुक्ति) जीव का निज स्थान (सिद्धशिला) नहीं है, ऐसी खोटी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि जीव का निजस्थान है, ऐसा सिद्धान्त मानना चाहिए।

७८०—नत्थि साहू असाहू वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सण्णं निवेसए।।२७।।

७८०—(संसार में कोई) साधु नहीं है और असाधु नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत साधु और असाधु दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७८१—नत्थि कल्लाणे पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि कल्लाणे पावे वा, एवं सण्णं निवेसए।।२८।।

७८१—कोई भी कल्याणवान् (पुण्यात्मा) और पापी (पापात्मा) नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए अपितु कल्याणवान् (पुण्यात्मा) एवं पापात्मा दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

विवेचन—नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान सूत्र—प्रस्तुत १७ सूत्रगाथाओं में सम्यग्दर्शनाचार विरुद्ध नास्तिकता का निषेध करके उससे सम्मत आस्तिकता का विधान किया गया है। आस्तिकता ही आचार है, और नास्तिकता अनाचार। इस दृष्टि से आचारआधक को निम्नलिखित विषयों सम्बन्धी नास्तिकता को त्याग कर उनके स्वतंत्र अस्तित्व को मानना, जानना और उस पर श्रद्धा करना चाहिए। जो इन पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानते, वे प्राचीन युग की परिभाषा में नास्तिक, जैन धर्म की परिभाषा में मिथ्यात्वी और आगम की भाषा में अनाचारसेवी (दर्शनाचार रहित) हैं। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए इस पर प्रकाश डाला है कि कौन दार्शनिक इन के अस्तित्व को मानता है कौन नहीं, साथ ही प्रत्येक के अस्तित्व को विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया है।[1] मूल में 'संज्ञा' शब्द है, यहाँ वह प्रसंगानुसार समझ, बुद्धि, मान्यता, श्रद्धा, संज्ञान या दृष्टि आदि के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] वे १५ संज्ञासूत्र इस प्रकार हैं—

(१) लोक और अलोक—सर्वशून्यतावादी लोक और अलोक दोनों का अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं—स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थों की तरह लोक (जगत्) और अलोक सभी मिथ्या है। जगत् के सभी प्रतीयमान दृश्य मिथ्या हैं। अवयवों द्वारा ही अवयवी प्रकाशित होता है। जगत् (लोक या अलोक) के अवयवों का (विशेषत: अन्तिम अवयव=परमाणु का इन्द्रियातीत होने से) अस्तित्व सिद्ध न होने से जगत् रूप अवयवी सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक एवं युक्ति विरुद्ध है। अत: प्रत्यक्ष दृश्यमान चतुर्दशरज्ज्वात्मक या धर्मादिषड्द्रव्यमय लोक का अस्तित्व स्वत: सिद्ध है, और जहाँ धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्य नहीं हैं, केवल आकाश है, वहाँ अलोक का अस्तित्व है। यह भी अनुमान एवं आगम प्रमाण से सिद्ध है।

(२) जीव और अजीव—पंचमहाभूतवादी जीव (आत्मा) का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं—पंचभूतों के शरीर के रूप में परिणत होने पर चैतन्य गुण उन्हीं से उत्पन्न हो जाता है, कोई आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। दूसरे आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती) अजीव का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते, वे कहते हैं—सारा जगत् ब्रह्म (आत्मा) रूप है, चेतन-अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्मरूप है, ब्रह्म के कार्य हैं। आत्मा से भिन्न जीव-अजीव आदि पदार्थों को मानना भ्रम है। परन्तु ये दोनों मत युक्ति-प्रमाण विरुद्ध हैं। जैनदर्शन का मन्तव्य है—उपयोग लक्षण वाले जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध है, वह अनादि है और पंचमहाभूतों का कार्य नहीं है, जड़ पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अजीव द्रव्य का भी स्वतन्त्र अस्तित्व प्रत्यक्षादिप्रमाणों से सिद्ध है। यदि जीवादिपदार्थ एक ही आत्मा (ब्रह्म) से उत्पन्न होते तो उनमें परस्पर समानता होती, विचित्रता न होती। घट, पट आदि अचेतन अनन्त पदार्थ चेतनरूप आत्मा के परिणाम या कार्य होते तो, वे भी जीव की तरह स्वतन्त्ररूप से गति आदि कर सकते, परन्तु उनमें ऐसा नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त संसार में आत्मा एक ही होता तो कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई बद्ध, कोई मुक्त आदि विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर न होती। एक जीव के सुख से

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३७६, (ख) सूत्रकृ. निर्युक्ति गा. १८२.

२. स्थानांगसूत्र स्थान १०, उ. सू. अभयदेवसूरिटीका।

समस्त जीव सुखी और एक के दुःख से सारे दुःखी हो जाते। प्रत्येक जीव का पृथक् पृथक् अस्तित्व और अजीव (धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय तक) का उससे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही अभीष्ट है।[1]

(३) **धर्म और अधर्म**—श्रुत और चारित्र या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म कहलाते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक परिणाम, स्वभाव या गुण हैं, तथा इनके विपरीत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग; ये भी आत्मा के ही गुण, परिणाम हैं किन्तु कर्मोपाधिजनित होने से तथा मुक्ति के विरोधी होने से अधर्म कहलाते हैं। धर्म और अधर्म के कारण जीवों की विचित्रता है। इसलिए इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना चाहिए। उपर्युक्त कथन सत्य होते हुए भी कई दार्शनिक[2] काल, स्वभाव, नियति या ईश्वर आदि को ही जगत् की सब विचित्रताओं का कारण मान कर धर्म, अधर्म के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं। किन्तु काल आदि धर्म, अधर्म के साथ ही विचित्रता के कारण होते हैं, इन्हें छोड़ कर नहीं। अन्यथा एक काल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों में विभिन्नताएँ या विचित्रताएँ घटित नहीं हो सकतीं। स्वभाव आदि की चर्चा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों से जान लेनी चाहिए।

(४) **बन्ध और मोक्ष**—कर्मपुद्गलों का जीव के साथ दूध पानी की तरह सम्बद्ध होना बन्ध है, और समस्त कर्मों का क्षय होना—आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। इन दोनों के अस्तित्व पर अश्रद्धा व्यक्ति को निरंकुश पापाचार या अनाचार में गिरा देती है। अतः आत्मकल्याणकामी को दोनों पर अश्रद्धा का त्याग कर देना चाहिए। कई दार्शनिक (सांख्यादि) आत्मा का बन्ध और मोक्ष नहीं मानते। वे कहते हैं—आत्मा अमूर्त है, कर्मपुद्गल मूर्त। ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मा का आकाशवत् कर्मपुद्गलों के साथ बन्ध या लिप्तत्व कैसे हो सकता है? जब अमूर्त आत्मा बद्ध नहीं हो सकता तो उसके मुक्त (मोक्ष) होने की बात निरर्थक है, बन्ध का नाश ही तो मोक्ष है। अतः बन्ध के अभाव में मोक्ष भी सम्भव नहीं। वस्तुतः यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं है। चेतना अमूर्त पदार्थ है, फिर भी मद्य आदि मूर्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने (सेवन) से उसमें में विकृति स्पष्टतः देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त संसारी आत्मा एकान्ततः अमूर्त नहीं—मूर्त्त है। अतः उसका मूर्त कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध सुसंगत है। जब बन्ध होता है, तो एक दिन उसका अभाव—मोक्ष भी सम्भव है। फिर बन्ध का अस्तित्व न मानने पर संसारी व्यक्ति का सम्यग्दर्शनादि साधना का पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा, और मोक्ष न मानने पर साध्य या अन्तिम लक्ष्य की दिशा में पुरुषार्थ नहीं होगा। इसलिए दोनों का अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

(५) **पुण्य और पाप**—"शुभकर्म पुद्गल पुण्य है और अशुभकर्म पुद्गल पाप।" इन दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व है।[3] कई अन्यतीर्थिक कहते हैं—इस जगत् में पुण्य नामक कोई

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३७६-३७७.

२. नहि कालादिहिंतो केवलएहिंतो जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणाइ वि ता सव्वे समुदिया हेऊ॥

३. "पुद्गलकर्म शुभं यत् तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्देशात्॥"

पदार्थ नहीं, एकमात्र पाप ही है। पाप कम हो जाने पर, सुख उत्पन्न करता है, अधिक हो जाने पर दुःख, दूसरे दार्शनिक कहते हैं—जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पुण्य ही है। पुण्य घट जाता है, तब वह दुःखोत्पत्ति, और बढ़ जाता है तब सुखोत्पत्ति करता है। तीसरे मतवादी कहते हैं—पुण्य या पाप दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति, स्वभाव आदि के कारण से होती है। वस्तुतः ये दार्शनिक भ्रम में हैं, पुण्य और पाप दोनों का नियत सम्वन्ध है, एक का अस्तित्व मानने पर दूसरे का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। यदि सब कुछ नियति या स्वभाव आदि से होने लगे, तो क्यों कोई सत्कार्य में प्रवृत्त होगा ? फिर तो किसी को शुभ-अशुभ क्रिया का फल भी प्राप्त नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः पुण्य और पाप दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही ठीक है।

(६) आश्रव और संवर—जिसके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं, अर्थात् जो बन्ध का कारण है, वह (प्राणातिपात आदि) आश्रव है, और उस आश्रव का निरोध करना संवर है। ये दोनों पदार्थ अवश्यम्भावी हैं, शास्त्रसम्मत भी।

किसी दार्शनिक ने आश्रव और संवर दोनों को मिथ्या बताते हुए तर्क उठाया है कि 'यदि आश्रव आत्मा से भिन्न हो तो वह घटपटादि पदार्थों की तरह आत्मा में कर्म बन्ध का कारण नहीं हो सकता। यदि वह आत्मा से अभिन्न हो तो मुक्तात्माओं में भी उसकी सत्ता माननी पड़ेगी, ऐसा अभीष्ट नहीं। अतः आश्रव की कल्पना मिथ्या है। जब आश्रव सिद्ध नहीं हुआ तो उसका निरोधरूप संवर भी नहीं माना जा सकता।

शास्त्रकार ने इसका निराकरण करते हुए कहा—"आश्रव का अस्तित्व न मानने से सांसारिक जीवों की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती और संवर न मानने से कर्मों का निरोध घटित नहीं हो सकता। अतः दोनों का अस्तित्व मानना ही उचित है। आश्रव संसारी आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न। आश्रव और संवर दोनों को आत्मा से कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न मानना ही न्यायोचित है।

(७) वेदना और निर्जरा—कर्म का फल भोगना 'वेदना' है और कर्मों का आत्मप्रदेशों से झड़ जाना 'निर्जरा' है।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—"ये दोनों पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि आचार्यों ने कहा है—'अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों का अनेक कोटि वर्षों में क्षय करता है, उन्हें त्रिगुप्तिसम्पन्न ज्ञानीपुरुष एक उच्छ्वास-मात्र में क्षय कर डालता है।'[1] इस सिद्धान्तानुसार सैकड़ों पल्योपम एवं सागरोपम काल में भोगने योग्य कर्मों का भी (बिना भोगे ही) अन्तर्मुहूर्त में क्षय हो जाता है, अतः सिद्ध हुआ कि क्रमशः बद्ध-कर्मों का वेदन (फलभोग) क्रमशः नहीं होता, अतः 'वेदना' नाम का कोई तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार वेदना का अभाव सिद्ध होने से निर्जरा का अभाव स्वतः सिद्ध है।"

परन्तु अनेकान्तवादी जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। तपश्चर्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षपण होता है, समस्त कर्मों का नहीं। उन्हें तो उदीरणा और उदय के द्वारा

---

१. "जं अन्नाणी कम्मं खवेइ वहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ, ऊसासमित्तेण॥"

भोगना (अनुभव-वेदन करना) होता है। इससे वेदना तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। आगम में भी कहा है—'पहले अपने द्वारा कृत दुष्प्रतीकार्य दुष्कर्मों (पापकर्मों) का वेदन (भोग) करके ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नहीं।[1] इस प्रकार वेदना का अस्तित्व सिद्ध होने पर निर्जरा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः वेदना और निर्जरा दोनों का अस्तित्व मानना अत्यावश्यक है।

(८) **क्रिया और अक्रिया**—चलना, फिरना आदि क्रिया है और इनका अभाव अक्रिया।

सांख्यमतवादी आत्मा को आकाश के समान व्यापक मान कर उसमें क्रिया का अस्तित्व नहीं मानते। वे आत्मा (पुरुष) को निष्क्रिय कहते हैं।

बौद्ध समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते हैं अतः पदार्थों में उत्पत्ति के सिवाय अन्य किसी क्रिया को नहीं मानते।

आत्मा में क्रिया का सर्वथा अभाव मानने पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। न ही वह आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता हो सकता है। अतः संयोगावस्था तक आत्मा में क्रिया रहती है, अयोगावस्था में आत्मा अक्रिय हो जाता है।[2]

(९) **क्रोध, मान, माया और लोभ**—अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है, गर्व करना मान है, कपट को माया और वितृष्णा को लोभ कहते हैं।

इन चारों कषायों का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। दसवें गुण-स्थान तक कषाय आत्मा के साथ रहता है, बाद में आत्मा निष्कषाय हो जाता है।

(१०) **राग और द्वेष**—अपनें धन, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के प्रति जो प्रीति या आसक्ति होती है, उसे प्रेम, या राग कहते हैं। इष्ट वस्तु को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति चित्त में अप्रीति या घृणा होना द्वेष है। कई लोगों का मत है कि माया और लोभ इन दोनों में राग या प्रेम तथा क्रोध और मान, इन दोनों में द्वेष गतार्थ हो जाता है फिर इनके समुदायरूप राग या द्वेष को अलग पदार्थ मनाने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि समुदाय अपने अवयवों से पृथक् पदार्थ नहीं है। किन्तु यह मान्यता एकान्ततः सत्य नहीं है; समुदाय (अवयवी) अपने अवयवों से कथञ्चिद् भिन्न तथा कथञ्चिद् अभिन्न होता है। इस दृष्टि से राग और द्वेष दोनों का कथंचित् पृथक् पृथक् अस्तित्व है।

चातुर्गतिक संसार—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। जीव स्व-स्व कर्मानुसार इन चारों गतियों में जन्म-मरण के रूप में संसरण-परिभ्रमण करता रहता है, यही चातुर्गतिक संसार है। यदि चातुर्गतिक संसार न माना जाए तो शुभाशुभकर्म-फल भोगने की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए चार गतियों वाला संसार मानना अनिवार्य है। कई लोग कहते हैं—यह संसार कर्मबन्धनरूप तथा जीवों को एकमात्र दुःख देने वाला है, अतः एक ही प्रकार का है।

कई लोग कहते हैं—इस जगत् में मनुष्य और तिर्यञ्च ये दो ही प्रकार के प्राणी दृष्टि-

---

१. पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता।

—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७७ से ३७९ तक से उद्धृत।

२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७९-३८०.

गोचर होते हैं, देव और नारक नहीं। अतः संसार दो ही गतियोंवाला है, इन्हीं दो गतियों में सुख-दुःख की न्यूनाधिकता पाई जाती है। अतः संसार द्विगतिक मानना चाहिए, चातुर्गतिक नहीं। परन्तु यह मान्यता अनुमान और आगम प्रमाणों से खण्डित हो जाती है। यद्यपि नारक और देव अल्पज्ञों-छद्मस्थों को प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते, परन्तु अनुमान और आगम प्रमाण से इन दोनों गतियों की सिद्धि हो जाती है। शास्त्रकार कहते हैं—**'अत्थि चाउरंते संसारे'**। देव उत्कृष्ट पुण्यफल के भोक्ता और नारक उत्कृष्ट पापफल के भोक्ता होते हैं। इसलिए चारों गतियों का अस्तित्व सिद्ध होने से चातुर्गतिक संसार मानना चाहिए।

(१२) **देव और देवी**—यद्यपि चातुर्गतिक संसार में देवगति के सिद्ध हो जाने से देवों और देवियों का भी पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है तथापि कई मतवादी मनुष्यों के अन्तर्गत ही राजा, चक्रवर्त्ती या धनपति आदि पुण्यशाली पुरुष-स्त्री को देव-देवी मानते हैं, अथवा ब्राह्मण या विद्वान् को देव एवं विदुषी को देवी मानते हैं, पृथक् देवगति में उत्पन्न देव या देवी नहीं मानते। उनकी इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—देव या देवी का पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये चारों प्रकार के देव पृथक्-पृथक् निकाय के होते हुए भी इन सबका देवपद से ग्रहण हो जाता है। ज्योतिष्कदेव तो प्रत्यक्ष हैं, शेष देव भी अनुमान एवं आगम प्रमाण से सिद्ध हैं।

(१३) **सिद्धि, असिद्धि और आत्मा की स्वस्थान-सिद्धि**—समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य सुखरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाना सिद्धि है। इसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते हैं। सिद्धि से जो विपरीत हो वह असिद्धि है, यानी शुद्धस्वरूप की उपलब्धि न होना—संसार में परिभ्रमण करना। असिद्धि संसाररूप है। जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। जब असिद्धि सत्य है, तो उसकी प्रतिपक्षी समस्त कर्मक्षयरूप सिद्धि भी सत्य है क्योंकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्षी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप मोक्षमार्ग की आराधना करने से समस्त कर्मों का क्षय हो कर जीव को सिद्धि प्राप्त होती है। अतः अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से, अंशतः प्रत्यक्षप्रमाण से तथा महापुरुषों द्वारा सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करने से सिद्धि सिद्ध होती है। कई दार्शनिक कहते हैं—हिंसा से सर्वथा निवृत्ति किसी भी साधक की नहीं हो सकती, क्योंकि जल, स्थल आकाश, आदि में सर्वत्र जीवों से पूर्ण लोक में अहिंसक रहना संभव नहीं है। परन्तु हिंसादि आश्रव-द्वारों को रोक कर पांच समिति—त्रिगुप्तिसम्पन्न निर्दोष भिक्षा से जीवननिर्वाह करता हुआ एवं ईर्याशोधनपूर्वक यतना से गमनादिप्रवृत्ति करता हुआ साधु भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नहीं करता, इस प्रकार के साधु को समस्त कर्मों का क्षय होने से सिद्धि या मुक्ति प्राप्त होती है। असिद्धि का स्वरूप तो स्पष्टतः सिद्ध है, अनुभूति का विषय है। सिद्धि जीव (शुद्ध-मुक्तात्मा) का निज स्थान है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर मुक्तजीव जिस स्थान को प्राप्त करता है, वह लोकाग्रभागस्थित सिद्धशिला ही जीव का निजी सिद्धिस्थान है। वहां से लौट कर वह पुनः इस असिद्धि (संसार) स्थान में नहीं आता। कर्मबन्धन से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है, वह ऊर्ध्वगति लोक के अग्रभाग तक ही होती है, धर्मास्तिकाय का निमित्त न मिलने से आगे गति

नहीं होती । अतः सिद्ध जीव जहाँ स्थित रहते हैं, उसे सिद्धि स्थान कहा जाता है ।[१]

कुछ दार्शनिक कहते हैं—मुक्त पुरुष आकाश के समान सर्वव्यापक हो जाते हैं, उनका कोई एक स्थान नहीं होता, परन्तु यह कथन युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है । आकाश तो लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है । अलोक में तो आकाश के सिवाय कोई पदार्थ रह नहीं सकता, मुक्तात्मा लोकमात्रव्यापक हो जाता है इसमें कोई प्रमाण नहीं । सिद्ध जीव में ऐसा कोई कारण नहीं कि वह शरीरपरिमाण को त्याग कर समस्त लोकपरिमित हो जाए ।

(१४) साधु और असाधु—स्व-परहित को सिद्ध करता है, अथवा प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों से विरत होकर सम्यग्दर्शनादित्रतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की या पंचमहाव्रतों की साधना करता है, वह साधु है ! जिसमें साधुता नहीं है, वह असाधु है । अतः जगत् में साधु भी हैं, असाधु भी हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

कई लोग कहते हैं—"रत्नत्रय का पूर्णरूप से पालन असम्भव होने से जगत् में कोई साधु नहीं है । जब साधु ही नहीं तो उसका प्रतिपक्षी असाधु भी नहीं हो सकता ।" यह मान्यता उचित नहीं है । विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिए । जो साधक सदा यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करता है, 'सुसंयमी चारित्रवान् है, शास्त्रोक्तविधि से शुद्ध निर्दोष आहार लेता है, ऐसे सुसाधु से कदाचित् भूल से अनजान में अनेषणीय अशुद्ध आहार ले भी लिया जाए तो भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अपूर्ण आराधक नहीं, अपनी शुद्ध दृष्टि से वह पूर्ण आराधक हैं, क्योंकि वह शुद्धबुद्धि से, भावनाशुद्धिपूर्वक शुद्ध समझ कर उस आहार को ग्रहण करता है । इससे वह असाधु नहीं हो जाता, सुसाधु ही रहता है । भक्ष्याभक्ष्य, एषणीय-अनेषणीय, प्रासुक-अप्रासुक आदि का विचार करना राग-द्वेष नहीं, अपितु चारित्रप्रधान मोक्ष का प्रमुख अंग है । इससे साधु की समता (सामायिक) खण्डित नहीं होती ।[२]

इस प्रकार साधु का अस्तित्व सिद्ध होने पर उसके प्रतिपक्षी असाधु के अस्तित्व की भी सिद्धि हो जाती है ।

(१५) कल्याण और पाप अथवा कल्याणवान् और पापवान्—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति को कल्याण और हिंसा आदि को पाप कहते हैं, जिसमें ये हों, उन्हें क्रमशः कल्याणवान् तथा पापवान्

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३८० से ३८२ तक
   (ख) दोषावरणयोर्हानि निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी ।
   क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
   (ग) 'कर्मविमुक्तस्योर्ध्वंगतिः'
   (घ) लाउ एरंडफले अग्गी धूमे य उसु धणुविमुक्के ।
   गइ पुव्वपओगेणं एवं सिद्धाण वि गईओ ॥

२. उच्चालियम्मि पाए ईरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
   वावज्जिज्ज कुलिंगी, मरिज्ज वा तं जोगमासज्ज ॥
   ण य तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
   —सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३८१-३८२ में उद्धृत

कहते हैं। जगत् में कल्याण और पाप दोनों प्रकार वाले पदार्थों का अस्तित्व है। इस प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

बौद्धों का कथन है—जगत् में कल्याण नामक कोई पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ अशुचि और निरात्मक हैं। कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर बौद्धों के उपास्यदेव भी अशुचि सिद्ध होंगे जो उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सभी पदार्थ अशुचि नहीं हैं, न ही निरात्मक हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् हैं, परद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव की अपेक्षा से असत् हैं, ऐसा मानना ठीक है। आत्मद्वैतवादी के मतानुसार आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ आत्म (पुरुष) स्वरूप हैं। इसलिए कल्याण और पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह प्रत्यक्ष-बाधित है। ऐसा मानने से जगत् की दृश्यमान विचित्रता संगत नहीं हो सकती।

अतः जगत् में कल्याण और पाप अवश्य है, ऐसा अनेकान्तात्मक दृष्टि से मानना चाहिए।

कतिपय निषेधात्मक आचार सूत्र—

७८२—कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जई।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

७८२. यह व्यक्ति एकान्त कल्याणवान् (पुण्यवान्) है, और यह एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार नहीं होता, (तथापि) बालपण्डित (सद्-असद्-विवेक से रहित होते हुए भी स्वयं को पण्डित मानने वाले) (शाक्य आदि) श्रमण (एकान्त पक्ष के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले); वैर (कर्मबन्धन) नहीं जानते।

७८३—असेसं अक्खयं वा वि, सव्वदुक्खे त्ति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झ त्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

६८३. जगत् के अशेष (समस्त) पदार्थ अक्षय (एकान्त नित्य) हैं, अथवा एकान्त अनित्य हैं, ऐसा कथन (प्ररूपण) नहीं करना चाहिए, तथा सारा जगत् एकान्तरूप से दुःखमय है, ऐसा वचन भी नहीं कहना चाहिए एवं अमुक प्राणी वध्य है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन भी साधु को (मुंह से) नहीं निकालना चाहिए।

७८४—दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवि त्ति, इति दिट्ठि न धारए ॥३१॥

७८४. साधुतापूर्वक जीने वाले, (शास्त्रोक्त) सम्यक् आचार के परिपालक निर्दोष भिक्षाजीवी साधु दृष्टिगोचर होते हैं; इसलिए ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए कि ये साधुगण कपट से जीविका (जीवननिर्वाह) करते हैं।

७८५—दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि नत्थि त्ति वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च वूहए ॥३२॥

७८५. मेधावी (विवेकी) साधु को ऐसा (भविष्य-) कथन नहीं करना चाहिए कि दान

का प्रतिलाभ (प्राप्ति) अमुक से होता है, अमुक से नहीं होता, अथवा तुम्हें आज भिक्षालाभ होगा या नहीं ? किन्तु जिससे शान्ति (मोक्षमार्ग) की वृद्धि होती हो, ऐसा वचन कहना चाहिए।

विवेचन—कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं में साधुओं के लिए भाषासमिति, सत्यमहाव्रत, अहिंसा अनेकान्त आदि की दृष्टि से विभिन्न पहलुओं से कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र प्रस्तुत किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) किसी भी व्यक्ति को एकान्त पुण्यवान् (कल्याणवान्) अथवा एकान्त पापी नहीं कहना चाहिए।

(२) जगत् के सभी पदार्थ एकान्त नित्य हैं, या एकान्त अनित्य हैं, ऐसी एकान्त प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए।

(३) सारा जगत् एकान्तरूप से दुःखमय है, ऐसा नहीं कहना चाहिए।

(४) अमुक प्राणी वध्य (हनन करने योग्य) है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन मुंह से न निकाले।

(५) संसार में साधुतापूर्वक जीने वाले, आचारवान् भिक्षाजीवी साधु (प्रत्यक्ष) दीखते हैं, फिर भी ऐसी दृष्टि न रखे (या मिथ्याधारणा न बना ले) कि ये साधु कपटपूर्वक जीवन जीते हैं।

(६) साधुमर्यादा में स्थित साधु को ऐसी भविष्यवाणी नहीं करनी चाहिए कि तुम्हें अमुक के यहाँ से दान मिलेगा, अथवा आज तुम्हें भिक्षा प्राप्त होगी या नहीं ? वह मोक्षमार्ग का कथन करे।

इनकी अनाचरणीयता का रहस्य—किसी को एकान्ततः पुण्यवान् (या कल्याणवान्) कह देने से उसके प्रति लोग आकर्षित होंगे, सम्भव है, वह इसका दुर्लाभ उठाए। एकान्तपापी कहने से वैर बन्ध जाने की सम्भावना है। जगत् के सभी पदार्थ पर्यायतः परिवर्तनशील हैं, कोई भी वस्तु सदा एक-सी अवस्था में नहीं रहती इसलिए अनेकान्तदृष्टि से पदार्थ को एकान्त नित्य कहने से उसकी विभिन्न अवस्थाएँ नहीं बन सकतीं, एकान्तनित्य (बौद्धों की तरह) कहने से कृतनाश और अकृतप्राप्ति आदि दोष होते हैं। सारा जगत् एकान्तदुःखमय है, ऐसा कह देना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से अहिंसादि या रत्नत्रय की साधना करने का उत्साह नहीं रहता, तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय-प्राप्ति से साधक को असीम सुख का अनुभव होता है, इसलिए सत्यमहाव्रत में दोष लगता है। अहिंसाधर्मी साधु हत्यारे, परस्त्रीगामी, चोर, डाकू या उपद्रवी को देखकर यदि यह कहता है कि इन्हें मार डालना चाहिए तो उसका अहिंसा महाव्रत भंग हो जाएगा। यदि सरकार किसी भयंकर अपराधी को भयंकर दण्ड—मृत्युदण्ड (कानून की दृष्टि से) दे रही हो तो उस समय साधु बीच में पंचायती न करे कि इन्हें मारो-पीटो मत, इन्हें दण्ड न दो। यदि वह ऐसा कहता है, तो राज्य या जनता के कोप का भोजन बन सकता है, अथवा ऐसे दण्डनीय व्यक्ति को साधु निरपराध कहता है तो साधु को उसके पापकार्य का अनुमोदन लगता है। अतः साधु ऐसे समय में समभावपूर्वक मध्यस्थ वृत्ति से रहे। अन्यथा, भाषासमिति, अहिंसा, सत्य आदि भंग होने की सम्भावना है। किसी सुसाधु के विषय में गलतफहमी या पूर्वाग्रह से मिथ्याधारणा बना लेने पर (कि यह कपटजीवी है, अनाचारी है, साधुता से दूर है आदि) द्वेष, वैर बढ़ता है, पापकर्मबन्ध होता है, सत्यमहाव्रत में दोष लगता है। इसी प्रकार स्वतीर्थिक या परतीर्थिक साधु के द्वारा दान या

भिक्षा की प्राप्ति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भविष्यवाणी कर देने से यदि उक्त कथन के विपरीत हो गया तो साधु के प्रति अश्रद्धा बढ़ेगी, एकान्त निश्चयकारी भाषा बोलने से भाषासमिति एवं सत्यमहाव्रत में दोष लगेगा। दान प्राप्त न होने का कहने पर प्रश्नकार के मन में अन्तराय, निराशा, दुःख होना सम्भव है। कहने पर प्रश्नार्थी में अपार हर्षवश अधिकरणादि दोषों की सम्भावना है। अतः साधु को प्रश्नकर्त्ता साधु के समक्ष शान्ति-(मोक्ष) मार्ग में वृद्धि हो ऐसा ही कथन करना चाहिए।

एकान्तमार्ग का आश्रय अनाचार की कोटि में चला जाता है।

जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे—

७८६—इच्चेतेहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥३३॥
त्ति बेमि ॥

॥ अणायारसुयं : पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥

७८६—इस प्रकार इस अध्ययन में जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट या उपलब्ध (दृष्ट) स्थानों (तथ्यों) के द्वारा अपने आपको संयम में स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष प्राप्त होने तक (पंचाचार पालन में) प्रगति करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे—प्रस्तुत गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार इस अध्ययन में जिनोपदिष्ट अनाचरणीय मार्गों को छोड़कर आचरणीय पंचाचारपालन मार्गों में प्रगति करने का निर्देश करते हैं।

॥ अनाचारश्रुतः पंचम अध्ययन समाप्त ॥

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के छठे अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रक (भूतपूर्व राजकुमार और वर्तमान में श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा में स्वयं दीक्षित मुनि) से सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम आर्द्रकीय रखा गया।

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार आर्द्रकपुर नगर में, आर्द्रकनामक राजा का पुत्र तथा आर्द्रकवती रानी का अंगजात 'आर्द्रककुमार' बाद में आर्द्रक अनगार हो गया था। आर्द्रक से समुत्थित होने से इस अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रककुमार ने आर्द्रकपुर[1] नामक अनार्यदेशवर्ती नगर में जन्म लेकर मुनिदीक्षा कैसे ली? और भगवान् महावीर के धर्म का गाढ़ परिचय उसे कैसे हुआ? निर्युक्तिकार के अनुसार वह वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार है—आर्द्रकपुर नरेश और मगधनरेश श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसी कारण अभयकुमार से आर्द्रककुमार का परोक्ष परिचय हुआ। आर्द्रककुमार को अभयकुमार ने भव्य और शीघ्रमोक्षगामी समझकर उसके लिए आत्मसाधनोपयोगी उपकरण उपहार में भेजे। उन्हें देखते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हुआ। आर्द्रककुमार का मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। अपने देश से निकलकर भारत पहुँचा। दिव्यवाणी द्वारा मना किये जाने पर भी स्वयं आर्हतधर्म में प्रव्रजित हो गया। भोगावलीकर्मोदयवश दीक्षा छोड़कर पुनः गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होना पड़ा। अवधि पूर्ण होते ही पुनः साधुवेश धारण कर जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुँचने के लिए प्रस्थान किया। पूर्वजन्म का स्मरण होने से आर्द्रक को निर्ग्रन्थ महावीर एवं उनके धर्म का बोध हो गया था।

☐ मार्ग में आर्द्रकमुनि की चर्चा किन-किन के साथ, क्या-क्या हुई? यह इस अध्ययन के 'पुराकडं अद्द! इमं सुणेह' 'पाठ से आरम्भ होने वाले वाक्य से परिलक्षित होती है। इस वाक्य में उल्लिखित 'अद्द' सम्बोधन से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वादविवाद का सम्बन्ध 'आर्द्रक' के साथ है। निर्युक्ति एवं वृत्ति के अनुसार इस अध्ययन में आर्द्रक के साथ पांच मतवादियों के वादविवाद का वर्णन है—(१) गोशालक, (२) बौद्धभिक्षु, (३) वेदवादी ब्राह्मण, (४) सांख्यमतवादी एकदण्डी, और (५) हस्तितापस। आर्द्रकमुनि ने सबको युक्ति, प्रमाण एवं निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया है, जो बहुत ही रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।[2]

☐ यह अध्ययन सू. गा. ७८७ से प्रारम्भ होकर सू. गा. ८४१ पर समाप्त होता है।

---

१. कुछ विद्वान् आर्द्रकपुर वर्त्तमान 'एडन' को बताते हैं।—सं.

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३८५ से ३८८.
   (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १८७, १९०, १९८, १९९

अद्दइज्जं : छट्ठं अज्झयणं

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

भगवान महावीर पर लगाए गए आक्षेपों का आर्द्रकमुनि द्वारा परिहार—

७८७—पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, एगंतचारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतेण्हं पुढो वित्थरेणं ।।१।।

७८७—(गोशालक ने आर्द्रकमुनि से कहा—) हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने पहले जो आचरण किया था, उसे मुझ से सुन लो ! पहले वे एकान्त (निर्जन प्रदेश में अकेले) विचरण किया करते थे और तपस्वी थे । अव वे (आप जैसे) अनेक भिक्षुओं को इकट्ठा करके या अपने साथ रख कर पृथक्-पृथक् विस्तार से धर्मोपदेश देते हैं ।

७८८—साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं, सभागतो गणतो भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजण्णमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ।।२।।

७८८—उस अस्थिर (चंचलचित्त) महावीर ने यह तो अपनी आजीविका बना (स्थापित कर) ली है । वह जो सभा में जाकर अनेक भिक्षुओं के गण के बीच (बैठ कर) बहुत-से लोगों के हित के लिए धर्मोपदेश देते (व्याख्यान करते) हैं, यह उनका वर्त्तमान व्यवहार उनके पूर्व व्यवहार से मेल नहीं खाता; (यह पूर्वापर-विरुद्ध आचरण है ।)

७८९—एगंतमेव अदुवा वि इण्हिं, दोवऽण्णमण्णं न समेति जम्हा ।
पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगंतमेव पडिसंधयाति ।।३।।

७८९—(पूर्वार्द्ध) इस प्रकार या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त (निर्जन प्रदेश में एकाकी) विचरण ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है, अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहने का व्यवहार ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है । किन्तु परस्पर-विरुद्ध दोनों आचरण अच्छे नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर मेल नहीं, विरोध है ।

(उत्तरार्द्ध) [गोशालक के आक्षेप का आर्द्रकमुनि ने इस प्रकार समाधान किया—] श्रमण भगवान् महावीर पूर्वकाल में, वर्त्तमान काल में (अब) और भविष्यत्काल में (सदैव) एकान्त का ही अनुभव करते हैं । अतः उनके (पहले के और इस समय के) आचरण में परस्पर मेल है; (विरोध नहीं है) ।

७९०—समेच्च लोगं तस-थावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं साहयति तहच्चे ।।४।।

७९०—बारह प्रकार की तपःसाधना द्वारा आत्मशुद्धि के लिए श्रम करने वाले (श्रमण) एवं 'जीवों को मत मारो' का उपदेश देने वाले (माहन) भ० महावीर स्वामी (केवलज्ञान के द्वारा) समग्र लोक को यथावस्थित (सम्यक्) जानकर त्रस-स्थावर जीवों के क्षेम-कल्याण के लिए हजारों लोगों के बीच में धर्मोपदेश (व्याख्यान) करते हुए भी एकान्तवास (रागद्वेषरहित आत्म-स्थिति की साधना कर लेते हैं या अनुभूति कर लेते हैं। क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी प्रकार की (सदैव एकरूप) बनी रहती है।

७९१—धम्मं कहेंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जितेंदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥५॥

७९१—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश करने वाले भगवान् महावीर को कोई दोष नहीं होता, क्योंकि क्षान्त (क्षमाशील अथवा परीषहसहिष्णु), दान्त (मनोविजेता) और जितेन्द्रिय तथा भाषा के दोषों को वर्जित करने वाले भगवान् महावीर के द्वारा भाषा का सेवन (प्रयोग) किया जाना गुणकर है; (दोषकारक नहीं)।

७९२—महव्वते पंच अणुव्वते य, तहेव पंचासव संवरे य।
विरतिं इह स्सामणियम्मि पण्णे, लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥६॥

७९२—(घातिक) कर्मों से सर्वथा रहित हुए (लवावसर्पी) श्रमण भगवान् महावीर श्रमणों के लिए पंच महाव्रत तथा (श्रावकों के लिए) पांच अणुव्रत एवं (सर्वसामान्य के लिए) पांच आश्रवों और संवरों का उपदेश देते हैं। तथा (पूर्ण) श्रमणत्व (संयम) के पालनार्थ वे विरति का (अथवा पुण्य का, तथा उपलक्षण से पाप, बंध, निर्जरा एवं मोक्ष के तत्त्वज्ञान का) उपदेश करते हैं, यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—भ. महावीर पर लगाए गए आक्षेपों का आर्द्रक मुनि द्वारा परिहार—प्रस्तुत ६ सूत्र गाथाओं में आजीवकमतप्रवर्तक गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर लगाए गए कतिपय आक्षेप और प्रत्येक बुद्ध आर्द्रक मुनि द्वारा दिये गये उनके निवारण का अंकन किया गया है।

आक्षेपकार कौन, क्यों और कब?—यद्यपि मूल पाठ में आक्षेपकार के रूप में गोशालक का नाम कहीं नहीं आता, परन्तु निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार इसका सम्बन्ध गोशालक से जोड़ते हैं, क्योंकि आक्षेपों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेपकार (पूर्वपक्षी) भ० महावीर से पूर्व परिचित होना चाहिए। वह व्यक्ति गोशालक के अतिरिक्त और कोई नहीं है, जो तीर्थंकर महावीर के पवित्र जीवन पर कटाक्ष कर सके। आक्षेप इसलिए किये गये थे, कि आर्द्रकमुनि भ. महावीर की सेवा में जाने से रुक कर आजीवक संघ में आ जाएँ, इसीलिये जब आर्द्रकमुनि भ. महावीर की सेवा में जा रहे थे, तभी उनका रास्ता रोक कर गोशालक ने आर्द्रकमुनि के समक्ष भगवान् महावीर पर दोषारोपण किये।[1]

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३८८ का सारांश　　(ख) सूत्रकृ. निर्युक्ति गा-१९०
(ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास भा-१ पृ-१६५

आक्षेप के पहलू—(१) पहले भ. महावीर जनसम्पर्करहित एकान्तचारी थे, अब वे जनसमूह में रहते हैं, अनेक भिक्षुओं को अपने साथ रखते हैं। (२) पहले वे प्रायः मौन रहते थे, अब वे देव मानव और तिर्यञ्चों की परिषद् में धर्मोपदेश देते हैं। (३) पहले वे तपस्वी जीवन बिताते थे, अब वे उसे नीरस समझ कर छोड़ बैठे हैं, (४) महावीर ने पूर्वापर सर्वथा विरुद्ध आचार अपनी आजीविका चलाने के लिए ही अपनाया है, (५) इस पूर्वापरविरोधी आचार-व्यवहार को अपनाने से महावीर अस्थिरचित्त मालूम होते हैं, वे किसी एक सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह सकते।

अनुकूल समाधान—(१) श्रमण भगवान् महावीर अपनी त्रैकालिक चर्या में सदैव एकान्त का अनुभव करते हैं, अर्थात्—वे एकान्त में हों या जनसमूह में, सर्वत्र एकमात्र अपनी आत्मा (आत्मगुणों) में विचरण करते हैं।

(२) विशाल जनसमूह में उपदेश देने पर भी श्रोताजनों के प्रति वे राग या द्वेष नहीं करते हैं, सबके प्रति उनका समभाव है। पहले वे चतुर्विध घनघाती कर्मों का क्षय करने के लिए वाचिक संयम या मौन रखते थे, एकान्त सेवन करते थे, किन्तु अब घातिकर्मक्षयोपरान्त शेष चार अघातिक कर्मों के क्षय के लिए विशाल समवसरण में धर्मोपदेश की वाचिक प्रवृत्ति करते हैं। वस्तुतः पूर्वावस्था और वर्तमान अवस्था में कोई अन्तर नहीं है।

(३) न वे सत्कार-सम्मान-पूजा के लिए धर्मोपदेश करते हैं न जीविकानिर्वाह के लिए और न राग-द्वेष से प्रेरित होकर। अतः उन्हें अस्थिरचित्त बताना अज्ञान है।

(४) सर्वज्ञता-प्राप्त होने से पूर्व वस्तुस्वरूप को पूर्णतया यथार्थ रूप से जाने बिना धर्मोपदेश देना उचित नहीं होता, इसलिए भ. महावीर मौन एकान्तवास करते थे। अब केवलज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रभाव से समस्त त्रस-स्थावर प्राणियों को तथा उनके अधःपतन एवं कल्याण के कारणों को उन्होंने जान लिया है। अतः क्षेमंकर प्रभु पूर्ण समभावपूर्वक सब के क्षेम-कल्याण का धर्मोपदेश देते हैं। कृतकृत्य प्रभु को किसी स्वार्थसाधन से प्रयोजन ही क्या ?

(५) धर्मोपदेश देते समय हजारों प्राणियों के बीच में रहते हुए भी वे भाव से अकेले (राग-द्वेषरहित) शुद्ध स्वभाव में, अविकल बने रहते हैं। भगवान् स्वार्थ, रागद्वेष एवं ममत्व से सर्वथा रहित हैं।

(६) भाषा के दोषों का ज्ञान भगवान् में है, इसलिए भाषा संबंधी दोषों से सर्वथा रहित उनकी धर्मदेशना दोषरूप नहीं, गुणवर्धक ही है। वे प्राणियों को पवित्र एवं एकान्त हितकर मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

(७) फिर वे वीतराग परम तपस्वी घातिकर्मों से दूर हैं, इसलिए साधु, श्रावक तथा सामान्य जनों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप उपदेश देते हैं। अतः उन पर पापकर्म करने का दोषारोपण करना मिथ्या है।[1]

गोशालक द्वारा सुविधावादी धर्म की चर्चा : आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—

७९३—सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहाय कम्मं तह इत्थियाओ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णोऽहिसमेति पावं ॥७॥

---

१. सूत्रकृ. शी. वृ. पत्रांक ३८९-३९० का सारांश

७९३—(गोशालक ने अपने आजीवक धर्मसम्प्रदाय का आचार समझाने के लिए आर्द्रक मुनि से कहा—) कोई शीतल (कच्चा) जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियों का सेवन भले ही करता हो, परन्तु जो एकान्त (अकेला निर्जनप्रदेश में) विचरण करनेवाला तपस्वी साधक है, उसे हमारे धर्म में पाप नहीं लगता।

७९४—सीतोदगं या तह बीयकायं, आहाय कम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥८॥

७९४—(आर्द्रक मुनि ने इस धर्माचार का प्रतिवाद किया—) सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियाँ, इनका सेवन करनेवाला गृहस्थ (घरबारी) होता है, श्रमण (अनगार) नहीं हो सकता।

७९५ - सिया य बीओदग इत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंति।
अगारिणो वि समणा भवंतु, सेवंति जं ते वि तहप्पगारं ॥९॥

७९५—यदि बीजकाय, सचित्त जल एवं स्त्रियों का सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों नहीं माने जाएँगे? वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं। (तथा वे भी परदेश आदि में अकेले रहते या घूमते हैं, और कुछ तप भी करते हैं।)

७९६—जे यावि बीओदगभोति भिक्खू भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी।
ते णातिसंजोगमवि प्पहाय, कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥१०॥

७९६—(अतः) जो भिक्षु (अनगार) हो कर भी सचित्त, बीजकाय, (सचित्त) जल एवं आधाकर्मदोष युक्त आहारादि का उपभोग करते हैं, वे केवल जीविका (जीवन-निर्वाह) के लिए भिक्षावृत्ति करते हैं। वे अपने ज्ञातिजनों (परिवार आदि) का संयोग छोड़कर भी अपनी काया के ही पोषक हैं, वे अपने कर्मों का या जन्म-मरण रूप संसार का अन्त करने वाले नहीं हैं।

विवेचन—गोशालक द्वारा अपने सुविधावादी धर्म की चर्चाः आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद— प्रस्तुत सूत्रगाथाओं में गोशालक ने प्रथम अपने सुविधावादी भिक्षुधर्म की चर्चा की है, और आर्द्रक मुनि ने इसका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उन्होंने सचित्त जलादि सेवन करने वाले भिक्षुओं को गृहस्थतुल्य, जीविका के लिए भिक्षावृत्ति अपनाने वाले, शरीरपोषक एवं (जीवोपमर्दक आरम्भ में प्रवृत्त होने से) जन्म-मरणरूप संसार का अन्त करने में असमर्थ बताया है।[1]

७९७—इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरहसि सव्व एव।
पावाइणो उ पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउं ॥११॥

७९७—(गोशालक ने पुनः आर्द्रक से कहा—) हे आर्द्रक! इस वचन (भिक्षुधर्माचार का खण्डनात्मक प्रतिवाद) को कह कर तुम समस्त प्रावादुकों (विभिन्न धर्म के व्याख्याताओं) की निन्दा

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९१ का सारांश

करते हो। प्रावादुकगण (धर्मव्याख्याकार) अपने-अपने धर्म-सिद्धान्तों की पृथक्-पृथक् व्याख्या (या प्रशंसा) करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि या मान्यता प्रकट करते हैं।

७९८—ते अण्णमण्णस्स वि गरहमाणा, अक्खंति उ समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठि ण गरहामो किंचि ॥१२॥

७९९—ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सं दिट्ठिमग्गं तु करेमो पाउं।
मग्गे इमे किट्टिते आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥१३॥

७९८-७९९—(आर्द्रक मुनि गोशालक से कहते हैं—) वे (अन्यधर्मतीर्थिक) श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं। अपने धर्म में कथित अनुष्ठान से ही पुण्य धर्म या मोक्ष होना कहते हैं, दूसरे धर्म में कथित क्रिया के अनुष्ठान से नहीं।' हम उनकी (इस एकान्त व एकांगी) दृष्टि की निन्दा करते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की निन्दा नहीं करते।

हम किसी के रूप, वेष आदि की निन्दा नहीं करते, अपितु हम अपनी दृष्टि (अनेकान्तात्मक दर्शन) से पुनीत मार्ग (यथार्थ वस्तु स्वरूप) को अभिव्यक्त करते हैं। यह मार्ग अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) है, और आर्य सत्पुरुषों ने इसे ही निर्दोष कहा है।

८००—उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, णो गरहति वुसिमं किंचि लोए ॥१४॥

८००—ऊर्ध्वदिशा अधोदिशा एवं तिर्यक् (तिरछी-पूर्वादि) दिशाओं में जो जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, उन प्राणियों की हिंसा (की आशंका) से घृणा करने वाले संयमी पुरुष इस लोक में किसी की निन्दा नहीं करते। (अतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करना निन्दा नहीं है।)

विवेचन—दार्शनिकों के विवाद के सम्बन्ध में गोशालक की दृष्टि का समाधान—प्रस्तुत ४ सूत्र गाथाओं में आर्द्रक पर-निन्दा करने का आक्षेप और आर्द्रक द्वारा किया गया स्पष्ट समाधान अंकित है।

गोशालक द्वारा पर-निन्दा का आक्षेप—"विभिन्न दार्शनिक अपनी-अपनी दृष्टि से सचित्त जलादि-सेवन करते हुए धर्म, पुण्य या मोक्ष बताते हैं, परन्तु तुमने उनकी निन्दा करके अपना अहंकार प्रदर्शित किया है।"

आर्द्रक द्वारा समाधान—(१) समभावी साधु के लिए व्यक्तिगत रूप, वेष आदि की निन्दा करना अनुचित है। हम किसी के वेषादि की निन्दा नहीं करते। सत्य मार्ग का कथन करना ही हमारा उद्देश्य है। (२) अन्य धर्मतीर्थिक ही एकान्त दृष्टि से स्वमतप्रशंसा और परमतनिन्दा करते हैं। हम तो अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्वरूप का यथार्थ कथन कर रहे हैं। मध्यस्थभाव से सत्य की अभिव्यक्ति करना निन्दा नहीं है।[1] जैसे नेत्रवान् पुरुष अपनी आँखों से बिल, काँटे, कीड़े और सांप

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ३९२ का सारांश।

आदि को देख कर उन सबको बचा कर ठीक रास्ते से चलता है, दूसरों को भी बताता है। इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान, कुश्रुति, कुमार्ग और कुदृष्टि के दोषों का सम्यक् विचार करके चलता-चलाता है, ऐसा करने में कौन-सी पर-निन्दा है ?"[1] (३) वस्तुतः आर्यपुरुषों द्वारा प्रतिपादित सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग ही कल्याण का कारण है, इससे विपरीत त्रस-स्थावर प्राणिहिंसाजनक, अब्रह्मचर्यसमर्थक कोई भी मार्ग हो, वह संसार का अन्तकारक एवं कल्याणकारक नहीं है। ऐसा वस्तु-स्वरूपकथन निन्दा नहीं है।

भीरु होने का आक्षेप और समाधान—

८०१—आगंतागारे आरामागारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।
दक्खा हु संती बहवे मणूसा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥१५॥

८०२—मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य निच्छयण्णू।
पुच्छिसु मा णे अणगार एगे, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१६॥

८०१-८०२—(गोशालक ने पुनः आर्द्रकमुनि से कहा—) तुम्हारे श्रमण (महावीर) अत्यन्त भीरु (डरपोक) हैं, इसीलिए तो पथिकागारों (जहाँ बहुत-से आगन्तुक-पथिक ठहरते हैं, ऐसे गृहों) में तथा आरामगृहों (उद्यान में बने हुए घरों) में निवास नहीं करते, (कारण, वे सोचते हैं कि) उक्त स्थानों में बहुत-से (धर्म-चर्चा में) दक्ष मनुष्य ठहरते हैं, जिनमें कोई कम या कोई अधिक वाचाल (लप-लप करने वाले) होते हैं, कोई मौनी होते हैं।

(इसके अतिरिक्त) कई मेधावी, कई शिक्षा प्राप्त, कई बुद्धिमान् औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न तथा कई सूत्रों और अर्थों के पूर्णरूप से निश्चयज्ञ होते हैं। अतः दूसरे अनगार मुझ से कोई प्रश्न न पूछ बैठें, इस प्रकार की आशंका करते हुए वे (श्रमण भ. महावीर) वहां नहीं जाते।

८०३—नाकामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुतो भएणं।
वियागरेज्जा पसिणं न वावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं ॥१७॥

८०३—(आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया—) भगवान् महावीर स्वामी (प्रेक्षापूर्वक किसी कार्य को करते हैं, इसलिए) अकामकारी (निरुद्देश्यकार्यकारी) नहीं हैं, और न ही वे बालकों की तरह (अज्ञानपूर्वक एवं अनालोचित) कार्यकारी हैं। वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते, फिर अन्य (लोगों के दबाव या) भय से करने की तो बात ही कहाँ ? भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते। वे इस जगत् में आर्य लोगों के लिए तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म के क्षय के लिए धर्मोपदेश करते हैं।

८०४—गंता व तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियाऽऽसुपण्णे।
अणारिया दंसणतो परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१८॥

---

१. नेत्रैर्निरीक्ष्य बिल-कण्टक-कीट सर्पान् सम्यक्पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान्।
कुज्ञान-कुश्रुति-कुमार्ग-कुदृष्टि-दोषान्, सम्यक् विचारयत कोऽत्र परापवादः ?
—सूत्रकृ. शी. वृत्ति में उद्धृत

८०४—सर्वज्ञ (आशुप्रज्ञ) भगवान् महावीर स्वामी वहाँ (श्रोताओं के पास) जाकर अथवा न जाकर समभाव से धर्मोपदेश करते हैं। परन्तु अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं, इस आशंका से भगवान् उनके पास नहीं जाते।

विवेचन—भीरु होने का आक्षेप और समाधान—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (८०१ से ८०४ तक) में से दो गाथाओं में गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर भीरु होने का आक्षेप है, और शेष दो गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा अकाट्य युक्तियों द्वारा किया गया समाधान अंकित है।

गोशालक के आक्षेप : महावीर भय एवं राग-द्वेष से युक्त—(१) वे इस भय से सार्वजनिक स्थानों में नहीं ठहरते कि वहाँ कोई योग्य शास्त्रज्ञ विद्वान् कुछ पूछ बैठेगा, तो क्या उत्तर दूंगा?

आर्द्रकमुनि द्वारा समाधान—(१) भगवान् महावीर अकुतोभय हैं और सर्वज्ञ हैं, इसलिए किसी भी स्थान में ठहरने या न ठहरने में उन्हें कोई भय नहीं है। वे न राजा के भय से कोई कार्य करते हैं, न किसी अन्य प्राणी का उन्हें भय है। किन्तु वे निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करते, और न ही बालकों की तरह बिना विचारे कोई कार्य करते हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं इसलिए उन्हें जिससे दूसरे का उपकार होता दिखता है, वही कार्य वे करते हैं। अपने उपकार से दूसरे का कोई हित होता नहीं देखते वहाँ वे उपदेश नहीं करते। प्रश्नकर्ता का उपकार देख कर भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं देते। वे स्वतन्त्र हैं, पूर्वोपार्जित [तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने तथा आर्यपुरुषों के उपकार के लिए धर्मोपदेश करते हैं। चाहे चक्रवर्ती हो या दरिद्र, यदि वह भव्य हो, और उपकार होता ज्ञात हो तो वे किसी पक्षपात के बिना वहाँ जा कर भी समभाव से उपदेश देते हैं। अन्यथा, वहाँ रह कर भी उपदेश नहीं देते। इसलिए उनमें राग-द्वेष की गन्ध भी नहीं है।[1]

गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—

८०५—पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेंति संगं।
तउवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥१९॥

८०५—(गोशालक ने फिर कहा—) जैसे लाभार्थी (उदयार्थी) वणिक् क्रय-विक्रय के योग्य (पण्य) वस्तु को लेकर आय (लाभ) के हेतु (महाजनों का) संग (सम्पर्क) करता है, यही उपमा श्रमण के लिए (घटित होती) है; ये ही वितर्क (विचार) मेरी बुद्धि में उठते हैं।

८०६—नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं तायति साह एवं।
एत्तावया बंभवति त्ति वुत्ते, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥२०॥

८०६—(आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया—) भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म (बन्ध) नहीं करते, अपितु वे पुराने (बंधे हुए) कर्मों का क्षपण (क्षय) करते हैं। (क्योंकि) षड्जीवनिकाय के त्राता, वे भगवान्) स्वयं यह कहते हैं कि प्राणी कुबुद्धि का त्याग करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९३ का सारांश

इसी दृष्टि से इसे ब्रह्म-पद या ब्रह्मव्रत (मोक्षव्रत) कहा गया है। उसी मोक्ष के लाभार्थी (उदयार्थी) श्रमण भगवान् महावीर हैं, ऐसा मैं कहता हूँ।

८०७—समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमीणा।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पकरेंति संगं ॥२१॥

८०७—(और हे गोशालक!) वणिक् (गृहस्थ व्यापारी) प्राणिसमूह (भूतग्राम) का आरम्भ करते हैं, तथा (द्रव्य-) परिग्रह पर ममत्व भी रखते हैं, एवं वे ज्ञातिजनों के साथ ममत्वयुक्त संयोग (सम्बन्ध) नहीं छोड़ते हुए, आय (लाभ) के हेतु दूसरों (संसर्ग न करने योग्य व्यक्तियों) से भी संग करते हैं।

८०८—वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥२२॥

८०८—वणिक् धन के अन्वेषक और मैथुन (स्त्रीसम्बन्धी कामभोग) में गाढ़ आसक्त होते हैं, तथा वे भोजन (भोगों) की प्राप्ति के लिए इधर-उधर जाते रहते हैं। अतः हम तो ऐसे वणिकों (व्यापारियों) को काम-भोगों में अत्यधिक आसक्त, प्रेम (राग) के रस (स्वाद) में गृद्ध (ग्रस्त) और अनार्य कहते हैं। (भगवान् महावीर इस प्रकार के स्वहानिकर्ता वणिक् नहीं हैं।)

८०९—आरंभयं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥२३॥

८०९—(इसी प्रकार) वणिक् आरम्भ और परिग्रह का व्युत्सर्ग (त्याग) नहीं करते, (अपितु) उन्हीं में निरन्तर बधे हुए (आश्रित) रहते हैं और (असदाचारप्रवृत्ति करके) आत्मा को दण्ड देते रहते हैं। उनका वह उदय (-लाभ), जिससे आप उदय (लाभ) बता रहे हैं, वस्तुतः उदय नहीं है बल्कि वह चातुर्गतिक अनन्त संसार (लाभ) या दुःख (रूप लाभ) के लिए होता है। वह (वास्तव में) उदय (लाभ) है ही नहीं, होता भी नहीं।

८१०—णेगंत णच्चंतिय उदये से, वयंति ते दो विगुणोदयंमि।
से उदए सातिमणंतपत्ते तमुदयं साहति ताइ णाती ॥२४॥

८१०—पूर्वोक्त सावद्य अनुष्ठान करने से वणिक् का जो उदय होता है) वह न तो एकान्तिक (सर्वथा या सार्वत्रिक) है और न आत्यन्तिक (सार्वकालिक)। विद्वान् लोग कहते हैं कि जो उदय इन दोनों गुणों (एकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुखरूप गुणों से रहित है, उसमें कोई गुण (लाभ या विशेषता) नहीं है। किन्तु उनको (भगवान् महावीर को) जो उदय=लाभ (धर्मोपदेश से प्राप्त निर्जरारूप प्राप्त है, वह आदि और अनन्त है। (ऐसे उदय को प्राप्त आसन्न भव्यों के) त्राता (अथवा तायी=मोक्षगामी) एवं ज्ञातवंशीय या समस्त वस्तुजात के ज्ञाता भगवान् महावीर इसी (पूर्वोक्त) उदय केवलज्ञानरूप या धर्मदेशना से प्राप्त निर्जरारूप लाभ) का दूसरों को उपदेश करते हैं, या इसकी प्रशंसा करते हैं।

८११—अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठितं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहिए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

८११—भगवान् प्राणियों की हिंसा से सर्वथा रहित हैं, तथा समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा (दया) करते हैं। वे धर्म (शुद्ध-आत्मधर्म) में सदैव स्थित रहते हैं। ऐसे कर्मविवेक (कर्म-निर्जरा) के कारणभूत वीतराग सर्वज्ञ महापुरुष को, आप जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले व्यक्ति ही वणिक् के सदृश कहते हैं। यह कार्य आपके (तुम्हारे) अज्ञान के अनुरूप ही है।

विवेचन—गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक् की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं (८०५ से ८११ तक) में से प्रथम गाथा में गोशालक द्वारा भगवान् को दी गई उदयार्थी वणिक् की उपमा अंकित है, शेष छह गाथाओं में आर्द्रकमुनि द्वारा युक्तिपूर्वक उसका प्रतिवाद प्रस्तुत किया गया है।

गोशालक का आक्षेप : श्रमण महावीर लाभार्थी वणिक् तुल्य—जैसे लाभार्थी वणिक् अपना माल लेकर परदेश में जाता है, वहाँ लाभ के निमित्त महाजनों से सम्पर्क करता है, वैसे ही महावीर भी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा आहारादि के लाभ के लिए विभिन्न देशों में जाते हैं, वहाँ राजा आदि बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क करते हैं। अतः वे वणिक् तुल्य हैं।

आर्द्रक मुनि द्वारा सयुक्तिक प्रतिवाद—(१) लाभार्थी वणिक् के साथ भ. महावीर की एक-देशीय (आंशिक) तुल्यता तो संगत है, क्योंकि भ. महावीर भी जहाँ आत्मिक उपकारादि लाभ देखते हैं, वहाँ उपदेश करते हैं, अन्यथा नहीं। (२) किन्तु लाभार्थी वणिक् के साथ भ. महावीर की सम्पूर्ण तुल्यता निम्नोक्त कारणों से सर्वथा असंगत और अज्ञानमूलक है—(अ) भ. महावीर सर्वज्ञ हैं, वणिक् अल्पज्ञ, सर्वज्ञ होने से भगवान् सर्वसावद्यकार्यों से रहित हैं, इसी कारण वे नये कर्म बन्धन नहीं करते, पूर्वबद्ध (भवोपग्राही) कर्मों की निर्जरा या क्षय करते हैं, तथा कर्मोपार्जन की कुबुद्धि का सर्वथा त्याग करके वे मोक्ष की ओर अग्रसर होते जाते हैं, इस सिद्धान्त का वे प्रतिपादन भी करते हैं। इस दृष्टि से भगवान् मोक्षोदयार्थी—मुक्तिलाभार्थी मोक्षव्रती अवश्य हैं, जबकि अल्पज्ञ वणिक् न तो सावद्यकार्यों से रहित होते हैं, न ही नया कर्मबन्धन रोकते हैं, न पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय के लिए प्रयास करते हैं, इस दृष्टि से वणिकों का मुख मोक्ष की ओर नहीं है, न वे इस प्रकार से मोक्षलाभ कर सकते हैं।

(आ) वणिक् व्यापार, गृहकार्य आदि में आरम्भ करके अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं, परि-ग्रह पर ममत्व रखते हैं, धन एवं स्वार्थ के लिए स्वजनों-परिजनों के साथ आसक्तिमय संसर्ग रखते हैं, जबकि भ. महावीर निरारम्भी एवं निष्परिग्रही हैं, वे किसी के साथ किसी प्रकार का आसक्तिसंयोग नहीं रखते, वे अप्रतिबद्धविहारी हैं। सिर्फ धर्मवृद्धि के लिए उपदेश देते हैं। अतः वणिक् के साथ भगवान् का सादृश्य बताना सर्वथा विरुद्ध है। (इ) वणिक् एकमात्र धन के अभिलाषी, कामासक्त रहते हैं एवं भोजन या भोगों की प्राप्ति के लिए भटकते हैं। इसलिए कामभोग, रागद्वेष, पापकर्म, एवं कंचन-कामिनी के सर्वथा त्यागी मोक्षलाभार्थी भगवान् महावीर ऐसे रागलिप्त, काममूढ़ एवं अनार्य वणिकों के सदृश कैसे हो सकते हैं? (ई) वणिक् सावद्य आरम्भ और परिग्रह को सर्वथा छोड़ नहीं सकते, इस कारण आत्मा को कर्मबन्धन से दण्डित करते रहते हैं। इससे अनन्तकाल तक चतुर्गतिपरिभ्रमण का लाभ होता है, जो वास्तव में आत्महानिकारक होने से लाभ ही नहीं है, जबकि

भ. महावीर इन सबसे सर्वथा दूर होने से स्वपर—आत्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। (उ) वणिक् को होने वाला धनादि लाभ ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुखरूप नहीं होता, इसलिए वह वास्तविक लाभ है ही नहीं, जबकि भ. महावीर को होने वाला दिव्यज्ञान रूप या कर्म निर्जरारूप लाभ एकान्तिक एवं आत्यन्तिक है। केवलज्ञान रूप लाभ सादि-अनन्त है, स्थायी, अनुपम एवं यथार्थ लाभ है। (ऊ) अतः सर्वथा अहिंसक, सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पाशील, धर्मनिष्ठ एवं कर्मक्षयप्रवृत्त भगवान् की तुलना हिंसापरायण, निरनुकम्पी, धर्म से दूर एवं कर्मबन्धनप्रवृत्त वणिक् से करना युक्तिविरुद्ध एवं अज्ञानता का परिचायक है।[1]

बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त-मण्डन—

८१२—पिण्णागपिंडीमवि विद्धु सूले, केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणवहेण अम्हं ॥२६॥

८१२—(शाक्यभिक्षु आर्द्रक मुनि से कहने लगे—) कोई व्यक्ति खलो के पिण्ड को 'यह पुरुष है' यों मानकर शूल से बींध कर (आग में) पकाए अथवा तुम्बे को कुमार (बालक) मान कर पकाए' तो हमारे मत में वह प्राणिवध (हिंसा) के पाप से लिप्त होता है।

८१३—अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीए णरं पएज्जा।
कुमारगं वा वि अलाउए त्ति, न लिप्पती पाणवहेण अम्हं ॥२७॥

८१३. अथवा वह म्लेच्छ पुरुष मनुष्य को खली समझ कर उसे शूल में वींध कर पकाए, अथवा कुमार को तुम्वा समझ कर पकाए तो वह हमारे मत में प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता।

८१४—पुरिसं व विद्धूण कुमारकं वा, सूलंमि केई पए जाततेए।
पिण्णायपिंडी सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥

८१४. कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मान कर उसे शूल में बींध कर आग में डाल कर पकाए तो (हमारे मत में) वह (मांसपिण्ड) पवित्र है, वह बुद्धों के पारणे के योग्य है।

८१५—सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए भिक्खुगाणं।
ते पुण्णखंधं सुमहऽज्जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

८१५. जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह महान् पुण्यराशि (पुण्यस्कन्ध) का उपार्जन करके महापराक्रमी (महासत्त्व) आरोप्य नामक देव होता है।

८१६—अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अवोहिए दोण्ह वि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥३०॥

---

१. सूत्रकृताग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९४-३९५ का सारांश

८१६. (आर्द्रक मुनि ने बौद्धभिक्षुओं को प्रत्युत्तर दिया—) आपके इस शाक्यमत में पूर्वोक्त सिद्धान्त संयमियों के लिए अयोग्यरूप है। प्राणियों का (जानबूझ कर) घात करने पर भी पाप नहीं होता, जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते या मान लेते हैं; दोनों के लिए अबोधिलाभ का कारण है, और बुरा है।

८१७—उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, विण्णाय लिंगं तस-थावराणं।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ॥३१॥

८१७. 'ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में त्रस और स्थावर जीवों के अस्तित्व का लिंग (हेतु या चिह्न) जान कर जीवहिंसा की आशंका से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचार कर बोले या कार्य करे तो उसे पाप-दोष कैसे हो सकता है?'

८१८—पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो? पिन्नगपिंडियाए, वाया वि एसा वुइया असच्चा ॥३२॥

८१८. खली के पिण्ड में पुरुष-बुद्धि तो मूर्ख को भी नहीं होती। अतः जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है। खली के पिण्ड में पुरुष की बुद्धि कैसे सम्भव है? अतः आपके द्वारा कही हुई यह (ऐसी) वाणी भी असत्य है।

८१९—वायाभिओगेण जया वहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरेज्जा।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, जे दिक्खिते बूयमुरालमेतं ॥३३॥

८१९. जिस वचन के प्रयोग से जीव पापकर्म का उपार्जन करे, ऐसा वचन (भाषादोषगुणज्ञ विवेकी पुरुष को) कदापि नहीं बोलना चाहिए। (प्रव्रजितों के लिए) यह (आपका पूर्वोक्त) वचन गुणों का स्थान नहीं है। अतः दीक्षित व्यक्ति ऐसा निःसार वचन नहीं बोलता।

८२०—लद्धे अहट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए य।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, ओलोइए पाणितले ठिते वा ॥३४॥

८२०. अहो बौद्धो! तुमने ही (संसारभर के) पदार्थों को उपलब्ध कर (जान) लिया है!; तुमने ही जीवों के कर्मफल का अच्छी तरह चिन्तन किया है!, तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैल गया है!, तुमने ही करतल (हथेली) पर रखे हुए पदार्थ के समान इस जगत् को देख लिया है।

८२१—जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अण्णविहीए सोही।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥३५॥

८२१. (जैनशासन के अनुयायी साधक) (कर्मफल-स्वरूप होने वाली) जीवों की पीड़ा का सम्यक् चिन्तन करके आहारग्रहण करने की विधि से (बयालीस दोषरहित) शुद्ध (भिक्षाप्राप्त) आहार स्वीकार करते हैं; वे कपट से जीविका करने वाले बन कर मायामय वचन नहीं बोलते। जैनशासन में संयमीपुरुषों का यही धर्म है।

८२२—सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नितिए भिक्खुयाणं।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णिगच्छती गरहमिहेव लोए ॥३६॥

८२२. जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार स्नातक भिक्षुओं को (पूर्वोक्त मांसपिण्ड का) भोजन कराता है, वह असंयमी रक्त से रंगे हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दापात्र होता है।

८२३—थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पकप्पइत्ता।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पकरेंति मंसं ॥३७॥

८२४—तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, न उवलिप्पामो वयं रएणं।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥३८॥

८२३-८२४. आपके मत में बुद्धानुयायी जन एक बड़े स्थूल भेड़े को मार कर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के उद्देश्य से कल्पित कर (बना कर) उस (भेड़े के मांस) को नमक और तेल के साथ पकाते हैं, फिर पिप्पली आदि द्रव्यों (मसालों) से बघार कर तैयार करते हैं। (यह मांस बौद्ध-भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है, यही उनके आहारग्रहण की रीति है।)

अनार्यों के-से स्वभाव वाले अनार्य (कर्मकारक), एवं रसों में गृद्ध (लुब्ध) वे अज्ञानी बौद्ध-भिक्षु कहते हैं कि (इस प्रकार से बना हुआ) बहुत-सा मांस खाते हुए भी हम लोग पापकर्म (रज) से लिप्त नहीं होते।

८२५—जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइता तु मिच्छा ॥३९॥

८२५. जो लोग इस प्रकार के मांस का सेवन करते हैं, वे (पुण्य-पाप के) तत्त्व को नहीं जानते हुए पाप का सेवन करते हैं। जो पुरुष कुशल (तत्त्वज्ञान में निपुण) हैं, वे ऐसे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते (मन में भी नहीं लाते)। मांस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है।

८२६—सव्वेसि जीवाणा दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥४०॥

८२६. समस्त जीवों पर दया करने के लिए, सावद्यदोष से दूर रहने वाले तथा (आहारादि में) सावद्य (पापकर्म) की आशंका (छानबीन) करने वाले, ज्ञातपुत्रीय (भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य) ऋषिगण उद्दिष्ट भक्त (साधु के निमित्त आरम्भ करके तैयार किये हुए भोजन) का त्याग करते हैं।

८२७—भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाणमिहायदंडं।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पकारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥४१॥

८२७. प्राणियों के उपमर्दन की आशंका से, सावद्य अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ

श्रमण समस्त प्राणियों को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करते हैं, इसलिए वे (दोषयुक्त)आहारादि का उपभोग नहीं करते। इस जैनशासन में संयमी साधकों का यही परम्परागत धर्म (अनुधर्म) है।

८२८—निग्गंथधम्मम्मि इमा समाही, अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेते इच्चत्थतं पाउणती सिलोगं ॥४२॥

८२८. इस निर्ग्रन्थधर्म में इस समाधि (आचार-समाधि या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप समाधि) में सम्यक् प्रकार से स्थित हो कर मायारहित हो कर इस निर्ग्रन्थ धर्म में जो विचरण करता है, वह प्रबुद्ध मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने—जानने वाला) शील और गुणों से युक्त होकर अत्यन्त पूजा-प्रशंसा (श्लोक को) प्राप्त करता है।

विवेचन—बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त मण्डन—प्रस्तुत १७ सूत्रगाथाओं में पहली चार गाथाओं में आर्द्रक मुनि के समक्ष बौद्धभिक्षुओं ने जो अपना हिंसायुक्त आचार प्रस्तुत किया है, वह अंकित है। शेष १३ गाथाओं में से कुछ गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा बौद्धमत का निराकरण एवं फिर कुछ गाथाओं में जैनेन्द्रसिद्धान्त का समर्थन अंकित है।

बौद्ध भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत चार अपसिद्धान्त—(१) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को पुरुष एवं तुम्बे को कुमार समझ कर उसे शूल से वींध कर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, (२) कोई व्यक्ति पुरुष को खली का पिण्ड एवं कुमार को तुम्बा समझकर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता, (३) कोई पुरुष मनुष्य या बालक को खली का पिण्ड समझकर आग में पकाए तो वह भोजन पवित्र है और बौद्धभिक्षुओं के लिए भक्ष्य है। और (४) इस प्रकार का (मांस) भोजन तैयार करके जो प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओं को खिलाता है, वह महान् पुण्यस्कन्ध उपार्जित करके आरोप्य देव होता है।[1]

आर्द्रकमुनि द्वारा इन अपसिद्धान्तों का खण्डन—(१) प्राणिघातजन्य आहार संयमी साधुओं के लिए अयोग्य है (२) प्राणिघात से पाप नहीं होता, ऐसा कहने-सुनने वाले दोनों अबोधि बढ़ाते हैं। (३) खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि या पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि सम्भव नहीं है। अतएव उक्त ऐसा कथन आत्मवंचनापूर्ण और असत्य है। (४) पापोत्पादक भाषा कदापि न बोलनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मबन्धजनक होती है। (५) दो हजार भिक्षुओं को जो पूर्वोक्तरीति से प्रतिदिन मांसभोजन कराता है, उसके हाथ रक्तलिप्त होते हैं, वह लोकनिन्द्य है; क्योंकि मांसभोजन तैयार होता है-पुष्ट भेड़े को मार कर नमक-तेल आदि के साथ पका कर मसालों के बघार देने से; वह हिंसाजनक है (६) जो बौद्धभिक्षु यह कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से गृहस्थ द्वारा तैयार किया हुआ भोजन करते हुए हम पापलिप्त नहीं होते, वे पुण्य-पाप के तत्त्व से अनभिज्ञ, अनार्य प्रकृति अनार्य कर्मी, रसलोलुप एवं स्वपरवञ्चक है। अतः मांस हिंसाजनित, रौद्रध्यान का हेतु, अपवित्र, निन्द्य, अनार्यजन सेवित एवं नरकगति का कारण है। मांसभोजी, आत्मद्रोही और आत्म-कल्याणद्वेषी है। वह मोक्षमार्ग का आराधक नहीं है।[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९६ का सारांश

२. वही, पत्रांक ३९७ से ३९९ का सारांश

जैनेन्द्र सिद्धान्त का समर्थन—(१) निर्ग्रन्थ भिक्षु समस्त प्राणियों पर दयालु होने से आरम्भ-जनित या हिंसाजनित आहारादि के त्यागी होते हैं। वे सात्त्विक आहार भी उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के ४२ दोषों से रहित शुद्ध कल्पनीय ग्रहण करते हैं, इसलिए मांसभोजन तो क्या, उद्दिष्ट भोजन का भी त्याग करते हैं। वे कपटभाषा का (बौद्धों की तरह) प्रयोग करके अभक्ष्य आहारादि नहीं लेते। (२) इस निर्ग्रन्थ धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थज्ञाता समस्त द्वन्द्वों से रहित मूलगुण एवं उत्तरगुणों से सम्पन्न साधक दोनों लोकों में प्रशंसनीय बन जाते हैं।

'अणुधम्मो'—इसके दो अर्थ हैं—(१) पहले तीर्थंकर ने इस निर्ग्रन्थ धर्म का आचारण किया, तत्पश्चात् उनके शिष्यगण इसका आचारण करने लगे, इसलिए इस धर्म को अनुधर्म कहते हैं। (२) अथवा यह अणुधर्म है, सूक्ष्मधर्म है, शिरीष पुष्प सम कोमल है, जरा-सा भी अतिचार (दोष) लगने पर नष्ट होने लगता है।

'निग्गंथधम्मो'—निर्ग्रन्थ का अर्थ यहाँ प्रसंगवश किया गया है—"जो सब प्रकार के ग्रन्थों=कपटों से रहित हो, उनका धर्म निर्ग्रन्थ धर्म है।"[1]

पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन का फल—

८२९—सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहणाणं।
ते पुण्णखंधं सुमहऽज्जिणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥४३॥

८२९—(बौद्ध भिक्षुओं को परास्त करके आर्द्रकमुनि आगे बढ़े तो ब्राह्मणगण उनके पास आ कर कहने लगे—(हे आर्द्रक!) जो पुरुष प्रति-दिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता है, वह महान् पुण्यपुञ्ज उपार्जित करके देव होता है, यह वेद का कथन है।

८३०—सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए कुलालयाणं।[2]
से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

८३०—(ब्राह्मणों के मन्तव्य का प्रतिकार करते हुए आर्द्रक ने कहा—) क्षत्रिय आदि कुलो में भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो (दाता) प्रतिदिन भोजन कराता है, वह व्यक्ति मांसलोलुप प्राणियों (पक्षियों) से व्याप्त (प्रगाढ़) नरक में जा कर निवास करता है, जहाँ वह तीव्रतम ताप भोगता रहता है।

८३१—दयावरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे।
एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कतो सुरेहिं? ॥४५॥

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९९
(ख) निर्गतः ग्रन्थेभ्यः कपटेभ्यइति निर्ग्रन्थः। —सूत्रकृतांग शी. वृत्ति पत्रांक ३९९ में उद्धृत।

२. कुलालयाणं—'कुलानि गृहाण्यामिषान्वेषिणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटाः—मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः। यदि वा कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामालयो येषां निन्द्य-जीविकोपगतानां ते कुलालयाः।—सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४००

८३१—दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो नृप (शासक) एक भी कुशील ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह अन्धकारयुक्त नरक में जाता है, फिर देवों (देवलोकों) में जाने की तो बात ही क्या है?

विवेचन—पशुवध समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन : शंका-समाधान—प्रस्तुत तीन सूत्र गाथाओं में आर्द्रक कुमार के समक्ष ब्राह्मणों के द्वारा प्रस्तुत मन्तव्य एवं आर्द्रक-कुमार द्वारा किया गया उसका प्रतिवाद अंकित है।

ब्राह्मण-मन्तव्य—'प्रतिदिन दो हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला पुण्यशाली व्यक्ति देव बनता है।'

आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—(१) बिल्ली जैसी वृत्ति वाले तथा मांसादि भोजन के लिए क्षत्रियादि कुलों में घूमने वाले दो हजार शील-विहीन ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराने वाला यजमान मांसलुब्धप्राणियों से परिपूर्ण अप्रतिष्ठान नरक में जाता है। जहाँ परमाधार्मिक नरकपालों द्वारा तीव्र यातना दी जाती है। (२) एक भी कुशील व्यक्ति को भोजन कराने वाला हिंसाप्रधान धर्म का प्रशंसक राजा तामस नरक में जाता है, देवलोक में जाने की बात कहाँ।[1]

ब्राह्मणों को भोज और नरकगमन का रहस्य—उस युग में ब्राह्मण यज्ञ-यागादि में पशुवध करने की प्रेरणा देते थे, और स्वयं भी प्रायः मांसभोजी थे। मांसभोजन आदि की प्राप्ति के लिए वे क्षत्रिय आदि कुलों में घूमा करते थे। आचार से भी शिथिल हो गए थे। इसलिए ऐसे दाम्भिक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले, मांसमय भोजन करने-कराने वाले व्यक्ति को नरकगामी बताया है। मनुस्मृति आदि वैदिक धर्मग्रन्थों में भी वैडालवृत्तिक हिंसाप्रेरक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले तथा करने वाले दोनों को नरकगामी बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसे कुमार्गप्ररूपक पशुवधादिप्रेरक ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल नरकगति बताया है।[2]

सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा—

८३२—दुहतो वि धम्मम्मि समुट्ठिया मो, अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं।
आयारसीले वुइए[ऽ]ह नाणे, ण संपरायंसि विसेसमत्थि ॥४६॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४०० का सारांश

२. (क) 'धर्मध्वजी सदालुब्धः छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालवृत्तिकः ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधिकः।
....ये बकव्रतिनो विप्राः ये च मार्जारलिंगिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे, तेन पापेन कर्मणा॥
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रेनावेदविदि धर्मवित्॥....''

—मनुस्मृति अ. ४, श्लोक ९५,९७,९८

(ख) 'ते हि भोजिता कुमार्गप्ररूपण—पशुवधादावेव कर्मोपचय-निबन्धनेऽशुभव्यापारे प्रवर्तन्ते, इत्यसत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेव।'—उत्तराध्ययन अ. १४, गा. १२ टीका

८३३—अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो सो, चंदो व्व ताराहिं समत्तरूवो ।।४७।।

८३२-८३३—(इसके पश्चात् सांख्यमतवादी एकदण्डीगण आर्द्रकमुनि से कहने लगे—) आप और हम दोनों ही धर्म में सम्यक् प्रकार से उत्थित—उद्यत हैं। (हम दोनों) भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालों में धर्म में भलीभांति स्थित हैं। (हम दोनों के मत में) आचारशील पुरुष को ही ज्ञानी कहा गया है। आपके और हमारे दर्शन में 'संसार' (सम्पराय) के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। (देखिये, आपके और हमारे मत की तुल्यता—) यह पुरुष (जीवात्मा) अव्यक्तरूप (मन और इद्रियों से अगोचर) है, तथा यह सर्वलोकव्यापी सनातन (नित्य) अक्षय एवं अव्यय है। यह जीवात्मा समस्त भूतों (प्राणियों) में सम्पूर्ण रूप से उसी तरह रहता है, जिस तरह चन्द्रमा समस्त तारागण के साथ सम्पूर्ण रूप से (सम्बन्धित) रहता है।

८३४—एवं न मिज्जंति न संसरंति, न माहणा खत्तिय वेस पेस्सा ।
कोडा य पक्खी य सिरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ।।४८।।

८३४—(आर्द्रक मुनि कहते हैं—) इस प्रकार (आत्मा को एकान्त नित्य एवं सर्वव्यापक) मानने पर (सुखी, दुःखी आदि भेदों की) संगति नहीं हो सकती और जीव का (अपने कर्मानुसार नाना गतियों में) संसरण (गमनागमन) भी सिद्ध नहीं हो सकता। और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य (शुद्र) रूप भेद ही सिद्ध हो सकते हैं। तथा कीट, पक्षी, सरीसृप (सर्प-आदि) इत्यादि योनियों की विविधता भी सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रकार मनुष्य, देवलोक के देव आदि सब गतियाँ भी सिद्ध नहीं होंगी।

८३५—लोयं अजाणित्तिह केवलेणं, कहेंति जे धम्ममजाणमाणा ।
नासेंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ।।४९।।

८३५—इस लोक को केवलज्ञान के द्वारा न जान कर (वस्तु के सत्यस्वरूप से) अनभिज्ञ जो व्यक्ति धर्म का उपदेश करते हैं, वे स्वयं नष्ट जीव अपने आप का और दूसरे का भी अपार तथा भयंकर (घोर) संसार में नाश कर देते हैं।

८३६—लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहेंति जे उ, तारेंति अप्पाण परं च तिण्णा ।।५०।।

८३६—परन्तु जो व्यक्ति समाधियुक्त हैं, वे (प्रज्ञ अथवा) पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा इस लोक को विविध प्रकार से यथावस्थित रूप से जान पाते हैं, वे ही समस्त (समग्र शुद्ध, सम्यक्) धर्म का प्रतिपादन करते हैं। वे स्वयं संसारसागर से पार हुए पुरुष दूसरों को भी (सदुपदेश देकर) संसार सागर से पार करते हैं।

८३७—जे गरहितं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मतीए, अहाउसो विप्परियासमेव ।।५१

८३७—इस लोक में जो व्यक्ति निन्दनीय स्थान का सेवन (निन्द्य आचारण) करते हैं, और जो साधक उत्तम आचरणों से युक्त हैं, उन दोनों के अनुष्ठानों (आचरणों) को असर्वज्ञ व्यक्ति अपनी बुद्धि (अपने मन या मत) से एक समान बतलाते हैं। अथवा हे आयुष्मन्! वे (शुभ आचरण करने वालों को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ आचरण करने वालों को शुभ आचरण करने वाले बताकर) विपरीतप्ररूपणा करते हैं।

विवेचन—सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में प्रारम्भ की दो गाथाओं में एकदण्डिकों द्वारा आर्द्रक मुनि को अपने मत में खींचने के उद्देश्य से सांख्य और जैनदर्शन की दोनों दर्शनों में प्रदर्शित की गई समानता की बातें अंकित की गई हैं, श्री आर्द्रक द्वारा तात्त्विक अन्तर के मुद्दे प्रस्तुत करके जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की की गई प्रस्थापना का शेष गाथाओं में उल्लेख है।

एकदण्डिकों द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष के मुद्दे—(१) यम-नियम रूप धर्म को दोनों ही मानते है, (२) हम और आप धर्म में स्थित हैं, (३) आचारशील (यमनियमादि का आचरणकर्ता) ही उत्कृष्ट ज्ञानी है (४) संसार का आविर्भाव तिरोभावात्मक स्वरूप जैनदर्शन के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त स्वरूप (अथवा द्रव्य) रूप नित्यपर्याय रूप से अनित्य रूप के समान ही है। (५) आत्मा अव्यक्त सर्वलोकव्यापी, नित्य अक्षय अव्यय, सर्वभूतों में सम्पूर्णतः व्याप्त है।

आर्द्रक द्वारा प्रदर्शित दोनों दर्शनों का तात्त्विक अन्तर—(१) धर्म को मानते हुए भी यदि उस धर्म का निरूपण अपूर्णज्ञानी करते हैं, तो वे स्वपर को संसार के गर्त में डालकर विनष्ट करते हैं। (२) सांख्यदर्शन में केवल २५ तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की मान्यता के कारण धर्माचरण रहित केवल तत्त्वज्ञान बघारने वाले तथा धर्माचरणयुक्त तत्त्वज्ञ, दोनों को समान माना जाता है, यह उचित नहीं। (३) सांख्य एकान्तवादी हैं, जैन अनेकान्तवादी। (४) आत्मा को सांख्य सर्वव्यापी मानते हैं, जैन मानते हैं—शरीरमात्रव्यापी। (५) आत्मा सांख्यमतानुसार कूटस्थ नित्य है, जैन मतानुसार कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य है। कूटस्थ नित्य या सर्वव्यापी आत्मा आकाशवत् कभी गति नहीं कर सकता, जबकि वह देव, नरक आदि गतियों में गमनागमन करता है, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई बालक, कोई युवक आदि अवस्थाभेद योनिभेद या जातिभेद वर्णभेद आदि कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं बन सकते। (६) सांख्यमान्य, संसार के नित्य स्वरूप को भी जैन दर्शन नहीं मानता, वह जगत् को उत्पाद-व्ययसहित ध्रौव्यस्वरूप मानता है। (७) जैन दर्शन केवलज्ञान के विना मोक्ष नहीं मानता, जबकि सांख्य २५ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से हीं मोक्ष मान लेता है और वे तत्त्व भी वास्तव में तत्त्व नहीं हैं।[1]

हस्तितापसों का विचित्र अहिंसामतः आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—

८३८—संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥५२॥

८३८—(अन्त में हस्तितापस आर्द्रकमुनि से कहते हैं—) हम लोग (अपनी तापसपरम्परा-

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०१ से ४०३ तक का सारांश

नुसार) शेष जीवों की दया के लिए वर्ष में एक बड़े हाथी को बाण से मार कर वर्ष भर उसके मांस से अपना जीवन-यापन करते हैं।

८३९—संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहे ण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥५३॥

८३९—(आर्द्र कमुनि सयुक्तिक प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—) जो पुरुष वर्षभर में भी एक (पंचेन्द्रिय) प्राणी को मारते हैं, वे भी दोषों से निवृत्त (रहित) नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर शेष जीवों (क्षेत्र और काल से दूर प्राणियों) के वध में प्रवृत्त (संलग्न) न होने के कारण थोड़े-से (स्वल्प) जीवों को हनन करने वाले गृहस्थ भी दोषरहित क्यों नहीं माने जाएँगे ?

८४०—संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंते समणव्वतेसु।
आयाहिते से पुरिसे अणज्जे, न तारिसा केवलिणो भवंति ॥५४॥

८४०—जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्षभर में एक-एक प्राणी (और वह भी पंचेन्द्रिय त्रस) को मारता है, उस पुरुष को अनार्य कहा गया है। ऐसे पुरुष केवलज्ञानी (केवलज्ञान सम्पन्न) नहीं हो पाते।

विवेचन—हस्तितापसों का अहिंसामत : आर्द्रकमुनि द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत तीन सूत्र-गाथाओं में से प्रथम गाथा में हस्तितापसों की जीवों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर हिंसा के अल्पत्व-बहुत्व की मान्यता अंकित की है, शेष दो गाथाओं में आर्द्र क मुनि द्वारा इस विचित्र मान्यता का निराकरण करके वास्तविक अहिंसा की आराधना का किया गया संकेत अंकित किया है।

हस्तितापसों की मान्यता—अधिक जीवों के वध से अधिक और अल्पसंख्यक जीवों के वध से अल्पहिंसा होती है। वे कहते हैं—कन्दमूल फल आदि खाने वाले, या अनाज खाने वाले साधक बहुत-से स्थावर जीवों तथा उनके आश्रित अनेक जंगम जीवों की हिंसा करते हैं। भिक्षाजीवी साधक भी भिक्षा के लिए घूमते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का उपमर्दन करते हैं, तथा भिक्षा की प्राप्ति-अप्राप्ति में उनका चित्त रागद्वेष से मलिन भी होता है, अतः हम इन सब प्रपंचों से दूर रह कर वर्ष में एक बार सिर्फ एक बड़े हाथी को मार लेते हैं, उसके मांस से वर्ष भर निर्वाह करते हैं। अतः हमारा धर्म श्रेष्ठ है।

अहिंसा की भ्रान्ति का निराकरण—आर्द्र कमुनि अहिंसा संबंधी उस भ्रान्ति का निराकरण दो तरह से करते हैं—(१) हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता के मापदण्ड का आधार मृत जीवों की संख्या नहीं है। अपितु उसका आधार प्राणी की चेतना, इन्द्रियाँ, मन, शरीर आदि का विकास एवं मारने वाले की तीव्र-मन्द मध्यम भावना तथा अहिंसाव्रती की किसी भी जीव को न मारने की भावना एवं तदनुसार क्रिया है। अतः जो हाथी जैसे विशालकाय, विकसित चेतनाशील पंचेन्द्रिय प्राणी को मारता है, वह कथमपि घोर हिंसा दोष से रहित नहीं माना जा सकता। (२) वर्षभर में एक महाकाय प्राणी का घात करके निर्वाह करने से सिर्फ एक प्राणी का घात नहीं, अपितु उस प्राणी के आश्रित रहने वाले तथा उसके मांस, रक्त, चर्बी आदि में रहने या उत्पन्न होने वाले अनेक स्थावर-त्रस जीवों का घात होता है। इसीलिए पंचेन्द्रिय जीव का वध करने वाले घोर हिंसक, अनार्य एवं

नरकगामी हैं। वे स्वपर अहितकारी सम्यग् ज्ञान से कोसों दूर हैं। अगर अल्प संख्या में जीवों का वध करने वाले को अहिंसा का आराधक कहा जाएगा, तब तो मर्यादित हिंसा करने वाला गृहस्थ भी हिंसादोष रहित माना जाने लगेगा (३) अहिंसा की पूर्ण आराधना ईर्यासमिति से युक्त भिक्षाचरी के ४२ दोषों से रहित भिक्षा द्वारा यथालाभ सन्तोषपूर्वक निर्वाह करने वाले सम्पूर्ण अहिंसा महाव्रती भिक्षुओं द्वारा ही हो सकती है।[1]

दुस्तर संसार समुद्र को पार करने का उपाय : रत्नत्रयरूप धर्म—

८४१—बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तातो।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जासि ॥५५॥
त्ति बेमि ॥

॥ अद्दइज्जं : छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

८४१—तत्त्वदर्शी केवलज्ञानी भगवान् की आज्ञा से इस समाधियुक्त (शान्तिमय) धर्म को अंगीकार करके तथा इस धर्म में सम्यक् प्रकार से सुस्थित होकर तीनों करणों से समस्त मिथ्यादर्शनों से विरक्ति रखता हुआ साधक अपनी और दूसरों की आत्मा का त्राता बनता है। अतः महादुस्तर समुद्र की तरह संसारसमुद्र को पार करने के लिए आदान-(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-) रूप धर्म का निरूपण एवं ग्रहण करना चाहिए।

॥ आर्द्रकीय : छठा अध्ययन समाप्त ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४०३-४०४ का सारांश

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु.) के सप्तम अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' या 'नालन्दकीय' है।

☐ इस अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' होने के दो कारण निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार बताते हैं (१) नालन्दा में इस अध्ययन का अर्थ प्रतिपादन होने के कारण, और (१) नालन्दा के निकटवर्ती उद्यान में यह घटना या चर्चा निष्पन्न होने के कारण।

☐ नालन्दा के समीप मनोरथ नामक उद्यान में भ. महावीर के पट्टशिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र की जो धर्मचर्चा हुई है, उसका वर्णन इस अध्ययन में होने से इसका नाम 'नालन्दीय' रखा गया है।

☐ नालन्दा उस युग में जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रसिद्ध (राजगृह की) उपनगरी थी।' 'नालन्दा' का अर्थ भी गौरवपूर्ण है—जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक आदि किसी भी भिक्षाचर के लिए दान का निषेध नहीं है। राजा, श्रेणिक तथा बड़े-बड़े सामन्त, श्रेष्ठी आदि नरेन्द्रों का निवास होने के कारण इसका नाम 'नारेन्द्र' भी प्रसिद्ध हुआ, जो मागधी उच्चारण के अनुसार 'नालेंद' और बाद में ह्रस्व के कारण नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने से नालंद हुआ। भगवान् महावीर के यहाँ १४ वर्षावास होने के कारण इस उपनगरी के अतिप्रसिद्ध होने के कारण भी इस अध्ययन का नाम 'नालन्दकीय' रखा जाना स्वाभाविक है।[१]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम धर्मचर्चास्थल बताने के लिए राजगृह, नालन्दा, श्रमणोपासक लेप गाथापति, उसके द्वारा निर्मित शेषद्रव्या उदकशाला तथा उसके निकटवर्ती हस्तियाम वनखण्ड, तदन्तवर्ती मनोरथ उद्यान का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी और उदक निर्ग्रन्थ की धर्मचर्चा का प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णन है। धर्मचर्चा मुख्यतया श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में है, जिसके मुख्य दो मुद्दे उदकनिर्ग्रन्थ की ओर से प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं —(१) श्रमणोपासक द्वारा ग्रहण किया जाने वाला त्रसवध प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है, उसका पालन सम्भव नहीं है; क्योंकि त्रस जीव मरकर स्थावर हो जाते हैं, और स्थावर जीव मरकर त्रस। ऐसी स्थिति में त्रसस्थावर का निश्चय करना कठिन होता है। इसलिए क्या त्रस के बदले 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग नहीं होगा? 'त्रसभूत' का अर्थ है—वर्त्तमान में जो जीव त्रस-पर्याय में है। उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान तथा (२) सभी त्रस यदि कदाचित् स्थावर हो जाएँगे तो श्रमणोपासक का त्रसवधप्रत्याख्यान निरर्थक एवं निर्विषय हो जाएगा।" श्री गौतम द्वारा अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा दोनों प्रश्नों का विस्तार से समाधान किया गया है। अन्त में उदक निर्ग्रन्थ भ. महावीर के चरणों में स्व-समर्पण करके पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लेते हैं। यह सब रोचक वर्णन है।[२]

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र संख्या ८४२ से प्रारम्भ होकर सू. सं. ८७३ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४०७ (ख) सूत्र कृ. निर्युक्ति गा. २०४,२०५

२. सूत्र कृ. मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजय जी) पृ. २३४ से २५८ तक

णालंदइज्जं : सत्तमं अज्झयणं

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक और उसकी विशेषताएँ—

८४२—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे जाव[1] पडिरूवे। तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं नालंदा नामं बाहिरिया होत्था अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव[2] पडिरूवा।

८४२—धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर महावीर के उस काल में तथा उस समय में (उस काल के विभाग विशेष में) राजगृह नाम का नगर था। वह ऋद्ध (धनसम्पत्ति से परिपूर्ण), स्तिमित (स्थिर-शासन युक्त अथवा स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित) तथा समृद्ध (धान्य, गृह, उद्यान तथा अन्य सुख-सामग्री से पूर्ण) था, यावत् बहुत ही सुन्दर था। (इसका समस्त वर्णन औपपातिक सूत्र के नगरी-वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए।)

उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग (ईशान कोण) में नालन्दा नाम की बाहिरिका—उपनगरी (अथवा पाडा या लघु ग्रामटिका) थी। वह अनेक-सैकड़ों भवनों से सुशोभित थी, यावत् (वह प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूव एवं) प्रतिरूप (अतिसुन्दर) थी।

८४३—तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेए नामं गाहावती होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डितपउरभत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूते बहुजणस्स अपरिभूते यावि होत्था। से णं लेए गाहावती समणोवासए यावि होत्था अभिगतजीवा-ऽजीवे जाव[3] विहरति।

८४३—उस नालन्दा नामक बाहिरिका (बाह्यप्रदेश) में लेप नामक एक गाथापति (गृहपति-गृहस्थ) रहता था, वह बड़ा ही धनाढ्य, दीप्त (तेजस्वी) और प्रसिद्ध था। वह विस्तीर्ण (विशाल)

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवे' तक 'राजगृहनगर' का शेष वर्णन औपपातिक सूत्र में वर्णित चम्पानगरी के वर्णन की तरह समझ लेना चाहिए।

२. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवा' तक का वर्णन यों समझना चाहिए—
'पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा'

३. लेप श्रमणोपासक का वर्णन प्रस्तुत प्रति में 'अभिगतजीवाजीवे' से आगे 'जाव विहरति' करके छोड़ दिया है, किन्तु वृत्तिकार शीलांकाचार्य के समक्ष इसी शास्त्र के क्रियास्थान अध्ययन के ७१५ वें सूत्र में वर्णित सारा पाठ था, इसलिए प्रस्तुत मूलार्थ में तदनुसार भावानुवाद किया गया है।

विपुल (अनेक) भवनों, शयन, आसन, यान (रथ, पालकी आदि) एवं वाहनों (घोड़े आदि सवारियों) से परिपूर्ण था। उसके पास प्रचुर धन सम्पत्ति व बहुत-सा सोना एवं चांदी थी। वह धनार्जन के उपायों (आयोगों) का ज्ञाता और अनेक प्रयोगों में कुशल था। उसके यहाँ से बहुत-सा आहार-पानी लोगों को वितरित किया (बांटा) जाता था। वह बहुत-से दासियों, दासों, गायों, भैंसों और भेड़-बकरियों का स्वामी था। तथा अनेक लोगों से भी पराभव नहीं पाता था (दबता नहीं था)।

वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ श्रमणों का उपासक) भी था। वह जीव-अजीव का ज्ञाता था। (पुण्य-पाप का तत्त्व उसे भलीभांति उपलब्ध हो गया था। वह आश्रव-संवर, वेदना, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के तत्त्वज्ञान में कुशल था। (वह उपासकदशांग सूत्र में वर्णित श्रमणोपासक की विशेषताओं से युक्त था)। वह देवगणों से सहायता नहीं लेता था, न ही देवगण उसे धर्म से विचलित करने में समर्थ थे। वह लेप श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंकारहित) था, अन्य दर्शनों की आकांक्षा या धर्माचरण की फलाकांक्षा से दूर था, उसे धर्माचरण के फल में कोई सन्देह न था, अथवा गुणी पुरुषों की निन्दा-जुगुप्सा से दूर रहता था। वह लब्धार्थ (निर्ग्रन्थप्रवचन-रूप या सूत्रचारित्ररूप धर्म के वस्तुतत्व को उपलब्ध कर चुका) था, वह गृहीतार्थ (मोक्ष-मार्ग रूप अर्थ स्वीकृत कर चुका) था, वह पृष्टार्थ (विद्वानों से पूछ कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुका) था, अतएव वह विनिश्चितार्थ (विशेष रूप से पूछ कर अर्थनिश्चय कर चुका) था। वह अभिगृहीतार्थ (चित्त में अर्थ की प्रतीति कर चुका) था। धर्म या निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुराग में उसकी हड्डियाँ और नसें (रगें) रंगी हुई थीं। (उससे धर्म के सम्बन्ध में कोई पूछता तो वह यही कहता था—) 'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त शेष सभी (दर्शन या धर्म लौकिक असर्वज्ञ कल्पित होने से) अनर्थरूप हैं। उसका स्फटिकसम निर्मल यश चारों ओर फैला हुआ था। उसके घर का मुख्यद्वार याचकों के लिए खुला रहता था। राजाओं के अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं था इतना वह (शील और अर्थ के सम्बन्ध में) विश्वस्त था। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण (आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्मचर्य एवं व्यापार से निवृत्तिरूप) पोषध का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ श्रावकधर्म का आचरण करता था। वह श्रमणों-निर्ग्रन्थों को तथाविध शास्त्रोक्त ४२ दोषों से रहित निर्दोष एषणीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप चतुर्विध के दान से प्रतिलाभित करता हुआ, बहुत से (यथागृहीत) शील (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, तथा हिंसादि से विरमणरूप अणुव्रत, तपश्चरण, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास आदि से) अपनी आत्मा को भावित करता हुआ धर्माचरण में रत रहता था।

८४४—तस्स णं लेयस्स गाहावतिस्स नालंदाए बाहिरियाए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव[1] पडिरूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था किण्हे, वण्णओ[2] वणसंडस्स।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पासादीया' से 'पडिरूवा' तक का पाठ यों समझना चाहिए—
"....दरिसणिज्जा, अभिरूवा।"

२. वनखण्ड के 'वर्णक' के लिए देखिये—औपपातिक सूत्र ३ में—
'से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे.......अभिरूवा पडिरूवा" तक पाठ।

८४४- उस लेप गाथापति की वहीं शेषद्रव्या नाम की एक उदक शाला थी, जो राजगृह की बाहिरिका नालन्दा के बाहर उत्तरपूर्व-दिशा में स्थित थी। वह उदकशाला (प्याऊ) अनेक प्रकार के सैकड़ों खंभों पर टिकी हुई, मनोरम एवं अतीव सुन्दर थी। उस शेषद्रव्या नामक उदकशाला के उत्तरपूर्व दिग्विभाग (ईशानकोण) में हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। वह वनखण्ड (सर्वत्र हराभरा होने से) कृष्णवर्ण-सा था। (इसका शेष वर्णन औपपातिक-सूत्र में किये हुए वनखण्ड के वर्णन के समान जान लेना चाहिए।)

विवेचन—नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक : उसकी विशेषताएँ—उसके द्वारा निर्मित उदक, शाला एवं वनखण्ड—प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर और तदन्तर्गत ईशानकोण में स्थित एक विशिष्ट उपनगरी नालन्दा का सजीव वर्णन किया गया है, वास्तव में राजगृह और नालन्दा भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध दोनों की तपोभूमि एवं साधना-भूमि रही हैं। राजगृह को श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के चौदह वर्षावासों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वहीं गणधर श्री गौतमस्वामी एवं उदकनिर्ग्रन्थ का संवाद हुआ है।

इसके पश्चात् नालन्दानिवासी गृहस्थ श्रमणोपासक 'लेप' की सम्यग्ज्ञान—दर्शन-चारित्र-सम्पदा का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। इस वर्णन पर से लेप श्रमणोपासक की निर्ग्रन्थप्रवचन पर दृढ श्रद्धा, धर्मदृढ़ता, आचारशीलता तथा सबके प्रति उदारता एवं गुणग्राहकता का परिचय मिलता है।

लेप श्रमणोपासक के द्वारा बनाई हुई उदकशाला का नाम 'शेषद्रव्या' रखने के पीछे भी उसकी अल्पारम्भी-अल्पपरिग्रही एवं असंग्रहीवृत्ति परिलक्षित होती है; क्योंकि लेप गृहपति ने आवासभवन के निर्माण के बाद बची हुई सामग्री (धनराशि आदि) से उस उदकशाला का निर्माण कराया था, उदकशाला के निकट ही एक वनखण्ड उसने ले लिया था, जिसका नाम 'हस्तियाम' था। महावीरशिष्य गणधर गौतम और पार्श्वापत्य उदकनिर्ग्रन्थ का संवादस्थल यही वनखण्ड रहा है। इसलिए शास्त्रकार को इन दोनों स्थलों का वर्णन करना आवश्यक था।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की जिज्ञासा : गणधरगौतम की समाधानतत्परता—

८४५—तंसि च णं गिहपदेसंसि भगवं गोतमे विहरति, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते पासावच्चिज्जे नियंठे मेतज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवं गोतमं एवं वदासी—आउसंतो गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो! अहासुतं अहादरिसियमेव वियागरेहि। सवायं[2] भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—अवियाइं आउसो! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०७-४०८ का सारांश

२. सवायं—'शोभनवाक् सवाया सा विद्यते यस्यः सद्वाचः। चूर्णि मू. पा. २३७ पृ.
'सह वादेन सवादः पृष्टः, सद्वाचं वा शोभनभारतीकं वा प्रश्नं पृष्टः।" —सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४०९
दोनों का भावार्थ 'मूलार्थ' में दिया जा चुका है।

८४५—उसी वनखंण्ड के गृहप्रदेश में (जहाँ घर बने हुए थे वहाँ) भगवान् गौतम गणधर (भगवान् महावीर के पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतम) ने (ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए) निवास (विहार) किया। (एक दिन) भगवान् गौतम उस वनखण्ड के अधोभाग में स्थित आराम (मनोरथ नामक उद्यान) में (अपने शिष्यसमुदाय सहित) विराजमान थे। इसी अवसर में मेदार्यगोत्रीय एवं भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का शिष्य-संतान निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र जहाँ भगवान् गौतम विराजमान थे, वहाँ उनके समीप आए। उन्होंने भगवान् गौतमस्वामी के पास आकर सविनय यों कहा—"आयुष्मन् गौतम! मुझे आप से कोई प्रदेश (शंकास्पदस्थल या प्रश्न) पूछना है, (उसके सम्बन्ध में) आपने जैसा सुना है, या निश्चित किया है, वैसा मुझे विशेषवाद (युक्ति) सहित कहें।" इस प्रकार विनम्र भाषा में पूछे जाने पर भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से यों कहा—"हे आयुष्मन्! आपका प्रश्न (पहले) सुन कर और उसके गुण-दोष का सम्यक् विचार करके यदि मैं जान जाऊंगा तो उत्तर दूंगा।

विवेचन—उदकनिर्ग्रन्थ की जिज्ञासा—गणधर गौतम की समाधान-तत्परता—गणधर गौतम के आवास-स्थान पर उदक निर्ग्रन्थ ने आकर कुछ प्रष्टव्यस्थल के सम्बन्ध में बताने के लिए उनसे निवेदन किया, तथा श्री गौतम स्वामी ने उसी सद्भाव से समाधान करने की तैयारी बताई, इसी का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यानविषयक शंका : गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान—

८४६—(१) सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—आउसंतो गोतमा! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुब्भागं पवयणं पवयमाणा गाहावति समणोवासगं एवं पच्चक्खावेंति—नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं। एवण्हं पच्चक्खंताणं दुपच्चक्खायं भवति, एवण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियं भवइ एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पइण्णं; कस्स णं तं हेउं? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं।

(२) एवण्हं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खातं भवति, एवण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवति, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पतिण्णं, णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावतीचोरग्गहण-विमोक्खणताए तसभूतेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं। एवमेव सति भासापरक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोभा वा परं पच्चक्खावेंति, अयं पि णो देसे किं णो णेआउए भवति, अवियाइं आउसो गोयमा! तुब्भं पि एवं एतं रोयति?

८४६—[१] वादसहित अथा सद्वचनपूर्वक उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् गौतम! कुमारपुत्र नाम के श्रमण निर्ग्रन्थ हैं, जो आपके प्रवचन का (के अनुसार) उपदेश-प्ररूपण करते हैं। जब कोई गृहस्थ श्रमणोपासक उनके समीप प्रत्याख्यान (नियम)

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०९ का सारांश

ग्रहण करने के लिए पहुँचता है तो वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—'राजा आदि के अभियोग (दबाव, या विवशीकरण) के सिवाय गाथापति-चोरविमोक्षण-न्याय से त्रस जीवों को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' परन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रत्याख्यान (नियम-ग्रहण) करते हैं, उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान (मिथ्याप्रत्याख्यान) हो जाता है; तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी दुष्प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि इस प्रकार से दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराने वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते (प्रतिज्ञा में अतिचार-दोष लगाते) हैं। प्रतिज्ञाभंग किस कारण से हो जाता है? (वह भी सुन लें;) (कारण यह है कि) सभी प्राणी संसरणशील (परिवर्तनशील-संसारी) हैं। (इस समय) जो स्थावर प्राणी हैं, वे भविष्य में त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तथा (इस समय) जो त्रसप्राणी हैं, वे भी (कर्मोदयवश समय पाकर) स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि) अनेक जीव स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं और त्रसकाय से छूट कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। (अतः) त्रसप्राणी जब स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, तब त्रसकाय के जीवों को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा किये उन पुरुषों द्वारा (स्थावर-काय में उत्पन्न होने से) वे जीव घात करने के योग्य (वध्य) हो जाते हैं।

[२] किन्तु जो (गृहस्थ श्रमणोपासक) इस प्रकार (आगे कहे जाने वाली रीति के अनुसार) प्रत्याख्यान करते हैं, उनका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है; तथा इस प्रकार से जो (श्रमण निर्ग्रन्थ) दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। वह प्रत्याख्यान इस प्रकार है—'राजा आदि के अभियोग को छोड़ कर (आगार रख कर) 'गाथापति चोरग्रहण विमोचन न्याय' से वर्तमान में त्रसभूत (त्रसपर्याय में परिणत) प्राणियों को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' इसी तरह 'त्रस' पद के बाद 'भूत' पद लगा देने से [भाषा में ऐसा पराक्रम (बल) आ जाता है कि उस (प्रत्याख्यान कर्ता) व्यक्ति का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।] ऐसे भाषा-पराक्रम के विद्यमान होने पर भी जो लोग क्रोध या लोभ के वश होकर दूसरे को ('त्रस' के आगे 'भूत' पद न जोड़ कर) प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा भंग करते हैं; ऐसा मेरा विचार है। क्या हमारा यह उपदेश (मन्तव्य) न्याय-संगत नहीं है? आयुष्मन् गौतम! क्या आपको भी हमारा यह मन्तव्य रुचिकर लगता है?

८४७—सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—नो खलु आउसो उदगा! अम्हं एयं एवं रोयति, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति नो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए, जेहिं वि अन्नेहिं पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणि वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं।

८४७—(इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ से सद्भावयुक्तवचन, या वाद (युक्ति या अनेकान्तवाद) सहित इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् उदक! हमें आपका इस प्रकार का ('त्रस' पद के आगे 'भूत' पद जोड़कर प्रत्याख्यान कराने का) यह मन्तव्य अच्छा नहीं लगता।

जो श्रमण या माहन इस प्रकार (आपके मन्तव्यानुसार) कहते हैं, उपदेश देते हैं या प्ररूपणा करते हैं, वे श्रमण या निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा (भाषासमितियुक्त वाणी) नहीं बोलते, अपितु वे अनुतापिनी (सन्ताप या पश्चात्ताप उत्पन्न करने वाली) भाषा बोलते हैं। वे लोग श्रमणों और श्रमणोपासकों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, तथा जो (श्रमण या श्रमणोपासक) प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के विषय में संयम (ग्रहण) करते-कराते हैं, उन पर भी वे दोषारोपण करते हैं। किस कारण से (वह मिथ्या दोषारोपण होता है)? (सुनिये,) समस्त प्राणी परिवर्तनशील (परस्पर जन्म संक्रमण-शील संसारी) होते हैं। त्रस प्राणी स्थावर के रूप में आते हैं, इसी प्रकार स्थावर जीव भी त्रस के रूप में आते हैं। (तात्पर्य यह है—) त्रस जीव त्रसकाय को छोड़कर (कर्मोदयवश) स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, तथा स्थावर जीव भी स्थावर काय का त्याग करके (कर्मोदयवश) त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। अतः जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वे त्रसजीवघात-प्रत्याख्यानी पुरुषों द्वारा हनन करने योग्य नहीं होते।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यान विषयक शंका एवं गौतम स्वामी का समाधान— प्रस्तुत सूत्रद्वय में से प्रथम सूत्र में उदक निर्ग्रन्थ द्वारा अपनी प्रत्याख्यानविषयक शंका तीन भागों में प्रस्तुत की गई है—

(१) अभियोगों का आगार रख कर जो श्रावक त्रसप्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करते हैं, वे कर्मवशात् उन त्रसजीवों के स्थावर जीव के रूप में उत्पन्न होने पर उनका वध करते हैं, ऐसी स्थिति में वे प्रतिज्ञाभंग करते हैं, उनका प्रत्याख्यान भी दुष्प्रत्याख्यान हो जाता है।

(२) उन गृहस्थ श्रमणोपासकों को उस प्रकार का प्रत्याख्यान कराना भी दुष्प्रत्याख्यान है, तथा वे साधक अपनी प्रतिज्ञा का भी अतिक्रमण करते हैं; जो उन श्रमणोपासकों को उस प्रकार से प्रत्याख्यान कराते हैं।

(३) मेरा मन्तव्य है कि 'त्रस' पद के आगे 'भूत' पद को जोड़ कर त्याग कराने से प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, और इस पद्धति से प्रत्याख्यान कराने वाला भी दोष का भागी नहीं होता। क्या यह प्रत्याख्यानपद्धति न्यायोचित एवं आपको रुचिकर नहीं है?

द्वितीय सूत्र में श्री गौतमस्वामी ने उदकनिर्ग्रन्थ की उपर्युक्त शंका का समाधान भी तीन भागों में किया है—

(१) आपकी प्रत्याख्यान पद्धति हमें पसन्द नहीं है। अरुचि के तीन कारण ध्वनित होते हैं—(१) 'भूत' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, पुनरुक्तिदोषयुक्त है, (२) 'भूत' शब्द सदृशार्थक होने से 'त्रससदृश' अर्थ होगा, जो अभीष्ट नहीं, और (३) भूतशब्द उपमार्थक होने से उसी अर्थ का बोधक होगा, जो निरर्थक है।

(२) इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले श्रमण यथार्थ भाषा नहीं बोलते, वे अनुतापिनी भाषा बोलते हैं, प्राणिहिंसा पर संयम करने-कराने वाले श्रमण—श्रमणोपासकों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं।

(३) श्रमणोपासक को उसी प्राणी को मारने का त्याग है, जो वर्तमान में 'त्रस' पर्याय में है, वह जीव भूतकाल में स्थावर रहा हो या वर्तमान में त्रस से स्थावर बन गया हो, उससे

उसका कोई वास्ता नहीं, न उससे उसका व्रतभंग होता है, क्योंकि कर्मवश पर्याय परिवर्तन होता रहता है।[1]

अभियोग—यहाँ अभियोग शब्द बलात् आज्ञा द्वारा या दबाव द्वारा विवश करने के संयोग (योग) के अर्थ में रूढ़ है। श्रावक को व्रत, प्रत्याख्यान, नियम या सम्यक्त्व ग्रहण करते समय इन छह अभियोगों का आगार (छूट) रखा जाता है, जैनागमों में ये छह अभियोग बताए गए हैं—(१) राजाभियोग, (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (३) देवाभियोग, (५) महत्तराभियोग, (६) आजीविकाभियोग। इसी विवशपरिस्थिति के आगार को छह-छंडी आगार भी कहते हैं।[2]

गृहपति-चोरविमोक्षण न्याय—एक राजा की आज्ञा थी, समस्त नागरिक शाम को ही नगर के बाहर आकर कौमुदीमहोत्सव में भाग लें। जो नगर में ही रह जाएगा, उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। एक वैश्य के छह पुत्र अपने कार्य की धुन में नगर के बाहर जाना भूल गए। सूर्यास्त होते ही नगर के सभी मुख्यद्वार बन्द कर दिये गए। प्रातःकाल वे छहों वैश्य पुत्र राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिये गए। राजा के द्वारा मृत्युदण्ड की घोषणा सुनकर वैश्य अत्यन्त चिन्तित हो उठा। राजा से उसने छहों पुत्रों को दण्डमुक्त करने का अनुरोध किया। जब राजा ऐसा करने को तैयार न हुआ तो उसने क्रमशः पांच, चार, तीन, दो और अन्त में वंश सुरक्षार्थ एक पुत्र को छोड़ देने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके एक पुत्र को छोड़ दिया। यह इस न्याय (दृष्टान्त) का स्वरूप है। दार्ष्टान्तिक यों है—वृद्धवैश्य अपने छहों पुत्रों को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था, किन्तु जब यह शक्य न हुआ तो अन्त में उसने एक पुत्र को ही छुड़ाकर संतोष माना, इसी तरह साधु सभी प्राणियों (षट्कायिक जीवों) को दण्ड देने का प्रत्याख्यान (त्याग) कराना चाहता है, उसकी इच्छा नहीं है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का हनन करे; किन्तु जब प्रत्याख्यानकर्त्ता व्यक्ति सभी प्राणियों का घात करना छोड़ना नहीं चाहता या छोड़ने में अपनी असमर्थता अनुभव करता है, तब साधु उससे जितना बन सके उतना ही त्याग कराता है। श्रावक अपनी परिस्थितिवश षट्काय के जीवों में से त्रसकायिक प्राणियों के घात का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है। इसलिए त्रसकायिक जीवों के दण्ड (घात) का (प्रत्याख्यान) करने वाला साधु स्थावर प्राणियों के घात का समर्थक नहीं होता।[2]

उदकनिर्ग्रन्थ की भाषा में दोष—श्री गौतमस्वामी ने त्रिविध भाषादोष की ओर उदकनिर्ग्रन्थ का ध्यान खींचा है—(१) ऐसी भाषा जिनपरम्परानुसारिणी तथा साधु के बोलने योग्य नहीं है, (२) 'त्रसभूत' पद का प्रयोग न करने वाले श्रमणों पर व्यर्थ ही प्रतिज्ञाभंग का दोषारोपण करते हैं, इससे आप उन श्रमणों एवं श्रमणोपासकों के हृदय में अनुताप पैदा करते हैं, (३) बल्कि उन पर कलंक लगा कर उन श्रमण व श्रमणोपासकों को उन-उन प्राणियों के प्रति संयम करने कराने से हतोत्साहित करते हैं, प्रत्याख्यान करने-कराने से रोकते हैं, प्राणिसंयम करने वालों को संशय में डालते हैं, उनमें बुद्धिभेद पैदा करते हैं।

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४१० से ४१२ तक का सारांश
   (ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २३८-२३९

२. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४११

पाठान्तर और व्याख्यान्तर—'कुमारपुत्तिया नाम समणा' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'कम्मारउत्तिया णाम समणोवासगा', व्याख्या यों है—जो कर्म (शिल्प) करता है, वह कर्मकार (शिल्पी) है, कर्मकार के पुत्र कर्मकारपुत्र और कर्मकारपुत्र की संतान कर्मकारपुत्रीय हैं, इस नाम के श्रमणोपासक।

'अणुताविय' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर 'अणुगामियं' है, जिसका अर्थ होता है—'संसारानुगामिनी'। 'णो देसे....' के बदले पाठान्तर—'णो उवएसे' है, अर्थ होता है—देश का अर्थ उपदेश है या दृष्टि है। 'णेयाउओ'—मोक्ष के प्रति ले जाने वाला या न्याययुक्त।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतमस्वामी द्वारा प्रदत्त सटीक उत्तर—

८४८—सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—कयरे खलु आउसंतो गोतमा! तुब्भे वयह तसपाणा तसा आउमण्णहा? सवायं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—आउसंतो उदगा! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा ते वयं वयामो तसा पाणा तसा पाणा, जे वयं वयामो तसा पाणा तसा पाणा, ते तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा, एते संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो! इमे भे सुप्पणीयतराए भवति तसभूता पाणा, तसभूता पाणा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवति—तसा पाणा तसा पाणा? भो एगमाउसो! पडिकोसह, एक्कं अभिणंदह, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८४८—(इसके पश्चात्) उदक पेढालपुत्र ने (वादसहित या) सद्भावयुक्त वचनपूर्वक भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् गौतम! वे प्राणी कौन-से हैं, जिन्हें आप त्रस कहते हैं? आप त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हैं, या किसी दूसरे को?"

इस पर भगवान् गौतम ने भी सद्वचनपूर्वक (या सवाद) उदक पेढालपुत्र से कहा—"आयुष्मन् उदक! जिन प्राणियों को आप त्रसभूत कहते हैं, उन्हीं को हम त्रसप्राणी कहते हैं और हम जिन्हें त्रसप्राणी कहते हैं, उन्हीं को आप त्रसभूत कहते हैं। ये दोनों ही शब्द एकार्थक हैं। फिर क्या कारण है कि आप आयुष्मान् त्रसप्राणी को 'त्रसभूत' कहना युक्तियुक्त (शुद्ध या सुप्रणीततर) समझते हैं, और त्रसप्राणी को 'त्रस' कहना युक्तिसंगत (शुद्ध सुप्रणीततर) नहीं समझते; जबकि दोनों समानार्थक हैं। ऐसा करके आप एक पक्ष की निन्दा करते हैं और एक पक्ष का अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं। अतः आपका यह (पूर्वोक्त) भेद न्यायसंगत नहीं है।

८४९—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—नो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति ४१० से ४१३ तक
   (ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ-२३८-२३९

लिसिस्सामो, ते एवं संखं सावेंति, ते एवं संखं ठवयंति, ते एवं संखं सोवाट्ठवयंति—नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तं पि तेसिं कुसलमेव भवति।

८४९—आगे भगवान् गौतमस्वामी नें उदक पेढालपुत्र से कहा—आयुष्मन् उदक ! जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो साधु के निकट आ कर उनसे पहले ही इस प्रकार कहते हैं—"भगवन् ! हम मुण्डित हो कर अर्थात्—समस्त प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृहत्याग करके आगार धर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने (दीक्षा लेने) में अभी समर्थ नहीं हैं, किन्तु हम क्रमशः साधुत्व (गोत्र) का अंगीकार करेंगे, अर्थात्—पहले हम स्थूल (त्रस) प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे, उसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात (सर्व सावद्य) का त्याग करेंगे। तदनुसार वे मन में ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार (छूट) रख कर गृहपति-चोर-विमोक्षणन्याय से त्रसप्राणियों को दण्ड देने का त्याग करते हैं। [प्रत्याख्यान कराने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण यह जान कर कि यह व्यक्ति समस्त सावद्यों को नहीं छोड़ता है, तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है, उसे त्रसप्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान कराते हैं।] वह (त्रस-प्राणिवध का) त्याग भी उन (श्रमणोपासकों) के लिए अच्छा (कुशलरूप) ही होता है।

८५०—तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेण कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगतं भवति, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवति, तसकायट्ठितीया ते ततो आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगतं भवति, थावराउं च णं पलिक्खीणं भवति, थावरकायट्ठितीया ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते ततो आउगं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया।

८५०—(द्वीन्द्रिय आदि) त्रस जीव भी त्रस सम्भारकृत कर्म (त्रसनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक) के कारण त्रस कहलाते हैं। और वे त्रसनामकर्म के कारण ही त्रसनाम धारण करते हैं। और जब उनकी त्रस की आयु परिक्षीण हो जाती है तथा त्रसकाय में स्थितिरूप (रहने का हेतुरूप) कर्म भी क्षीण हो जाता है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं; और त्रस का आयुष्य छोड़ कर वे स्थावरत्व को प्राप्त करते हैं। स्थावर (पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय) जीव भी स्थावरसम्भारकृत कर्म (स्थावरनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक—फलभोग) के कारण स्थावर कहलाते हैं; और वे स्थावर-नामकर्म के कारण ही स्थावरनाम धारण करते हैं और जब उनकी स्थावर की आयु परिक्षीण हो जाती है, तथा स्थावरकाय में उनकी स्थिति की अवधि पूर्ण हो जाती है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं। वहाँ से उस आयु (स्थावरायु) को छोड़ कर पुनः वे त्रसभाव को प्राप्त करते हैं। वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय (विशाल शरीर वाले) भी होते हैं और चिर-काल तक स्थिति वाले भी।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतम स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर— प्रस्तुत सूत्रत्रय में से प्रथम सूत्र में उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः एक ही प्रश्न दो पहलुओं से प्रस्तुत किया है—(१) त्रस किसे कहते हैं ? (२) त्रसप्राणी को ही या अन्य को ? शेष दोनों सूत्रों में श्री गौतम

स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर अंकित है—(१) जिसे आप 'त्रसभूत' कहते हैं, उसे ही हम त्रस कहते हैं। अथवा जिसे हम त्रस कहते हैं, उसे ही आप त्रसभूत कहते हैं। दोनों एकार्थक हैं। (२) अतः जो गृहस्थ अपनी शक्ति और परिस्थितिवश सिर्फ त्रसकायघात का प्रत्याख्यान करना चाहता है, और साधु जितने प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हो उतना ही अच्छा समझकर त्रस-प्राणिहिंसा का त्याग करता है। ऐसी स्थिति के उस साधु को शेष (स्थावर) प्राणियों के घात का अनुमोदक नहीं कहा जा सकता। (३) त्रस या स्थावर जो भी प्राणी एक दूसरी जाति में उत्पन्न होते हैं, वे अपने-अपने उदय प्राप्त नामकर्म का फल भोगने के लिए अपनी कायस्थिति, आयु आदि क्षीण होने पर कभी त्रसपर्याय को छोड़ कर स्थावरपर्याय में और कभी स्थावरपर्याय को छोड़कर त्रसपर्याय में आते हैं। इससे त्रसजीवों की हिंसा का त्याग किये हुए श्रावक का व्रतभंग नहीं होता।[1]

श्री गौतमस्वामी का स्पष्ट उत्तर—जो प्राणी वर्तमान में त्रसपर्याय में हैं, वे भले ही स्थावर-पर्याय में से आए हों, उनकी हिंसा का त्याग श्रावक करेगा। परन्तु जो त्रस से स्थावर हो गए हैं, उनकी तो पर्याय ही बदल गई है, उनकी हिंसा से श्रावक का उक्त व्रतभंग नहीं होता।[2]

त्रस ही क्यों और कहाँ तक—उदक निर्ग्रन्थ के 'त्रसभूत पद क्यों नहीं? तथा त्रस कहां तक कहा जाए?' इन प्रश्नों का उत्तर **'णामं च णं अब्भुवगतं भवति'** तथा **'तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवति'** इन दो वाक्यों में आ जाता है। प्रथम उत्तरवाक्य का आशय है—लौकिक और लोकोत्तर दोनों में त्रस नाम ही माना जाता है, त्रसभूत नहीं, तथा जहाँ तक त्रस का आयु (कर्म) क्षीण नहीं हुआ है, वह उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक एकभव की दृष्टि से सम्भव है, वहां तक वह त्रस ही रहता है, त्रस-आयु (कर्म) क्षीण होने पर अर्थात् त्रस की कायस्थिति समाप्त हो जाने पर उसकी त्रस-पर्याय बदल सकती है।[3]

उदक की आक्षेपात्मक शंका : गौतम का स्पष्ट समाधान—

८५१—सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—आउसंतो गोतमा! नत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं।

८५१—(पुनः) उदक पेढालपुत्र ने वाद (युक्ति) पूर्वक भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् गौतम! (मेरी समझ से) जीव की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जिसे दण्ड न दे कर श्रावक अपने एक भी प्राणी के प्राणतिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान को सफल कर सके! उसका कारण क्या है? (सुनिये) समस्त प्राणी परिवर्तनशील हैं, (इस कारण) कभी स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रसप्राणी स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४१२-४१३ का सारांश

२. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४१४ का तात्पर्य

३. सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४०-२४१

में) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड़ कर त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, और कभी त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं। अतः स्थावरकाय में उत्पन्न हुए सभी जीव उन (त्रसकाय-जीववध-त्यागी) श्रावकों के लिए घात के योग्य हो जाते हैं।

८५२—सवायं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वदासी—णो खलु आउसो! अस्माकं वत्तव्वएणं, तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जंमि समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जम्मि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५२—(इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से युक्तिपूर्वक (सवाद) इस प्रकार कहा—आयुष्मन् उदक! हमारे वक्तव्य (मन्तव्य) के अनुसार तो यह प्रश्न ही नहीं उठता (क्योंकि हमारा मन्तव्य यह है कि सबके सब त्रस एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं, ऐसा न कभी हुआ है, न होगा और न है।) आपके वक्तव्य (अनुप्रवाद) के अनुसार (यह प्रश्न उठ सकता है,) परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार थोड़ी देर के लिए मान लें कि सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जाएँगे तब) भी वह (एक) पर्याय (त्रसरूप) अवश्य है, जिसके रहते (त्रसघातत्यागी) श्रमणोपासक सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के घात (दण्ड देने) का त्याग सफल होता है। इसका कारण क्या है? (सुनिये,) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं, इसलिए त्रस प्राणी जैसे स्थावर के रूप उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्थावर प्राणी भी त्रस के रूप उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् वे सब त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तथैव कभी स्थावरकाय को छोड़ कर सबके सब त्रसकाय में भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः जब वे सब (स्थावरकाय को छोड़ कर एकमात्र) त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वह स्थान (समस्त त्रसकायीय प्राणिवर्ग) श्रावकों के घात-योग्य नहीं होता। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे विशालकाय भी होते हैं और चिरकाल तक की स्थिति वाले भी। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल सुप्रत्याख्यान होता है। तथा (आपके मन्तव्यानुसार उस समय) वे प्राणी (स्थावर) होते ही नहीं जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के घात से उपशान्त, (स्व-प्रत्याख्यान में) उपस्थित तथा (स्थूलहिंसा से) प्रतिविरत होता है। ऐसी स्थिति में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते हैं कि (जीवों का) एक भी पर्याय नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का एक भी प्राणी के प्राणातिपात (दण्ड देने) से विरतिरूप प्रत्याख्यान यथार्थ एवं सफल (सविषय) हो सके। अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है।

विवेचन—उदक की आक्षेपात्मक शंका; गौतम का स्पष्ट समाधान—प्रस्तुत सूत्रद्वय में से

प्रथम सूत्र में उदक के द्वारा प्रस्तुत आक्षेपात्मक शंका प्रस्तुत की गई है, द्वितीय सूत्र में श्री गौतम स्वामी का स्पष्ट एवं युक्तियुक्त समाधान अंकित है।

प्रत्याख्यान की निर्विषयता एवं निष्फलता का आक्षेप—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा किये गये आक्षेप का आशय यह है कि श्रावक के प्रत्याख्यान है त्रस जीवों के हनन का, परन्तु जब सभी त्रसजीव त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावरपर्याय में आ जाएँगे, तब उसका पूर्वोक्त प्रत्याख्यान निर्विषय एवं निरर्थक हो जाएगा। जैसे सभी नगर निवासियों के वनवासी हो जाने पर नगरनिवासी को न मारने की प्रतिज्ञा निर्विषय एवं निष्फल हो जाती है, वैसे ही सभी त्रसों के स्थावर हो जाने पर श्रावक की त्रसघात त्याग की प्रतिज्ञा भी निरर्थक एवं निर्विषय हो जाएगी। ऐसी स्थिति में एक भी त्रस पर्याय का प्राणी नहीं रहेगा, जिसे न मार कर श्रावक प्रत्याख्यान को सफल कर सके।[1]

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान—दो पहलुओं से दिया गया है—(१) ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है कि जगत् के सभी त्रस, स्थावर हो जाएँ, क्योंकि यह सिद्धान्त विरुद्ध है। (२) आपके मन्तव्यानुसार ऐसा मान भी लें तो जैसे सभी त्रस स्थावर हो जाते हैं, वैसे सभी स्थावर भी त्रस हो जाते हैं, इसलिए जब सभी स्थावर त्रस हो जाएँगे, तब श्रावक का त्रसवध-त्याग सर्वप्राणी-वधत्याग विषयक होने से सफल एवं सविषय हो जाएगा। क्योंकि तब संसार में एकमात्र त्रसजीव ही होंगे जिनके वध का त्याग श्रावक करता है। इसलिए आपका यह (निर्विषयता रूप) आक्षेप न्याय-संगत नहीं है।[2]

निर्ग्रन्थों के साथ श्रीगौतमस्वामी के संवाद—

८५३—भगवं च णं उदाहु—नियंठा खलु पुच्छियव्वा, आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति–जे इमे मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइया एसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूतिज्जित्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा। तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवति ? णेति। एवामेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे नो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहेमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवति, से एवमायाणह णियंठा !, सेवमायाणियव्वं।

८५३—भगवान् गौतम (इसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु) कहते हैं कि मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है—'आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं; वे इस प्रकार वचनबद्ध (प्रतिज्ञाबद्ध) होते हैं कि 'ये जो मुण्डित हो कर, गृह त्याग कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हैं, इनको आमरणान्त (मरणपर्यन्त) दण्ड देने (हनन करने) का मैं त्याग करता हूँ; परन्तु जो ये लोग गृहवास करते (गृहस्थ) हैं, उनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग मैं नहीं करता। (अब मैं पूछता हूँ कि उन प्रव्रजित श्रमणों

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४१५ का सारांश

२. वही, पत्रांक ४१६ का सारांश

में से कई श्रमण चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशों में विचरण करके क्या पुन: गृहवास कर (गृहस्थ बन) सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—"हाँ, वे पुन: गृहस्थ बन सकते हैं।'

भगवान् गौतम—"श्रमणों के घात का त्याग करने वाले उस प्रत्याख्यानी व्यक्ति का प्रत्याख्यान क्या उस गृहस्थ बने हुए (भूतपूर्व श्रमण) व्यक्ति का वध करने से भंग हो जाता है ?

निर्ग्रन्थ—"नहीं, यह बात सम्भव (शक्य) नहीं है, (अर्थात्—साधुत्व को छोड़ कर पुन: गृहवास स्वीकार करने वाले भूतपूर्व श्रमण का वध करने से पूर्वोक्त प्रत्याख्यानी का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता)।"

श्री गौतमस्वामी—इसी तरह श्रमणोपासक ने त्रस प्राणियों को दण्ड देने (वध करने) का त्याग किया है, स्थावर प्राणियों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया। इसलिए स्थावरकाय में वर्त्तमान (स्थावरकाय 'को प्राप्त भूतपूर्व त्रस) का वध करने से भी उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। निर्ग्रन्थो ! इसे इसी तरह समझो, इसे इसी तरह समझना चाहिए।

८५४—भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावती वा गाहावतिपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?, हंता, उवसंकमेज्जा। तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा निसम्म एवं वदेज्जा—[1]इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं [सं]-सुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा निसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहऽब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेइत्ता पाणाणं जाव सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वदेज्जा ? हंता वदेज्जा किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ? हंता कप्पंति। तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? हंता णिक्खित्ते। से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउप्पंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा। तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? णेति। सेज्जेसे जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स इदाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, परेणं अस्संजए

---

१. तुलना—इणमेव निग्गंथं पावयणं..........सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।"

—आवश्यक चूर्णि-प्रतिक्रमणाध्ययन-पृ० २४९

आरेणं संजते, इयाणिं अस्संजते, अस्संजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, से एवमायाणह णियंठा !, से एवमायाणितव्वं ।

८५४—भगवान् श्री गौतमस्वामी ने आगे कहा कि निर्ग्रन्थों से पूछना चाहिए कि "आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गृहपति या गृहपतिपुत्र उस प्रकार के उत्तम कुलों में जन्म ले कर धर्म-श्रवण के लिए साधुओं के पास आ सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे आ सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन उत्तमकुलोत्पन्न पुरुषों को धर्म का उपदेश करना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हें धर्मोपदेश किया जाना चाहिए ।'

श्री गौतमस्वामी—क्या वे उस (तथाप्रकार के) धर्म को सुन पर, उस पर विचार करके ऐसा कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) है, केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, परिपूर्ण है, सम्यक् प्रकार से शुद्ध है, न्याययुक्त है (या मोक्ष की ओर ले जाने वाला है) 'माया-निदान-मिथ्या-दर्शनरूपशल्य को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्तिमार्ग है, निर्याण (मुक्ति) मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, अवितथ (यथार्थ या मिथ्यात्वरहित) है, सन्देहरहित है, समस्त दुःखों को नष्ट करने का मार्ग है ; इस धर्म में स्थित हो कर अनेक जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, तथा समस्त दुःखों का अन्त करते हैं । अतः हम धर्म (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) की आज्ञा के अनुसार, इसके द्वारा विहित मार्गानुसार चलेंगे, स्थित (खड़े) होंगे, बैठेंगे, करवट बदलेंगे, भोजन करेंगे, तथा उठेंगे । उसके विधानानुसार घर बार आदि का त्याग कर संयमपालन के लिए अभ्युद्यत होंगे, तथा समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की रक्षा के लिए संयम धारण करेंगे । क्या वे इस प्रकार कह सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ वे ऐसा कह सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे पुरुष प्रव्रजित करने (दीक्षा देने) योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित करने योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे व्यक्ति मुण्डित करने योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ वे मुण्डित किये जाने योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे वैसे विचार वाले पुरुष (ग्रहणरूप एवं आसेवनारूप) शिक्षा देने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रंथ—'हाँ, वे शिक्षा देने के योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वैसे विचार वाले साधक महाव्रतारोपण (उपस्थापन) करने योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे उपस्थापन योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या प्रव्रजित होकर उन्होंने समस्त प्राणियों, तथा सर्वसत्त्वों को दण्ड देना (हनन करना) छोड़ दिया ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्होंने सर्वप्राणियों की हिंसा छोड़ दी ।'

श्री गौतमस्वामी—"वे इस प्रकार के दीक्षापर्याय (विहार) में विचरण करते हुए चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशों में विचरण कर क्या पुनः गृहस्थावास में जा सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे भूतपूर्व अनगार पुनः गृहस्थ बन जाने पर समस्त प्राणियों यावत् समस्त सत्त्वों को दण्ड देना (हनन करना) छोड़ देते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'नहीं ऐसा नहीं होता ; (अर्थात्—वे गृहस्थ बनकर समस्त प्राणियों को दण्ड देना नहीं छोड़ते, वल्कि दण्ड देना प्रारम्भ कर देते हैं)'।

श्री गौतमस्वामी—(देखो, निर्ग्रन्थो !) यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण पूर्व समस्त प्राणियों यावत् सत्त्वों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया था, यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने का त्याग किया था, एवं यह जीव अब भी वही है, जो इस समय पुनः गृहस्थभाव अंगीकर करके समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं है। वह पहले असंयमी था, बाद में संयमी हुआ और अब पुनः असंयमी हो गया है। असंयमी जीव समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने (हिंसा) का त्यागी नहीं होता। अतः वह पुरुष इस समय सम्पूर्ण प्राणियों यावत् समस्त सत्त्वों के दण्ड का त्यागी नहीं है। निर्ग्रन्थो ! इसे इसी प्रकार समझो, इसे इसी प्रकार समझना चाहिए।

८५५—भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छितव्वा—आउसंतो णियंठा ! इह खलु परिव्वाया वा परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा। किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे। ते चेव जाव उवट्ठावेत्तए। किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुज्जित्तए ? हंता कप्पंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तहेव जाव वएज्जा। ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुज्जित्तए ? नो तिणट्ठे समट्ठे, सेज्जेसे जीवे जे परेणं नो कप्पति संभुज्जित्तए, सेज्जे से जीवे जे आरेणं कप्पति संभुज्जित्तए, सेज्जे से जीवे जे इदाणिं णो कप्पति संभुज्जित्तए, परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इदाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पति समणाणं णिग्गंथाणं संभुज्जित्तए, सेवमायाणह णियंठा ? से एवमायाणितव्वं।

८५५—भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (पुनः) कहा—'मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है—"आयुष्मान् निर्ग्रन्थों ! (यह बताइए कि) इस लोक में परिव्राजक अथवा परिव्राजिकाएँ किन्हीं दूसरे तीर्थस्थानों (तीर्थायतनों) (में रह कर वहाँ) से चल कर धर्मश्रवण के लिए क्या निर्ग्रन्थ साधुओं के पास आ सकती हैं ?

निर्ग्रन्थ—'हाँ, आ सकती हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन व्यक्तियों को धर्मोपदेश देना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए।'

श्री गौतमस्वामी—"धर्मोपदेश सुन कर यदि उन्हें वैराग्य हो जाए तो क्या वे प्रव्रजित करने, मुण्डित करने, शिक्षा देने या महाव्रतारोहण (उपस्थापन) करने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित यावत् महाव्रतारोपण करने योग्य हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या दीक्षा ग्रहण किये हुए तथाप्रकार के (उन समान समाचारी वाले) व्यक्तियों के साथ साधु को साम्भोगिक (परस्पर वन्दना, आसन प्रदान, अभ्युत्थान, आहारादि का आदान-प्रदान इत्यादि) व्यवहार करने योग्य हैं ?'

निर्ग्रन्थ—'हाँ, करने योग्य है।'

श्री गौतमस्वामी—'वे दीक्षापालन करते हुए चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक देशों में भ्रमण करके क्या पुनः गृहवास में जा सकते हैं ?'

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं।

श्री गौतमस्वामी—साधुत्व छोड़ कर गृहस्थपर्याय में आए हुए वैसे व्यक्तियों के साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य है ?'

निर्ग्रन्थ—"नहीं, अब उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं रखा जा सकता।"

श्री गौतमस्वामी—आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! वह जीव तो वही है, जिसके साथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित नहीं होता, और यह वही जीव है, जिसके साथ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित (कल्पनीय) होता है, तथा यह वही जीव है, जिसने अब साधुत्व का पालन करना छोड़ दिया है, तब उसके साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य नहीं है। यह जीव पहले गृहस्थ था, तब अश्रमण था, बाद में श्रमण हो गया, और इस समय पुनः अश्रमण है। अश्रमण के साथ श्रमणनिर्ग्रन्थों को सांभोगिक व्यवहार रखना कल्पनीय (उचित) नहीं होता। निर्ग्रन्थो ! इसी तरह इसे (यथार्थ) जानो, और इसी तरह इसे जानना चाहिए।

विवेचन—निर्ग्रन्थों के साथ श्री गौतमस्वामी का संवाद—प्रस्तुत सूत्रत्रय में शास्त्रकार ने तीन दृष्टान्तात्मक संवाद प्रस्तुत किये हैं, जिनके द्वारा श्री गौतमस्वामी ने उदक आदि निर्ग्रन्थों को व्यावहारिक एवं धार्मिक दृष्टि से समझा कर तथा उन्हीं के मुख से स्वीकार करा कर त्रसकायवध-प्रत्याख्यानी श्रावक के प्रत्याख्यान से सम्बन्धित उनकी भ्रान्ति का निराकरण किया है। तीन दृष्टान्तात्मक संवाद संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम संवाद का निष्कर्ष**—कई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं—"जो घरबार छोड़ कर अनगार बनेंगे, उनको हमें दण्ड देने (घात करने) का आजीवन त्याग है।" किन्तु गृहत्यागी अनगार बन जाने के बाद यदि वे कालान्तर में पुनः गृहवास करते हैं, तो पूर्वोक्त प्रतिज्ञावान् मनुष्य यदि वर्त्तमान में गृहस्थपर्यायप्राप्त उस (भूतपूर्व अनगार) व्यक्ति को दण्ड देता है तो उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती, वैसे ही जो श्रमणोपासक त्रसवध का प्रत्याख्यान करता है, वह वर्तमान में स्थावर-पर्याय को प्राप्त (भूतपूर्व त्रस) प्राणी का वध करता है तो उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।

(२) **द्वितीय संवाद का निष्कर्ष**—कई गृहस्थ विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं। दीक्षा ग्रहण से पूर्व उन्होंने समस्त प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं किया था, दीक्षाग्रहण के बाद उन्होंने सर्वप्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान कर लिया, परन्तु कालान्तर में दीक्षा छोड़ कर पुनः गृहस्थावास में

लौट आने पर उनके समस्त प्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान नहीं रहता; इसी प्रकार जिस श्रमणोपासक के त्रसजीवों को हिंसा का प्रत्याख्यान है, उसके स्थावरपर्याय को प्राप्त जीवों का प्रत्याख्यान नहीं था, किन्तु जव वे जीव कर्मवशात् स्थावरपर्याय को छोड़ कर त्रसपर्याय में आ जाते हैं, तब वह उन वर्तमान में त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु जब वे ही त्रसजीव त्रसपर्याय को छोड़ कर पुनः कर्मवश स्थावरपर्याय में आ जाते हैं, तब उसके वह पूर्वोक्त प्रत्याख्यान नहीं रहता। वर्तमान में स्थावरपर्याय प्राप्त जीवों की हिंसा से उसका उक्त प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।

(३) तृतीय संवाद का निष्कर्ष—श्रमणदीक्षा ग्रहण करने से पूर्व परिव्राजक-परिव्राजिका-गण साधु के लिए सांभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं थे, श्रमणदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे साधु के लिए सांभोगिक व्यवहार-योग्य हो चुके; किन्तु कालान्तर में श्रमण—दीक्षा छोड़ कर पुनः गृहवास स्वीकार करने पर वे भूतपूर्व श्रामण्य-दीक्षित वर्तमान में गृहस्थपर्याय में होने से साधु के लिए सांभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं रहते, इसीप्रकार जो जीव स्थावरपर्याय को प्राप्त थे, वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नहीं थे, वाद में कर्मवशात् जव वे स्थावरपर्याय को छोड़ कर त्रसपर्याय में आ जाते हैं, तव वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य हो जाते हैं, किन्तु कालान्तर में यदि कर्मवशात् वे भूतपूर्व त्रस त्रसपर्याय को छोड़ कर पुनः स्थावरपर्याय में आ जाते हैं, तो श्रमणोपासक के लिए वे हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नहीं रहते। अर्थात्—उस समय वे जीव उसके प्रत्याख्यान के विषय नहीं रहते। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्याख्यान पर्याय की अपेक्षा से होता है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं। यानी आत्म (जीव) तो वही होता है किन्तु उस की पर्याय वदल जाती है। अतः श्रावक का प्रत्याख्यान वर्तमान त्रसपर्याय की अपेक्षा से है।[1]

दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण—

८५६—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसधं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो, एवं थूलगं मुसावादं थूलगं अदिण्णादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चाइक्खिस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि करेह वा कारावेह वा, तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो, ते अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदिपीढियाओ पच्चोरुभित्ता, ते तहा कालगता किं वत्तव्वं सिया? सम्मं कालगत त्ति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरागा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महयाओ० जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५६—भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (प्रकारान्तर से उदकनिर्ग्रन्थ को समझाने के लिए) कहा—"कई श्रमणोपासक वड़े शान्त होते हैं। वे साधु के सान्निध्य में आ कर सर्वप्रथम यह कहते

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४१८ का सारांश

हैं—(निर्ग्रन्थ गुरुवर!) हम मुण्डित हो कर गृहवास का त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं। हम तो चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक् अनुपालन (विधि के अनुसार पालन) करेंगे तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूलमैथुन, एवं स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। हम अपनी इच्छा का परिमाण करेंगे। हम ये प्रत्याख्यान दो करण (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं) एवं तीन योग (मन-वचन-काया) से करेंगे। (हम जब पौषधव्रत में होंगे, तब अपने कौटुम्बिकजनों से पहले से कहेंगे—) 'मेरे लिए कुछ भी (पचन-पाचन, स्नान, तेलमर्दन, विलेपन आदि आरम्भ) न करना और न ही कराना" तथा उस पौषध में (सर्वथा दुष्कर) अनुमति का भी प्रत्याख्यान करेंगे। पौषधस्थित वे श्रमणोपासक बिना खाए-पीए (आहारत्याग पौषध) तथा बिना स्नान किये (शरीरसत्कारत्याग पौषध) एवं आरामकुर्सी, पलंग, या पीठिका आदि से उतर कर (ब्रह्मचर्य-पौषध या व्यापारत्याग-पौषध कर के दर्भ के संस्तारक पर स्थित) (ऐसी स्थिति में सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करते हुए) यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण के विषय में क्या कहना होगा? यही कहना होगा कि वे अच्छी तरह से कालधर्म को प्राप्त हुए। देवलोक में उत्पत्ति होने से वे त्रस ही होते हैं। वे (प्राणधारण करने के कारण) प्राणी भी कहलाते हैं, वे (त्रसनामकर्म का उदय होने से) त्रस भी कहलाते हैं, (एक लाख योजन तक के शरीर की विक्रिया कर सकने के कारण) वे महाकाय भी होते हैं तथा (तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होने से) वे चिरस्थितिक भी होते हैं। वे प्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी थोड़े हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रमणोपासक महान् त्रसकायिकहिंसा से निवृत्त है। फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय कहते हैं। अतः आपका यह दर्शन (मन्तव्य) न्यायसंगत नहीं है।

८५७—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए,[1] णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूसणाभूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चाइक्खिस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि जाव आसंदिपेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया? समणा कालगता इति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयं पि भे देसे नो नेयाउए भवति।

८५७—(फिर) भगवान् गौतम स्वामी ने (उदक निर्ग्रन्थ से) कहा—कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते हैं, जो पहले से इस प्रकार कहते हैं कि हम मुण्डित हो कर गृहस्थावास को छोड़ कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में अभी समर्थ नहीं हैं, और न ही हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करने में समर्थ हैं। हम तो अन्तिम समय में (मृत्यु का समय आने पर) अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना-संथारा के सेवन से कर्मक्षय करने की

---

१. यहाँ इतना अधिक पाठ और पाठान्तर चूर्णि में है—"णो खलु वयं अणुव्वताइं मूलगुणे अणुपालेत्तए, णो खलु उत्तरगुणे. चाउद्दसट्ठमीसु पोसधं अणु. वयण्णं सम्मद्दंसणसारा अपच्छिममारणंतिय.··· अणवकंखेमाणा.... ।"

आराधना करते हुए आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) करके दीर्घकाल तक जीने की या शीघ्र ही मरने की आकांक्षा न करते हुए विचरण करेंगे। उस समय हम तीन करण और तीन योग से समस्त प्राणातिपात, समस्त मृषावाद, समस्त अदत्तादान, समस्त मैथुन और सर्वपरिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। (कौटुम्बिकजनों से हम इस प्रकार कहेंगे—) हमारे लिए (पचन-पाचनादि) कुछ भी आरम्भ मत करना, और न ही कराना।' उस संल्लेखनाव्रत में हम अनुमोदन का भी प्रत्याख्यान करेंगे। इस प्रकार संल्लेखनाव्रत में स्थित साधक बिना खाए-पीए, बिना स्नानादि किये, पलंग आदि आसन से उतर कर सम्यक् प्रकार से संल्लेखना की आराधना करते हुए कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण (काल) के विषय में क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि उन्होंने अच्छी भावनाओं में मृत्यु पाई है। (मर कर वे देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होंगे, जो कि त्रस हैं) वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय और चिरस्थिति वाले भी होते हैं, इन (त्रसप्राणियों) की संख्या भी बहुत है, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक करता है, किन्तु वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान वह नहीं करता है। ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक महान् त्रसकायिक हिंसा से निवृत्त है, फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं। अतः आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

८५८—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते; ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते चइत्ता भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, आदाणसो इती से महताउ० जं णं तुब्भे वयह जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५८—भगवान् श्री गौतमगणधर ने पुनः कहा—इस संसार में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बड़ी-बड़ी इच्छाओं (अपरिमित आकांक्षाओं) से युक्त होते हैं, तथा महारम्भी, महापरिग्रही एवं अधार्मिक होते हैं। यहाँ तक कि वे बड़ी कठिनता से प्रसन्न (सन्तुष्ट) किये जा सकते हैं। वे जीवनभर अधर्मानुसारी, अधर्मसेवी, अतिहिंसक, अधर्मनिष्ठ यावत् समस्त परिग्रहों से अनिवृत्त होते हैं। श्रमणोपासक ने इन (त्रस) प्राणियों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) अधार्मिक मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (एवं शरीर) का त्याग कर देते हैं, और अपने पापकर्म अपने साथ (परलोक में) ले जा कर दुर्गतिगामी होते हैं। (वह दुर्गति नरक या तिर्यञ्च है। अतः वे अधार्मिक नरक या तिर्यञ्चगति में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, तथा वे महाकाय और चिरस्थितिक (नरक में ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति तक होने से) भी कहलाते हैं। ऐसे त्रसप्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। उन (त्रस) प्राणियों को मारने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक व्रतग्रहण समय से लेकर मरण-पर्यन्त करता है। इस प्रकार से श्रमणोपासक उस महती त्रसप्राणिहिंसा से विरत हैं,

फिर भी आप श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं। आपका यह मन्तव्य न्याययुक्त नहीं है।

८५९—भगवं च णं उयाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुआ जाव सव्वाओ परिग्गहातो पडिविरया जावज्जीवाए जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते ततो भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८५९—भगवान् श्री गौतम आगे कहने लगे—इस विश्व में ऐसे भी शान्तिप्रधान मनुष्य होते हैं, जो आरम्भ एवं परिग्रह से सर्वथा रहित हैं, धार्मिक हैं, धर्म का अनुसरण करते हैं या धर्माचरण करने की अनुज्ञा देते हैं। वे सब प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से तीन करण; तीन योग से जीवनपर्यन्त विरत रहते हैं। उन प्राणियों (महाव्रती धर्मिष्ठ उच्च साधकों) को दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान किया है। वे (पूर्वोक्त धर्मिष्ठ उच्च साधक) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (देह) का त्याग करते हैं, फिर वे अपने पुण्य (शुभ) कर्मों को साथ लेकर स्वर्ग आदि सुगति को प्राप्त करते हैं, (वे उच्चसाधक श्रमणपर्याय में भी त्रस थे और अब देवादिपर्याय में भी त्रस हैं;) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, और महाकाय तथा (देवलोक में) चिरस्थितिक भी होते हैं। (उन्हें भी श्रमणोपासक दण्ड नहीं देता) अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है कि त्रस के सर्वथा अभाव के कारण श्रमणोपासक का उक्त व्रत-प्रत्याख्यान निर्विषय हो जाता है।

८६०—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८६०—भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (अपने सिद्धान्त को स्पष्ट समझाने के लिए आगे) कहा—'इस जगत् में ऐसे भी मानव हैं, जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ और परिग्रह वाले, धार्मिक, और धर्मानुसारी अथवा धर्माचरण की अनुज्ञा देने वाले होते हैं, वे धर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं, धर्माचरण ही उनका व्रत होता है, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, धर्म करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक, एक देश से विरत होते हैं, और एक देश से विरत नहीं होते, (अर्थात्—वे स्थूल प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करते हैं।) इन (पूर्वोक्त) अणुव्रती श्रमणोपासकों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से मरण-पर्यन्त किया होता है। वे (अणुव्रती) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (या देह) को छोड़ते हैं और अपने पुण्यकर्मों को साथ लेकर (परलोक में) सद्गति को प्राप्त करते हैं। (इस दृष्टि से वे पहले अणुव्रती मानव थे, तब भी त्रस थे और देवगति में अब देव बने, तब भी त्रस ही हुए) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस और महाकाय भी कहलाते हैं, तथा चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान त्रसजीवों की इतनी अधिक संख्या होने से निर्विषय नहीं है, आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

८६१—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं०—आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुइरहस्सिया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरता पाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वे अण्णे हंतव्वा जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्बिसाइं जाव उववत्तारो हवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८६१—भगवान् श्री गौतम ने फिर कहा—"इस विश्व में कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जो आरण्यक (वनवासी) होते हैं, आवसथिक (कुटी, झोंपड़ी आदि बना कर रहने वाले) होते हैं, ग्राम में जाकर किसी के निमंत्रण से भोजन करते हैं, कोई किसी गुप्त रहस्य के ज्ञाता होते हैं, अथवा किसी एकान्त स्थान में रह कर साधना करते हैं। श्रमणोपासक ऐसे आरण्यक आदि को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग, व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त करता है। वे (पूर्वोक्त आरण्यक आदि) न तो संयमी होते हैं और न ही समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त। वे प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से विरत नहीं होते। वे अपने मन से कल्पना करके लोगों को सच्ची-झूठी बात इस प्रकार कहते हैं—'मुझे नहीं मारना चाहिए, दूसरों को मारना चाहिए; हमें आज्ञा नहीं देनी चाहिए, परन्तु दूसरे प्राणियों को आज्ञा देनी चाहिए; हमें दास आदि बना कर नहीं रखना चाहिए, दूसरों को रखना चाहिए, इत्यादि।' इस प्रकार का उपदेश देने वाले ये लोग मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके (अज्ञानतप के प्रभाव से) किसी असुरसंज्ञकनिकाय में किल्विषी देव के रूप उत्पन्न होते हैं। (अथवा प्राणिहिंसा का उपदेश देने के कारण) वे यहाँ से शरीर छोड़ कर या तो वकरे की तरह तिर्यञ्च योनि में) मूक रूप में उत्पन्न होते हैं, या वे तामस जीव के रूप में नरकगति में) उत्पन्न होते हैं। (वे चाहे मनुष्य हों, देव हों या नारक, किसी भी अवस्था में त्रसरूप ही होते हैं (अतः वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी, वे महाकाय भी होते हैं और चिरस्थिति वाले भी। वे संख्या में भी बहुत होते हैं। इसलिए श्रमणोपासक का त्रसजीव को न मारने का प्रत्याख्यान निर्विषय है, आपका यह कथन न्याययुक्त नहीं है।'

८६२—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव णिक्खित्ते, ते पच्छामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, [ते] तसा वि [वुच्चंति], ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया, ते दीहाउया, ते बहुतरगा [पाणा] जेहिं समणोवासगस्स आयाण[सो] जाव णो णेयाउए भवति।

८६२—(इसके पश्चात्) भगवान् श्री गौतम ने कहा—'इस संसार में बहुत-से प्राणी दीर्घायु होते हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड (हिंसा) का प्रत्याख्यान करता है। इन प्राणियों की मृत्यु पहले ही हो जाती है, और वे यहाँ से मर कर परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; एवं वे महाकाय और चिरस्थितिक (दीर्घायु) होते हैं। वे प्राणी संख्या में भी बहुत होते हैं, इसलिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान इन प्राणियों की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिए श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है।

८६३—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया पाणा समाउआ जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव णिक्खित्ते, ते सममेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति ते, महाकाया, ते समाउया, ते बहुतरगा जाव णो णेयाउए भवति ।

८६३—भगवान् श्रीगौतमस्वामी ने (फिर) कहा—इस जगत् में बहुत-से प्राणी समायुष्क होते हैं, जिनको दण्ड देने (वध करने) का त्याग श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) प्राणी स्वयमेव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मर कर वे परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं और वे महाकाय भी होते हैं और समायुष्क भी। तथा ये प्राणी संख्या में बहुत होते हैं, इन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। अतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्यायसंगत नहीं है।

८६४—भगवं च णं—उदाहु—संतेगतिआ पाणा अप्पाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए डंडे जाव णिक्खित्ते, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते अप्पाउया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स पच्चक्खायं भवति, ते अप्पा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इती से महया जाव णो णेआउए भवति ।

८६४—भगवान् गौतमस्वामी ने (आगे) कहा—इस संसार में कई प्राणी अल्पायु होते हैं। श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त जिनको दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करता है। वे (पूर्वोक्त प्राणी अल्पायु होने के कारण) पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। मर कर वे परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय भी होते हैं और अल्पायु भी। जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान करता है, वे संख्या में बहुत हैं, जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता, वे संख्या में अल्प हैं। इस प्रकार श्रमणोपासक महान् त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त है, फिर भी, आप लोग उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बताते हैं, अतः आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

८६५—भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसधं अणुपालेत्तए णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं जाव विहरित्तए, वयं णं सामाइयं देसावकासियं पुरत्था पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं एत्ताव ताव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि ।

(१) तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते

पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंती, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(२) तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते चिरट्ठिइया जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(३) तत्थ जे ते आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तस-थावरपाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(४) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(५) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति ते पाणा वि जाव अयं पि भे णो णेयाउए भवति।

(६) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(७) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(८) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावर पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स [सुपच्चक्खायं भवति], ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(६) तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

८६५—(अन्त में) भगवान् गौतमस्वामी ने कहा—जगत् में कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो इस प्रकार (साधु के समक्ष) प्रतिज्ञावद्ध होते हैं—(गुरुदेव !) हम मुण्डित होकर घरबार छोड़ कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं, न हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का विधि अनुसार पालन करने में समर्थ हैं, और न ही हम अन्तिम समय में अपश्चिममारणान्तिक संलेखना-संथारा की आराधना करते हुए विचरण करने में समर्थ हैं । हम तो सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों को ग्रहण करेंगे, हम प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में (अमुक ग्राम, पर्वत, घर या कोस आदि तक के रूप में) गमनागमन की मर्यादा करके या देशावकाशिक मर्यादाओं को स्वीकार करके उस मर्यादा से वाहर के सर्वप्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दण्ड देना छोड़ देंगे । इस प्रकार हम समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के क्षेमंकर होंगे ।

(१) ऐसी स्थिति में (श्रमणोपासक के व्रतग्रहण के समय) स्वीकृत मर्यादा के (अन्दर) रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनको उसने अपने व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी (मृत्यु के समय) अपनी आयु (देह) को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर क्षेत्रों (प्रदेशों) में उत्पन्न होते हैं, तव भी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें (चरितार्थ हो कर) सुप्रत्याख्यान होता है । वे श्रावक की दिशामर्यादा से अन्दर के क्षेत्र में पहले भी त्रस थे, वाद में भी मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं) इसलिए वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक के पूर्वोक्त प्रत्याख्यान को निर्विषय वताना कथमपि न्याययुक्त नहीं है ।

(२) श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देना श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के समय से लेकर मरणपर्यन्त छोड़ दिया है; वे जब आयु (देह) को छोड़ देते हैं और पुनः श्रावक द्वारा गृहीत उसी मर्यादा के अन्दर वाले प्रदेश में स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं; जिनको श्रमणोपासक ने अर्थदण्ड (प्रयोजनवश हनन करने) का त्याग नहीं किया है, किन्तु उन्हें अनर्थ दण्ड (निरर्थक हनन) करने का त्याग किया है । अतः उन (स्थावरप्राणियों) को श्रमणोपासक अर्थ (प्रयोजन) वश दण्ड देता है, अनर्थ (निष्प्रयोजन) दण्ड नहीं देता । वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं । वे चिरस्थितिक भी होते हैं । अतः श्रावक का त्रसप्राणियों की हिंसा का और स्थावरप्राणियों की निरर्थक हिंसा का प्रत्याख्यान सविषय एवं सार्थक होते हुए भी उसे निर्विषय वताना न्यायोचित नही है ।

(३)—(श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के) अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग किया है; वे मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (देह) को छोड़ देते हैं, वहाँ से देह छोड़ कर वे (त्रसप्राणी) निर्धारित-मर्यादा

के बाहर के प्रदेश में, जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके उत्पन्न होते हैं, जिनमें से त्रस प्राणियों को तो श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर आमरणान्त दण्ड देने का और स्थावर प्राणियों को निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया होता है। अतः उन (त्रस-स्थावर) प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का (किया हुआ) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं यावत् चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं। अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है।

[४] (श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के) अन्दर वाले प्रदेश में जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनको प्रयोजनवश (सार्थक) दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड (अनर्थदण्ड) देने का त्याग किया है; वे स्थावरप्राणी वहाँ से अपनी आयु (देह) को छोड़ देते हैं, आयु छोड़ कर श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान कर रखा है, उन (त्रस-प्राणियों) में उत्पन्न होते हैं। तब उन (पूर्वजन्म में स्थावर और वर्तमान जन्म में त्रस) प्राणियों के विषय में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; यावत् चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः त्रस या स्थावर प्राणियों का अभाव मान कर श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

[५] श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको सार्थक दण्ड देने का त्याग श्रमणोपासक नहीं करता अपितु वह उन्हें निरर्थक दण्ड देने का त्याग करता है। वे प्राणी आयुष्य पूर्ण होने पर उस शरीर को छोड़ देते हैं; उस शरीर को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादित भूमि के अन्दर ही जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने सार्थक दण्ड देना नहीं छोड़ा है, किन्तु निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होता है। अतः इन प्राणियों के सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (सफल) होता है। वे प्राणी भी हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी हैं। अतः श्रमणोपासक के (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्याययुक्त नहीं है।

[६] श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिन की सार्थक हिंसा का त्याग नहीं किया, किन्तु निरर्थक हिंसा का त्याग किया है, वे स्थावर प्राणी वहां से आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़ कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं; जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरण तक त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं। अतः उनके सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का (पूर्वोक्तपद्धति से) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं। अतः श्रपणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है।

[७] श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि से बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिन को व्रतग्रहण-समय से मृत्युपर्यन्त श्रमणोपासक ने दण्ड देने का त्याग कर दिया है; वे प्राणी आयु-क्षीण होते ही शरीर छोड़ देते हैं, शरीर छोड़कर वे श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतारम्भ से लेकर आयुपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं। इन (पूर्वजन्म में त्रस या स्थावर, किन्तु इस जन्म में त्रस) प्राणियों के सम्बन्ध में (किया हुआ) श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। क्योंकि वे प्राणी

भी कहलाते हैं, त्रस भी तथा महाकाय भी एवं चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः आपके द्वारा श्रमणोपासक के उक्त प्रत्याख्यान पर निर्विषयता का आक्षेप न्यायसंगत नहीं है।

श्रमणोपासक द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण काल से लेकर मृत्युपर्यन्त त्याग किया है; वे प्राणी वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर छोड़ कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादित भूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु निष्प्रयोजन दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होते हैं। अतः उन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक द्वारा किया हुआ प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी हैं, यावत् दीर्घायु भी होते हैं। फिर भी आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है।

[९] श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त त्याग कर रखा है; वे प्राणी आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़ देते हैं। शरीर छोड़ कर वे उसी श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के बाहर ही जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण से मृत्युपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उन्हीं में पुनः उत्पन्न होते हैं। अतः उन प्राणियों को लेकर श्रमणोपासक द्वारा किया गया प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, यावत् चिरकाल तक स्थिति वाले भी हैं। ऐसी स्थिति में आपका यह कथन कथमपि न्याययुक्त नहीं कि श्रमणोपासक का (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान निर्विषय है।

८६६—भगवं च णं उदाहु—ण एतं भूयं ण एतं भव्वं ण एतं भविस्सं जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति तसा पाणा भविस्संति, अव्वोच्छिण्णेहिं तस-थावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवति।

८६६—(अन्त में) भगवान गौतम ने कहा—(उदक निर्ग्रन्थ!) भूतकाल में ऐसा कदापि नहीं हुआ, न वर्तमान में ऐसा होता है और न ही भविष्यकाल में ऐसा होगा कि त्रस-प्राणी सर्वथा उच्छिन्न (समाप्त) हो जाएँगे, और सब के सब प्राणी स्थावर हो जाएँगे, अथवा स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएँगे और वे सब के सब प्राणी त्रस हो जाएँगे। (ऐसी स्थिति में) त्रस और स्थावर प्राणियों को सर्वथा उच्छेद न होने पर भी आपका यह कथन कि कोई ऐसा पर्याय (जीव की अवस्था) नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (चरितार्थ एवं सफल) हो, यावत् आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

विवेचन—दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. ८५६ से ८६५ तक) में शास्त्रकार ने श्री गौतमस्वामी द्वारा प्रतिपादित विभिन्न पहलुओं से युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान की निर्विषयता के निराकरण एवं सविषयता की सिद्धि का निरूपण किया है।

इन दस सूत्रों में श्रमणोपासकों के दस प्रकार के प्रत्याख्यानों का क्रमशः उल्लेख

करके उस प्रत्याख्यान की कहाँ-कहाँ किस प्रकार सविषयता एवं सफलता है, उसका प्रतिपादन किया गया है।

(१) कई श्रमणोपासक पांच अणुव्रतों और प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करते हैं। वे समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करके देवलोक आदि सुगतियों में जाते हैं। त्रसवध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का उनके सम्बन्ध में किया गया हिंसा विषयक प्रत्याख्यान इहलोक और परलोक दोनों जगह सफल होता है, क्योंकि इस लोक में वे त्रस हैं ही, परलोक में भी त्रस होते हैं।

(२) कई श्रमणोपासक अन्तिम समय में संल्लेखना—संथारा करके पाँचों आश्रवों का सर्वथा प्रत्याख्यान करते हैं, वे भी मर कर सुगति में जाते हैं, दोनों जगह त्रस होने के नाते त्रस-वध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(३) कई मनुष्य महारम्भी-महापरिग्रही, तथा पांचों आश्रवों से अविरत होते हैं। वे भी मरकर नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाते हैं। दोनों जगह त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(४) कई मनुष्य निरारम्भी, निष्परिग्रही तथा पंचमहाव्रती होते हैं, वे भी यहाँ से आयुष्य छूटने पर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अतः दोनों जगह त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

[५] कई मनुष्य अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही तथा देशविरत श्रावक होते हैं। वे भी मरने के बाद स्व-कर्मानुसार सुगतिगामी होते हैं। अतः उभयत्र त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(६) कई मनुष्य आरण्यक, आश्रमवासी (कुटीवासी), ग्रामनिमन्त्रिक या राहस्यिक (एकान्तवासी या रहस्यज्ञ) होते हैं, वे अज्ञानतप आदि के कारण मरकर या तो किल्विषिक असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं या मूक, अन्ध या बधिर होते हैं, या अजावत् मूक पशु होते हैं। तीनों ही अवस्थाओं में वे त्रस ही रहते हैं। इस कारण श्रमणोपासक का त्रस-वध प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(७) कई प्राणी दीर्घायु होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस प्राणी एवं महाकाय तथा दीर्घायु बनते हैं तब उभयत्र त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थक-सविषय होता है।

(८) कई प्राणी समायुष्क होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस होते हैं, तब उभयत्र त्रस होने के कारण श्रणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थकसविषय होता है।

(९) कई प्राणी अल्पायु होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस होते हैं, तब भी उभयत्र त्रस होने से श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थक-सविषयक होता है।

(१०) कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो न तो पर्वतिथियों में परिपूर्ण पौषध कर सकते हैं, न ही संल्लेखना-संथारा की आराधना, वे श्रावक का सामाजिक, देशावकाशिक एवं दिशापरिमाण व्रत अंगीकार करके पूर्वादि दिशाओं में निर्धारित भूमि-मर्यादा से बाहर के समस्त त्रस-स्थावर

प्राणियों के वध से निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे श्रमणोपासक त्रसवध का तो सर्वत्र और स्थावर-वध का मर्यादित भूमि के बाहर सर्वथा प्रत्याख्यान करते हैं, किन्तु मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर जीवों का सार्थक दण्ड खुला रख कर उसके निरर्थक दण्ड का प्रत्याख्यान करते हैं, उनका युक्त प्रत्याख्यान निम्नोक्त ९ प्रकार के प्राणियों के विषय में सार्थक-सविषयक होता है—

(१) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, और मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं।

(२) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, किन्तु मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं।

(३) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, किन्तु मरकर उस मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं।

(४) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु उसी मर्यादित भूमि के अन्दर मरकर त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(५) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, और मरकर भी पुनः उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावरप्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(६) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(७) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते हैं, किन्तु मर कर मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसप्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(८) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते हैं, किन्तु मर कर मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(९) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस अथवा स्थावर प्राणी होते हैं, और मर कर पुनः उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस अथवा स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

प्रतिवाद का निष्कर्ष—(१) श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के इतने (पूर्वोक्त) सब प्राणी विषय होते हुए भी उसे निर्विषय कहना न्यायसंगत नहीं है, (२) तीन काल में भी सबके सब त्रस एक साथ नष्ट होकर स्थावर नहीं होते, और न ही स्थावर प्राणी तीन काल में कभी एक साथ नष्ट हो कर त्रस होते हैं, (३) त्रस और स्थावर प्राणियों का सर्वथा उच्छेद कदापि नहीं होता।[1]

इन सब पहलुओं से श्री गौतमस्वामी ने उदक निर्ग्रन्थ के द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान पर किये गए निर्विषयता के आक्षेप का सांगोपांग निराकरण करके उन्हें निरुत्तर करके स्वसिद्धान्त मानने को बाध्य कर दिया है।[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४२० से ४२४ तक का सारांश।

२. "एवं सो उदओ अणगारो जावे भगवता गोतमेण बहूहिं हेतुहिं निरुत्तो कतो.......।"

—सूत्र कृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २५४

भगवं च णं उदाहु—'भगवान्' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने गौतमस्वामीपरक किया है, जबकि चूर्णिकार ने 'भगवान्' का अर्थ—'तीर्थंकर' किया है। और 'च' शब्द से उनके शिष्य तथा अन्य तीर्थंकर समझ लेना चाहिए। 'उदाहु' से अभिप्राय है—श्रावक दो प्रकार के होते हैं—साभिग्रह और निरभिग्रह। यहाँ 'साभिग्रह' श्रावक की अपेक्षा से कहा गया है।[1]

'मा खलु मम अट्ठाए……तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो' का तात्पर्य चूर्णिकार के अनुसार यह है—'मेरे लिए कुछ भी रांधना, पकाना, स्नान, उपमर्दन, विलेपन आदि मत करना, यह बात अपनी पत्नी या अन्य महिला आदि से कहता है। तथा गृहप्रमुख महिला दासियों या रसोई बनाने वाले रसोइयों से ऐसा संदेश देने को कहती है—मत कराना। अथवा सामायिक में स्थित व्यक्ति द्वारा जो अकर्त्तव्य है, उसका भी प्रत्याख्यान करेंगे।[2]

'ते तहा कालगता…… सम्मं……वत्तव्वं सिया' का तात्पर्य—चूर्णिकार के अनुसार इस प्रकार है—वे वैसी पोषधव्रत की स्थिति में शीघ्र प्रभावकारी किसी व्याधि या रोगाक्रमण से, उदरशूल आदि से अथवा सर्पदंश से, अथवा सर्वपौषध में भयंकर तूफान—झंझावात आदि से, या व्याघ्रादि के आक्रमण से, या दीवार के गिरने से कदाचित् कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो क्या कहा जाएगा? यही कहा जाएगा कि सम्यक् (समाधिपूर्वक) काल-मृत्यु को प्राप्त हुआ है; यह नहीं कहा जाएगा कि बालमरणपूर्वक मृत्यु हुई है।[3]

'त्रस बहुतर, स्थावर अल्पतर' का रहस्य—वृत्तिकार के अनुसार-उदक निर्ग्रन्थ के कथनानुसार सभी स्थावर जब त्रस के रूप में उत्पन्न हो जाएंगे, तब केवल त्रस ही संसार में रह जाएंगे, जिनके वध का श्रावक प्रत्याख्यान करता है, स्थावरप्राणियों का सर्वथा अभाव हो जाएगा। अल्प शब्द यहाँ अभाववाची है। इस दृष्टि से कहा गया है कि त्रस बहुसंख्यक हैं, स्थावर सर्वथा नहीं हैं, इसलिए श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।[4]

---

१. (क) 'भगवं' तित्थगरो, 'च' शब्देन शिष्याः, ये चान्ये तीर्थंकराः'

—सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४५।

(ख) भगवं च णं उदाहु—गौतमस्वाम्येवाह—सूत्रकृ. शी. वृत्ति,

२ (क) मा खलु मम अट्ठाए किंचि—रंधण-पयण-ण्हाणुम्मद्दण-विलेवणादि करेध महेलियं अण्णं वा भणति। कारवेहित्ति—इस्सरमहिला दासीण महाए सियाण वा संदेसगं देति। तत्थ वि पविस्सामो त्ति एवं पगारे संदेसए दातव्वे, अधवा यदन्यत् सामाइअकडेणाकर्त्तव्यं तत्थ वि पच्चक्खाणं करिस्सामो।'

—सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २४५

(ख) "मदर्थं पचनपाचनादिकं पौषधस्थस्य मम कृते मा कार्षीः, तथा परेण मा कारयत, तत्राऽपि अनुमतावपि सर्वथा यदसम्भवि तत् प्रत्याख्यास्यामः।"

—सूत्र कृ. शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४२०

३. जे पुण ते तथा पोसधिया चेव कालं करेज्ज, आसुक्कार गेलण्णेण सूलादिणा अहिडक्का य, णाणु पोसधकरणेण चेव दंडणिक्खेवो। एवं सव्वपोसधे विज्जणीवातादिएण वा वग्घादीए वा कुड्डपडणेण वा ते किं ति वत्तव्वा सम्मं कालगता, न बालमरणेनेत्यर्थः।

—सूत्रकृ. चूर्णि, (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४५

४. सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४१६

—सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि) पृ. २४६

कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदकनिर्ग्रन्थ का जीवनपरिवर्तन—

८६७—भगवं च णं उदाहु—आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चरित्तं पावाणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठति ।

८६७—(उदक निर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद) भगवान् गौतम स्वामी ने उनसे कहा—"आयुष्मन् उदक ! जो व्यक्ति श्रमण अथवा माहन की निन्दा करता है वह साधुओं के प्रति मैत्री रखता हुआ भी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को प्राप्त करके भी, हिंसादि पापों तथा तज्जनित पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत वह (पण्डितम्मन्य) अपने परलोक के विघात (पलिमंथ या विलोडन) के लिए उद्यत है । (इसके विपरीत) जो व्यक्ति श्रमण या माहन की निन्दा नहीं करता किन्तु उनके साथ अपनी परम मैत्री मानता है तथा ज्ञान प्राप्त करके, दर्शन प्राप्त कर एवं चारित्र पाकर पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत है, वह निश्चय ही अपने परलोक (सुगतिरूप या उसके कारणभूत सुसंयम-रूप) की विशुद्धि के लिए उद्यत (उत्थित) है ।

८६८—तते णं से उदगे पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं संपहारेत्थ गमणाए ।

८६८—(श्री गौतम स्वामी का तात्त्विक एवं यथार्थ कथन सुनने के) पश्चात् उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ भगवान् गौतम स्वामी को आदर दिये बिना ही जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में जाने के लिए तत्पर हो गये ।

८६९—भगवं च णं उदाहु—आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोयक्खेमपयं । लंभिते समाणे सो वि ताव तं आढाति परिजाणति वंदति नमंसति सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासति ।

८६९—(उदकनिर्ग्रन्थ की यह चेष्टा जान कर) भगवान् गौतम स्वामी ने (धर्मस्नेहपूर्वक) कहा—"आयुष्मन् उदक ! (श्रेष्ठ शिष्ट पुरुषों का परम्परागत आचार यह रहा कि) जो व्यक्ति (किसी भी) तथाभूत (सुचारित्र) श्रमण या माहन से एक भी आर्य (हेय तत्त्वों से दूर रखने वाला या संसारसागर से पार उतारने वाला) धार्मिक (एवं परिणाम में हितकर) सुवचन सुनकर उसे हृदयंगम करता है और अपनी सूक्ष्म (विश्लेषणकारिणी) प्रज्ञा से उसका भलीभांति निरीक्षण-परीक्षण (समीक्षण) करके (यह निश्चित कर लेता है) कि 'मुझे इस परमहितैषी पुरुष ने सर्वोत्तम (अनुत्तर) योग (अप्राप्त की प्राप्ति), क्षेम (प्राप्त का रक्षण) रूप पद को उपलब्ध कराया है,' (तब कृतज्ञता के नाते) वह (उपकृत व्यक्ति) भी उस (उपकारी तथा योगक्षेमपद के उपदेशक) का आदर करता है, उसे अपना उपकारी मानता है, उसे वन्दन—नमस्कार करता है, उसका सत्कार—सम्मान करता है, यहाँ तक कि वह उसे कल्याणरूप, मंगलरूप, देव रूप और चैत्यरूप मान कर उसकी पर्युपासना करता है ।

८७०—तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अणिगूढाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिसट्ठाणं अणिजूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहितं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसि णं भंते ! पदाणं एण्णिं जाणयाए सवणयाए बोहीए जाव उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं जहा णं तुब्भे वदह।

८७०—तत्पश्चात् (गौतम स्वामी के अमृतोपम उद्‌गार सुनने के पश्चात्) उदक निर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतम से कहा—"भगवन् ! मैंने ये (आप द्वारा निरूपित परमकल्याणकर योगक्षेमरूप) पद पहले कभी नहीं जाने थे, न ही सुने थे, न ही इन्हें समझे थे। मैंने इन्हें हृदयंगम नहीं किये, न इन्हें कभी देखे (स्वयंसाक्षात् उपलब्ध, थे, न दूसरे से) सुने थे, इन पदों को मैंने स्मरण नहीं किया था, ये पद मेरे लिए अभी तक अज्ञात थे, इनकी व्याख्या मैंने (गुरुमुख से) नहीं सुनी थी, ये पद मेरे लिए गूढ़ थे, ये पद निःसंशय रूप से मेरे द्वारा ज्ञात या निर्धारित न थे, न ही गुरु द्वारा (विस्तृत ग्रन्थ से संक्षेप में) उद्‌धृत थे, न ही इन पदों के अर्थ की धारणा किसी से की थी। इन पदों में निहित अर्थ पर मैंने श्रद्धा नहीं की, प्रतीति नहीं की, और रुचि नहीं की। भंते ! इन पदों को मैंने अब (आप से) जाना है, अभी आपसे सुना है, अभी समझा है, यहाँ तक कि अभी मैंने इन पदों में निहित अर्थ की धारणा की है या तथ्य निर्धारित किया है; अतएव अब मैं (आपके द्वारा कथित) इन (पदों में निहित) अर्थों में श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ। यह बात वैसी ही है, जैसी आप कहते हैं।"

८७१—तते णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—सद्दहाहि णं अज्जो !, पत्तियाहि णं अज्जो !, रोएहि णं अज्जो !, एवमेयं जहा णं अम्हे वदामो।

८७१—तदनन्तर (उदक निर्ग्रन्थ के शुद्धहृदय से निःसृत उद्‌गार तथा हृदयपरिवर्तन से प्रभावित) श्री भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहने लगे—आर्य उदक! जैसा हम कहते हैं, (वह मनःकल्पित नहीं, अपितु सर्वज्ञवचन है अतः) उस पर पूर्ण श्रद्धा रखो। आर्य ! उस पर प्रतीति रखो, आर्य ! वैसी ही रुचि करो।) आर्य! मैंने जैसा तुम्हें कहा है, वह (आप्तवचन होने से) वैसा ही (सत्य—तथ्य रूप) है।

८७२—तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

८७२—तत्पश्चात् (अपने हृदय परिवर्तन को क्रियान्वित करने की दृष्टि से) उदकनिर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतमस्वामी से कहा—"भंते! अब तो यही इच्छा होती है कि मैं आपके समक्ष चातुर्याम धर्म का त्याग करके प्रतिक्रमणसहित पंच महाव्रतरूप धर्म आपके समक्ष स्वीकार करके (आपका अभिन्न—आचार-विचार में समानधर्मा होकर) विचरण करूं।"

८७३—तए णं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—

इच्छामि णं भंते ! तुब्भ अंतियं चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि ।

तते णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति त्ति बेमि ।

॥ नालंदइज्जं : सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

॥ सूयगडंगसुत्तं : बीओ सुयक्खंधो सम्मत्तो ॥

॥ सूयगडंगसुत्तं सम्मत्तं ॥

८७३—इसके बाद (भ. महावीर की परम्परा में अपनी परम्परा के विलीनीकरण की बात सुन कर उदकनिर्ग्रन्थ की सरलता से प्रभावित) भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुंचे। भगवान् के पास पहुँचते ही उनसे प्रभावित उदक निर्ग्रन्थ ने स्वेच्छा से जीवन परिवर्तन करने हेतु श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, ऐसा करके फिर वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार के पश्चात इस प्रकार कहा—"भगवन् ! मैं आपके समक्ष चातुर्यामरूप धर्म का त्याग कर प्रतिक्रमणसहित पंच-महाव्रत वाले धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।"

इस पर भगवान् महावीर ने कहा "देवानुप्रिय उदक! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, परन्तु ऐसे शुभकार्य में प्रतिबन्ध (ढील या विलम्ब) न करो।"

तभी (परम्परा-परिवर्तन के लिए उद्यत) उदक ने (भगवान् की अनुमति पाकर) चातुर्याम धर्म से श्रमण भगवान् महावीर से सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म का, अंगीकार किया और (उनकी आज्ञा में) विचरण करने लगा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदकनिर्ग्रन्थ का जीवन परिवर्तन—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८६७ से ८७३ तक) में शास्त्रकार ने उदकनिर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद से लेकर उनके जीवनपरिवर्तन तक की कथा बहुत ही सुन्दर शब्दों में अंकित की है। उदकनिर्ग्रन्थ के जीवनपरिवर्तन तक की कथा में उतार-चढ़ाव की अनेक दशाओं का चित्रण किया गया है—

(१) श्री गौतम स्वामी द्वारा शिष्ट पुरुषों के परम्परागत आचार के सन्दर्भ में परमोपकारी श्रमण-माहन के प्रति वन्दनादि द्वारा कृतज्ञताप्रकाश की उदक निर्ग्रन्थ को स्पष्ट प्रेरणा।

(२) उदक निर्ग्रन्थ द्वारा श्री गौतमस्वामी के सयुक्तिक उत्तरों से प्रभावित होकर कृतज्ञता-प्रकाश के रूप में योगक्षेम पदों की अपूर्व प्राप्ति का स्वीकार तथा इन पदों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखने की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति।

(३) श्री गौतमस्वामी द्वारा इन सर्वज्ञकथित पदों की सत्यता पर, प्रतीति, रुचि रखने का उदक निर्ग्रन्थ को आत्मीयतापूर्वक परामर्श।

(४) उदक निर्ग्रन्थ का हृदयपरिवर्तन, तदनुसार उनके द्वारा चातुर्यामधर्म का विसर्जन करके सप्रतिक्रमणपंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रदर्शित करना।

(५) उदक की इस भव्य इच्छा की पूर्ति के लिए श्री गौतमस्वामी द्वारा उन्हें अपने साथ लेकर भगवान् महावीर स्वामी के निकट जाना।

(६) भगवान् महावीर के समक्ष वन्दन-नमस्कार आदि करके उदक द्वारा सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की अभिलाषा व्यक्त करना।

(७) भगवान् द्वारा स्वीकृति।

(८) उदक द्वारा पंचमहाव्रतरूप धर्म का अंगीकार और भगवान महावीर के शासन में विचरण।[1] गौतम स्वामी द्वारा उदक निर्ग्रन्थ को कृतज्ञताप्रकाश के लिए प्रेरित करने का कारण— चूर्णिकार के शब्दों में इस प्रकार है—इस प्रकार भगवान् के द्वारा बहुत-से हेतुओं द्वारा उदक अनगार निरुत्तर कर दिया गया था, तब अन्तर से तो जैसा इन्होंने कहा, वैसा ही (सत्य) है' इस प्रकार स्वीकार करते हुए भी वह बाहर से किसी प्रकार की कायिक या वाचिक चेष्टा से यह प्रकट नहीं कर रहे थे, 'आपने जैसा कहा, वैसा ही (सत्य) है,' वल्कि इससे विरक्त होकर दुविधा में पड़ गये थे। तब भगवान् गौतम ने उन्हें (कृतज्ञताप्रकाश के लिए) ऐसे (मूलपाठ में उक्त) उद्‌गार कहे।'[2]

॥ नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

॥ सूत्रकृतांग—द्वितीयश्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ॥

॥ सूत्रकृतांग सम्पूर्ण ॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२४ से ४२७ तक का सारांश।

२. एवं सो उदओ ···निरुत्तो कतो,····वाहिरं चेट्ठं ण पउंजत्ति ···वीरत्तेण दोण्हिक्को अच्छंति·· गोतमे उदगं एवं वदासि ।" —सूत्रकृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २५४।

सूत्रकृतांगसूत्र-द्वितीय श्रुतस्कन्ध

परिशिष्ट

- गाथाओं की अनुक्रमणिका
- विशिष्ट शब्दसूची

परिशिष्ट १

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्धान्तर्गत

गाथानामकारादिक्रम—

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्धागंत

विशिष्ट शब्दसूची

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४. गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पंचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि —मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ,मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१६. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२६-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१.	श्रीमान् सेठ मोहनमलजी चोरड़िया	अध्यक्ष	मद्रास
२.	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	श्रीमान् कँवरलालजी बैताला	उपाध्यक्ष	गोहाटी
४.	श्रीमान् दौलतराजजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५.	श्रीमान् रतनचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६.	श्रीमान् खूबचन्दजी गादिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
७.	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेड़ता सिटी
८.	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९.	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०.	श्रीमान् चाँदमलजी चौपड़ा	सहमन्त्री	ब्यावर
११.	श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२.	श्रीमान् गुमानमलजी चोरड़िया	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१३.	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१४.	श्रीमान् जी. सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१५.	श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया	सदस्य	बैंगलौर
१६.	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१७.	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१८.	श्रीमान् मांगीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
१९.	श्रीमान् माणकचन्दजी बैताला	सदस्य	बागलकोट
२०.	श्रीमान् भंवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१.	श्रीमान् भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२२.	श्रीमान् सुगनचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२३.	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२४.	श्रीमान् खींवराजजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२५.	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	भरतपुर
२६.	श्रीमान् भंवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२७.	श्रीमान् जालमसिंहजी मेड़तवाल	(परामर्शदाता)	ब्यावर

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
४. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
५. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
७. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
९. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
१०. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
३. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
५. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
६. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
८. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री एस. रिखबचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री आर. परसनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१२. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
१३. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
२. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा, पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
६. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
८. शी प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) एवं जाड़न
११. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तालेरा, पाली
१२. श्री नेमीचंदली मोहनलालजी ललवाणी, चांगाटोला
१३. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तालेरा, पाली
१४. श्री सिरेकँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम
१५. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१६. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
१७. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
१८. श्री भेरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, धोबड़ी तथा नागौर
१९. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
२०. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२१. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा

२२. श्री मोहनराजजी वालिया, अहमदाबाद
२३. श्री चेनमलजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, नागौर
२५. श्री बादलचंदजी मेहता, इन्दौर
२६. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२७. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
२८. श्री इन्दरचंदजी बैद, राजनांदगांव
२९. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगा-टोला
३०. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा मद्रास
३१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला
३२. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३३. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री घेवरचंदजी पुखराज जी, गोहाटी
३६. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, आगरा
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री गुणचंदजी दल्लीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
३९. श्री अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
४०. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
४१. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
४२. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४३. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४४. श्री जबरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कुप्पल
४६. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
२. श्री अमरचंदजी बालचंदजी मोदी, ब्यावर
३. श्री चम्पालालजी मीठालालजी सकलेचा, जालना
४. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
८. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
१०. श्री के. पुखराजजी बाफना, मद्रास
११. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
१२. श्री चम्पालालजी बुधराजजी बाफणा, ब्यावर
१३. श्री नथमलजी मोहनलाल लूणिया, चण्डावल
१४. श्री मांगीलाल प्रकाशचन्दजी रुणवाल, वर
१५. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१६. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१७. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
१९. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
२०. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
२१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडतासिटी
२२. श्री माणकराजजी किशनराजजी, मेडतासिटी
२३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
२४. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
२५. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
२६. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
२७. श्री हरकराजजी मेहता, जोधपुर
२८. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
२९. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३०. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
३१. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
३२. श्री मोहनलालजी चम्पालाल गोठी, जोधपुर
३३. श्री जसराजजी जंवरीलाल धारीवाल, जोधपुर
३४. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
३५. श्री आसुमल एण्ड कं०, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर

३७. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
३८. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
३९. श्री वच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
४०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
४१. श्री मिश्रीलालजी लिखमीचंदजी साँड, जोधपुर
४२. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
४३. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
४४. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
४५. श्री सरदारमल एन्ड कं., जोधपुर
४६. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
४७. श्री नेमीचंदजी डाकलिया, जोधपुर
४८. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
४९. श्री मुन्नीलालजी, मूलचंदजी, पुखराजजी गुलेच्छा, जोधपुर
५०. श्री सुन्दरबाई गोठी, महामन्दिर
५१. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा
५२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, महामंदिर
५३. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
५४. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
५५. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
५६. श्री भीकचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
५७. श्री सुगनचंदजी संचेती, राजनांदगाँव
५८. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गोलेच्छा, राज-नांदगाँव
५९. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
६०. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
६१. श्री ओखचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
६२. श्री भंवरलालजी मूथा, जयपुर
६३. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
६४. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई नं. ३
६५. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई नं. ३
६६. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई नं. ३
६७. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी, भिलाई नं. ३
६८. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुलि
६९. श्री प्रेमराजजी मिट्ठालालजी कामदार, चांवडिया
७०. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
७१. श्री भंवरलालजी नवरतनमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
७२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, लाम्बा
७३. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
७४. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
७५. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
७६. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७७. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
७८. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
७९. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
८०. श्री बालचंदजी थानमलजी भुरट (कुचेरा), कलकत्ता
८१. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
८२. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
८३. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
८४. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैरुंदा
८५. श्री माँगीलालजी मदनलालजी, चोरड़िया भैरुंदा
८६. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
८७. श्री भींवराजजी बागमार, कुचेरा
८८. श्री गंगारामजी इन्दरचंदजी बोहरा, कुचेरा
८९. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
९०. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
९१. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर (भरतपुर)
९२. श्री भंवरलालजी रिखवचंदजी नाहटा, नागौर
९३. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
९४. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
९५. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
९६. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
९७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया

९८. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
९९. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बुलारम
१००. श्री फतेराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
१०१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गोहाटी
१०२. श्री जुगराजजी वरमेचा, मद्रास
१०३. श्री कुशालचंदजी रिखवचंदजी सुराणा, बुलारम
१०४. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, नागौर
१०५. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०६. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भण्डारी, बैंगलोर
१०७. श्री रामप्रसन्न ज्ञान प्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
१०८. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०९. श्री अमरचंदजी चम्पालालजी छाजेड़, पादु वड़ी
११०. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल, हरसोलाव
१११. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
११२. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
११३. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी वेताला, डेह
११४. श्री कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
११५. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
११६. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री इन्दरचंदजी जुगराजजी बाफणा, बैंगलोर
११९. श्री चम्पालालजी माणकचंदजी सिंघी, कुचेरा
१२०. श्री संचालालजी बाफना, औरंगाबाद
१२१. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
१२२. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२३. श्रीमती रामकुंवर धर्मपत्नी श्रीचांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
१२४. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर), मद्रास
१२५. श्री जीतमलजी भंडारी, कलकत्ता
१२६. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़
१२७. श्री. टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२७. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२८. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२९. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१३०. श्री वर्द्धमान स्था. जैन श्रावक संघ बगड़ीनगर